हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों—प्राध्यापक और विद्यार्थी समाज को—पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विषय में प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध कराने तथा भारतीय काव्यशास्त्र के साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के तुलनात्मक विवेचन द्वारा काव्य के सार्वभौम सिद्धान्तों के अध्ययन के लिए व्यापक पीठिका तैयार करने के उद्देश्य से हमने एक विस्तृत योजना के अंतर्गत 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र ग्रंथमाला' के नाम से मानक पुस्तकें प्रकाशित की हैं। इस ग्रंथमाला के प्रधान सम्पादक भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् डॉ० नगेन्द्र हैं। ग्रंथमाला का पाठ्य-सामग्री, मुद्रण-स्तर तथा साजसज्जा की दृष्टि से सर्वत्र स्वागत हुआ है।

१. **वर्ड्सवर्थ और कोलरिज : समीक्षा-सिद्धान्त**
—डॉ० विक्रमादित्य राय

२. **आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड** —डॉ० रामसेवक सिंह

३. **टी० एस० इलियट के आलोचना-सिद्धान्त**
—डॉ० शिवमूर्ति पाण्डेय

४. **डॉ० सैमुएल जॉनसन : सिद्धान्त और समीक्षा**
—प्रो० रामचंद्र प्रसाद

५. **रंगकर्म** —वीरेन्द्र नारायण

हमें पूर्ण विश्वास है कि उपर्युक्त योजना के द्वारा हम हिन्दी-साहित्य और शिक्षा-जगत् की यत्किंचित् सेवा कर सकेंगे।

आलेख प्रकाशन, दिल्ली

संरचनात्मक शैलीविज्ञान
डॉ० रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव

संरचनात्मक शैलीविज्ञान

डॉ० रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव

H
408
Sh 86 S

प्रस्तुत ग्रंथ में शैलीविज्ञान के रूप में आलोचना सिद्धान्त, अध्ययन प्रणाली और विश्लेषण तकनीक का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत है। इधर शैलीविज्ञान को लेकर आलोचना के क्षेत्र में तूफानी विवाद-सा उठ गया है, पर इस पुस्तक में 'शैलीविज्ञान क्या है' के साथ-साथ 'शैलीविज्ञान क्या नहीं है' की विवेचना के आधार पर उसकी आधारभूत मान्यताओं का निर्भ्रान्त प्रतिपादन है।

भाषावैज्ञानिक शैलीविज्ञान, साहित्यिक शैलीविज्ञान, और संरचनात्मक शैलीविज्ञान के तीन अनुक्रमित स्तर की संकल्पना के आधार पर इस पुस्तक में शैलीविज्ञान की शक्ति और सीमाओं पर लेखक ने पहली बार प्रकाश डाला है। प्रस्तुत पुस्तक में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि वाच्य और वाचक के सर्जनात्मक सम्बन्धों की प्रकृति के आधार पर साहित्यिक कृति में निहित सौन्दर्योन्मुखी ऐन्द्रिक संवेगों का किस प्रकार शैलीविज्ञान अध्ययन और उद्घाटन करता है।

पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है—पहले खण्ड में संरचनात्मक शैलीविज्ञान को उसके सिद्धान्त, प्रणाली और तकनीक के आधार पर समझाने का प्रयत्न है। इसी खण्ड में कथासाहित्य की प्रतिपाद्य संरचना और दृष्टिशैली का मौलिक विवेचन भी है। दूसरे खण्ड में शैलीविज्ञान के विविध सन्दर्भों पर लिखे गये लेखों का संकलन है जो शैलीविज्ञान के प्रति फैले भ्रमजाल को दूर करने में सहायक है।

हिन्दी में शैलीविज्ञान के विषय पर उसके सिद्धान्त और अनुप्रयोग पर एक साथ प्रकाश डालने वाली पहली पुस्तक, जो काव्यवस्तु के परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूपों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की प्रकृति के आधार पर साहित्य के मर्म का उद्घाटन करती है।

साहित्य के विद्यार्थी और अध्यापक दोनों के लिए उपादेय।

रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव

जन्म : ९ जुलाई १९३६, बलिया (उत्तर प्रदेश)

शिक्षा : बी० एस-सी० और एल-एल० बी० के बाद एम० ए० (हिन्दी) और बाद में लेनिनग्राद विश्वविद्यालय द्वारा भाषाविज्ञान में पी-एच० डी० (१९६६), विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, शिक्षा मंत्रालय (भारत सरकार) और फ़ोर्ड फ़ाउंडेशन के अनुदान से भारत, सोवियत संघ और अमेरिका में उच्चस्तरीय शोधकार्य।

शिक्षण : १९६६-१९७२ भाषाविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली। १९७३-१९७५ प्रोफ़ेसर, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, दिल्ली। सम्प्रति : प्रोफ़ेसर तथा विभागाध्यक्ष, भाषाविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

भाषावैज्ञानिक के रूप में भारत तथा विदेशों में सम्मानित। सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान, ध्वनिविज्ञान, समाज भाषाविज्ञान और अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान के क्षेत्र में रूसी, अंग्रेज़ी और हिन्दी भाषा में प्रकाशित ५० से ऊपर लेख। भाषाशिक्षण के सन्दर्भ में यूनेस्को द्वारा आयोजित विशेषज्ञों की बैठक में भारत का दो बार प्रतिनिधित्व। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के भाषाविद् सम्मेलनों में कई बार योगदान।

प्रमुख कृतियाँ : देश-विदेश की मान्य पत्रिकाओं में प्रकाशित शोधलेखों और आधे दर्जन पुस्तकों के सम्पादन के अतिरिक्त निम्नलिखित प्रमुख रचनाएँ—'प्रगतिशील आलोचना', 'शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका', 'भाषाशिक्षण' और दो खण्डों में प्रकाशित 'इवैलुएटिंग कम्यूनिकेबिलिटी इन विलेज सेटिंग'।

संरचनात्मक शैलीविज्ञान

डॉ० रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव

Aalekh Prakashan, Delhi

आलेख प्रकाशन, दिल्ली

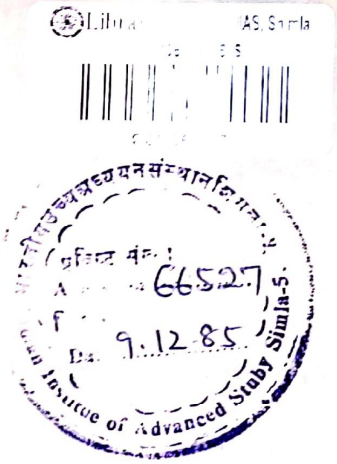
H
408
Sh86S

प्रकाशक : आलेख प्रकाशन, बी ८, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२
© डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव / प्रथम संस्करण : १९८० 1980
मूल्य : चालीस रुपये

SANRACHNATMAK SHAILIVIGYAN by Dr. R. N. Srivastava
Rs. 40.00

मेरी जीवनशैली की मातृभाषा
रोली/अल्पना
को
जो फूल से अधिक अब उसकी गमक है ।

दो शब्द

इधर शैलीविज्ञान के पक्ष-विपक्ष में देश-विदेश में काफ़ी कुछ लिखा गया है और आज भी काफ़ी कुछ लिखा जा रहा है। आशा तो यह थी कि विश्वविद्यालयों में पहुँचकर शोध के सहारे इस धारा की शक्ति और सीमाओं का न केवल सही मूल्यांकन संभव हो पायेगा वरन उसकी मूल संकल्पनाओं पर उचित प्रकाश भी पड़ेगा। पर डाक्टरेट की उपाधि के लिए स्वीकृत शोधग्रन्थों और वरिष्ठ अध्यापकों के लेखों और पुस्तकों पर एक बार नज़र डालने के बाद इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि या तो फ़ैशन के रूप में ग्रहण कर इसके समर्थकों ने अपनी वैयक्तिक सीमा को शैलीविज्ञान की सीमा मान ली है अथवा इस धारा की मूलभूत संकल्पना और प्रणाली को उचित सन्दर्भ में न देख पाने के कारण इसके समीक्षकों ने इसे एक ग़लत अध्यापकीय मोड़ देने की कोशिश की है। इसीका यह परिणाम है कि जहाँ एक प्रोफ़ेसर समीक्षक के मत में शैलीविज्ञान, विदेश से आयात किया हुआ एक भाषासिद्ध आलोचना सिद्धान्त है जो अपनी कोई जड़ भारतीय काव्यशास्त्र की धरती में नहीं फेंकता, वहीं एक दूसरे विद्वान की यह धारणा है कि शैलीविज्ञान की सभी आधारभूत मान्यताएँ भारतीय काव्यशास्त्र में न केवल उपलब्ध हैं वरन पूर्णतया विकसित रूप में सिद्ध भी हैं। इस स्थिति में आज यह आवश्यक हो गया है कि हम शैलीविज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष को सही सन्दर्भ में समझ लें ताकि न केवल इसको लेकर चलने वाली बहस को सही दिशा मिले बल्कि साहित्य-विश्लेषण की इस धारा की शक्ति और सीमा का भी पता चल सके।

शैलीविज्ञान का लक्ष्य वाच्य और वाचक के सम्बन्धों की प्रकृति के आधार पर कलाकृति में निहित सौन्दर्योन्मुखी ऐन्द्रिय संवेग का अध्ययन और उद्‌घाटन है। यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि शैलीवैज्ञानिक अध्ययन-विश्लेषण के तीन अनुक्रमित स्तर हैं—(१) कलासामग्री के अध्ययन का स्तर जो काव्यकृति का शुद्ध भाषावैज्ञानिक विश्लेषण करता है, (२) कलामाध्यम का स्तर जो काव्यकृति में निहित छन्दविन्यास, अर्थलय, बिम्ब, कथायोजना आदि का अध्ययन प्रस्तुत करता है, और (३) कलाप्रतीक का स्तर जो काव्यकृति की संरचना और उसमें आबद्ध काव्यसंसार का अध्ययन और उद्‌घाटन करता है। तदनुरूप शैलीवैज्ञानिक अध्ययन के तीन रूप देखने को मिलते हैं—वाक्यस्तर पर भाषिक प्रतीक के अध्ययन का प्रारूप अर्थात भाषावैज्ञानिक शैलीविज्ञान, साहित्यिक छवियों एवं मूर्तियों के रूप में भाषिक प्रतीक के अध्ययन का प्रारूप अर्थात् साहित्यिक शैलीविज्ञान और कलाकृति के रूप में भाषिक प्रतीक के अध्ययन का प्रारूप

अर्थात संरचनात्मक शैलीविज्ञान । अभी तक हिन्दी में शैलीविज्ञान के नाम पर जो पुस्तकें सामने आयी हैं वे सामान्यतः भाषावैज्ञानिक शैलीविज्ञान प्रारूप के उदाहरण हैं। एक-दो पुस्तकें साहित्यिक शैलीविज्ञान प्रारूप को भी स्पर्श करती हैं। पर अभी तक हिन्दी में संरचनात्मक शैलीविज्ञान प्रारूप को केन्द्र में रखकर आलोचना सिद्धान्त को विकसित नहीं किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक को इस दिशा में एक प्रयास माना जा सकता है।

शैलीविज्ञान के अपने विशिष्ट क्षेत्र के भीतर भाषाविज्ञान और प्रतीकविज्ञान अथवा प्रतीकविज्ञान और कलाशास्त्र एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी शास्त्र के रूप में सिद्ध नहीं रहते। वस्तुतः ये दोनों शास्त्र भिन्न धरातल एवं भिन्न आयाम पर कार्य करने के कारण एक ही काव्यवस्तु को दो भिन्न दृष्टियों के आधार पर विश्लेषित करते हैं। संरचनात्मक शैलीविज्ञान वस्तुतः इन दो भिन्न दृष्टियों के बीच न केवल सेतु का कार्य करता है वरन एक ऐसे क्षेत्र का निर्धारण भी करता है जो अपनी समन्वित दृष्टि के आधार पर दो भिन्न धरातलों एवं आयाम पर स्थित काव्यवस्तु में तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ है। सच तो यह है कि संरचनात्मक शैलीविज्ञान, काव्यसिद्धान्त का वह स्तर है जो सौन्दर्यचेतना के सूक्ष्म अर्थ के संसार और स्थूल ध्वनियों के भाषिक संसार को अनुबन्धित करता है और प्रकार्य एवं प्रयोजन के रूप में वह भाषा की संरचना, व्यवस्था और प्रतीक-योजना के आधार पर भाषेतर संसार को उद्भाषित करता है।

संरचनात्मक शैलीविज्ञान एक सर्जनात्मक आलोचना है। इसके दो निश्चित सन्दर्भ हैं। पहला सन्दर्भ काव्यवस्तु के परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूपों के बीच पाये जाने वाले शैलीगत सम्बन्धों की प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए साहित्य के मर्म को उद्-घाटित करता है। दूसरा सन्दर्भ विश्लेषण के बाद वाक्यप्रतीकों और कला में प्रतीकों का संश्लेषण करते हुए कलाप्रतीक के रूप में काव्यवस्तु का पुनः सृजन करता है।

पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है। पहले खण्ड में संरचनात्मक शैलीविज्ञान को उसके सिद्धान्त, प्रणाली और तकनीक के आधार पर समझने की दृष्टि है। इस खण्ड में एक समग्र दृष्टि के आधार पर शैलीवैज्ञानिक आलोचना के सन्दर्भ तथा शैली और शैलीविज्ञान की सैद्धान्तिक और प्रायोगिक संकल्पनाओं को संक्षेप में समझाने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही कथासाहित्य की प्रतिपाद्य संरचना और दृष्टि शैली का भी परिचय दिया गया है। अभी तक गद्य साहित्य की शैली-वैज्ञानिक व्याख्या के प्रारूप का समुचित विकास नहीं हो पाया है। एक-दो पुस्तकें और लेख देखने को मिलते तो हैं पर पाठविश्लेषण का न तो उनमें वैज्ञानिक आधार मिलता है और न ही संसक्ति तथा प्रोक्ति की संकल्पना का संरचनात्मक सन्दर्भ। प्रस्तुत खण्ड में कुछ चुने हुए पाठों के अध्ययन के सन्दर्भ में दृश्य और दृष्टिशैली के अध्ययनविधि पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे खण्ड में शैलीविज्ञान पर अन्यत्र प्रकाशित कुछ लेखों को संकलित कर दिया गया है। पहला निबन्ध

'आलोचना' पत्रिका के १९६७ के अप्रैल-जून अंक में प्रकाशित हुआ था। तब से आज तक के समय की दूरी को तय करता हुआ शैलीविज्ञान, अपने अध्ययन-प्रणाली में कई नये आयाम जोड़ चुका है। अतः इन निबन्धों के आधार पर उसके विकास की एक क्रमिक शृंखला को भी पहचाना जा सकता है। इन तीन निश्चित सन्दर्भ हैं। पहले संदर्भ में आने वाले निबन्ध, शैलीविज्ञान की भूमिका का काम करते हैं। दूसरे सन्दर्भ के निबन्ध एक ओर विश्लेषण का आयाम खोलते हैं और दूसरी ओर भारतीय काव्यशास्त्र की भाषिक चेतना की पीठिका से उसे सम्बद्ध करते हैं। तीसरे सन्दर्भ में वे निबन्ध हैं जो यह बताते हैं कि शैली-विज्ञान क्या नहीं है। आशा है, ये निबन्ध शैलीविज्ञान के प्रति फैले भ्रमजाल को कुछ अंश तक दूर करने में सहायक सिद्ध होंगे

पुस्तक के पहले खण्ड की रूपप्रकृति को एक विशेष दिशा दी है शैली-विज्ञान पर मेरी कक्षाओं में सक्रिय भाग लेने वाले प्रबुद्ध विद्यार्थियों ने। पढ़ते समय उठने वाली शंकाओं को कभी जिज्ञासा के रूप में रखकर और कभी चुनौती मानकर उन्होंने मुझे भी अपने चिन्तन पर पुनः विचार करने पर विवश किया है। ऐसे सभी विद्यार्थियों के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ जो पुस्तक में दी गयी मान्यताओं के पीछे प्रश्नचिह्न बनकर आज भी खड़े हैं। पुस्तक के प्रकाशन के समय डॉ० बीना श्रीवास्तव के प्रति भी आभार व्यक्त करना चाहूँगा जो शैली-विज्ञान-संबंधी लेखों की न केवल पहली पाठिका हैं बल्कि उसकी समीक्षक भी हैं। चिन्तन के कई रंग उनकी मान्यताओं से टकराकर उभरे हैं।

—रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

क्रम

खण्ड एक

शैलीविज्ञान : सिद्धान्त, प्रणाली और तकनीक १३-९७

१. शैलीविज्ञान आलोचना का सन्दर्भ १५-२८
१.१. आलोचना का केन्द्रक १५
१.२. शैलीविज्ञान का क्षेत्र १७
१.३. शैलीविज्ञान : कलाशास्त्र बनाम भाषाविज्ञान २०
१.४. शैलीवैज्ञानिक आलोचना की प्रकृति २३
१.५. शैलीवैज्ञानिक आलोचना का लक्ष्य २५
१.६. शैलीवैज्ञानिक व्याख्या : स्तरभेद २६

२. शैली की संकल्पना २८-४०
२.१. बहिर्निष्ठ और अन्तर्निष्ठ शैली २८
२.२. शैली और सम्प्रेषणीयता ३१
२.३. शैली और वाग्मिता ३४
२.४. शैली और विधा ३६
२.५. शैली की गत्यात्मकता ३८

३. शैलीविज्ञान की कुछ प्रायोगिक संकल्पनाएँ ४०-६५
३.१. संरचना/संघटना (स्ट्रक्चर) ४३
३.२. गठन/बुनावट (टेक्सचर) ४६
३.३. अग्रगामिता या पेशबन्दी (फ़ोर-ग्राउंडिंग) ४८
(क) सहेतुक विचलन (डिविएशन)
(ख) समानान्तरता (पैरेलेलिज़्म)
३.४. गद्यात्मक शक्ति ६१
३.५. विन्यासक्रमी और सहचारक्रमी सम्बन्ध ६३

४. कथानक विश्लेषण की प्रणाली ६५-७८
(i) विश्लेषण का वाक्यीय आधार
(क) वाक्यविश्लेषण का प्रारूप
(ख) कथानक और वाक्यविश्लेषण
(ii) मोटिफ़ और वृत्तिवाचकता
(क) विधेय-विधान का नियम
(ख) घटना पुनरावृत्ति का नियम
(ग) संकेतन सार्थकता का नियम
(घ) व्यतिरेकी पक्षपद का नियम
(iii) प्रतीक प्रक्रिया और सम्पृक्तार्थ

५. कथानक : प्रतिपाद्य संरचना और दृष्टिशैली ७८-९१
(क) पाठ, संदेश और उनका विश्लेषण
(ख) संसक्ति और उसके आयाम
(i) संदर्भपरक
(ii) प्रतीकात्मक
(iii) संरचनात्मक
(iv) संकेतार्थक
(v) शाब्दिक
५.१. पाठ निर्माण और संसक्ति ८०
५.२. प्रोक्ति और दृष्टिशैली ८६
(क) दृश्य अक्ष : काल और स्थान
(ख) दृष्टि अक्ष : भाव और वृत्ति
६. संरचनात्मक शैलीविज्ञान की सर्जनात्मकता ९१-९७
६.१. कलावस्तुमीमांसा : आस्वाद्यवस्तुमीमांसा ९६

खण्ड दो

शैलीवैज्ञानिक चिन्तन : विविध सन्दर्भ ९९-२६१

सन्दर्भ-१
१. साहित्यविश्लेषण का संघटनात्मक दृष्टिकोण १०१
२. भाषावैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नयी भूमिका ११९
३. काव्यभाषा और शैलीविज्ञान १३१

सन्दर्भ-२
४. शैलीविज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र १४५
५. आलोचना का भाषावादी दृष्टिकोण १७२
६. काव्यविश्लेषण और 'जीवनमर्म' १९८
७. शैलीविज्ञान और काव्यविश्लेषण २०६

सन्दर्भ-३
८. काव्यसंसार और शैलीविज्ञान २२०
९. संसर्गगत काव्यसंसार २२८
१०. शाब्दिक सौन्दर्य, काव्यवस्तु और शैलीविज्ञान २४४

परिशिष्ट
(१) सन्दर्भग्रन्थ सूची २६३
(२) पारिभाषिक शब्दावली २७७

खण्ड १

शैलीविज्ञान : सिद्धान्त, प्रणाली और तकनीक

१. शैलीवैज्ञानिक आलोचना का संदर्भ

साहित्य एक संश्लिष्ट प्रक्रिया का परिणाम होता है और साहित्यिक व्यापार एक जटिल प्रक्रिया की अपेक्षा रखता है। साहित्यिक कृति को केन्द्र में रखकर अगर हम साहित्यिक व्यापार पर अपनी दृष्टि डालते हैं तो उसके विविध सन्दर्भ हमें देखने को मिलते हैं। एक ओर उसका सन्दर्भ कवि और उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा का होता है तो दूसरी ओर उसका सन्दर्भ पाठक का संस्कार और भाव-जगत रहता है। इसी प्रकार अगर एक ओर सामाजिक परिवेश और नैतिक मूल्य उसके अध्ययन का सन्दर्भ बनते हैं तो दूसरी ओर जातीय परम्परा और सांस्कृतिक चेतना। परिणाम भी स्पष्ट है। साहित्य को समझने-समझाने की हमें अनेक दृष्टियाँ देखने को मिलती हैं जिसे हम साहित्य अध्ययन के विभिन्न सन्दर्भ अथवा आलोचना की विभिन्न दृष्टियों के रूप में देखते-समझते आये हैं; यथा, कविव्यापार को केन्द्र में रखकर चलने वाली मनोविज्ञानप्रधान आलोचना, पाठक के भाव एवं रस को केन्द्र में मानकर विकसित प्रभाववादी और रसवादी आलोचना, सामाजिक मूल्य की पक्षधर समाजपरक आलोचना, साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना पर प्रकाश डालने वाली साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आलोचना।

शैलीविज्ञान भी साहित्य को समझने-समझाने की एक दृष्टि है जो 'शैली' के साक्ष्य पर एक ओर साहित्यिक कृति की संरचना (स्ट्रक्चर) और गठन (टेक्सचर) पर प्रकाश डालती है और दूसरी ओर कृति का विश्लेषण करते हुए उसमें अन्तर्निहित 'साहित्यिकता' का उद्घाटन करती है। भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग और व्यंजक प्रभाव के रूप में 'शैली' को वह कलात्मक सौन्दर्य और भाषिक संरचना का सेतु मानती है और इसके अध्ययन-विश्लेषण के सहारे वह पाठक में साहित्य और कृति के बारे में समझदारी उत्पन्न करती है।

१. १. आलोचना का केन्द्रक

शैलीवैज्ञानिक आलोचना का सन्दर्भ न तो कवि अथवा उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा होती है और न ही पाठक और उसकी रसात्मक अनुभूति। इसी प्रकार उसके लिए न तो साहित्यिक कृति से बाहर स्थित सामाजिक परिवेश अथवा नैतिक मूल्य सन्दर्भ बनते हैं और न ही जातीय परम्परा और सांस्कृतिक चेतना। शैलीवैज्ञानिक आलोचना का सन्दर्भ स्वयं 'साहित्य' और 'साहित्यिक कृति' होता है। वह यह मानकर चलती है कि कवि या पाठक और सामाजिक परिवेश या नैतिक मूल्य साहित्येतर उपादान है और साहित्येतर होने के कारण वे साहित्य

को समझने-समझाने के लिए उचित सन्दर्भ नहीं प्रदान कर सकते। उसकी यह भी मान्यता है कि साहित्यिकता का केन्द्रक (फ़ोकस) स्वयं साहित्यिक कृति होती है अतः कवि, पाठक, समाज, इतिहास, संस्कृति आदि साहित्येतर सन्दर्भ उनके और साहित्य के बीच के सम्बन्ध का विश्लेषण या व्याख्या तो कर सकते हैं पर स्वयं साहित्यिक कृति के सौन्दर्य का उद्घाटन करने में असमर्थ हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शैलीविज्ञान अगर साहित्यिकता के केन्द्रक रूप में कृति की सत्ता स्वीकार करता है और कृति के अध्ययन-विश्लेषण के माध्यम से साहित्य के मूल तत्त्व को पकड़ना-समझना चाहता है तब क्या उसके लिए कवि, समाज, संस्कृति आदि साहित्येतर उपादानों का कोई मूल्य नहीं होता? क्या वह इनको नकारात्मक दृष्टि से देखता है? क्या साहित्यिक अध्ययन के लिए उसकी दृष्टि में इनका कोई महत्त्व नहीं होता?

शैलीवैज्ञानिक दृष्टि यह मानती है कि साहित्य और समाज के संश्लिष्ट सम्बन्धों को समझने के दो निश्चित आयाम हैं। पहला आयाम समाज में साहित्य के अस्तित्वबोध से सम्बद्ध होता है और दूसरा आयाम साहित्य में समाज की सत्ता से जुड़ा रहता है। अतः जब कभी समाज, संसार अथवा बाह्य जगत की बात उठायी जाती है—पहला सवाल उठता है काव्यकृति के बाहर का संसार या काव्यकृति के भीतर का संसार। काव्यकृति के बाहर का संसार अपने सन्दर्भों के आधार पर यह बताता है कि कौन-से साहित्यकार ने किस जातीय समाज के लिए, किस उद्देश्य से बाधित होकर किस स्थान और काल में काव्यकृति की रचना की। पर काव्यकृति के भीतर का संसार उस जीवित सन्दर्भ को उपस्थित करता है जिसके भीतर रहकर उसके पात्र क्रियाकलाप करते हैं, अपनी परिस्थितियों से टकराकर अपने व्यक्तित्व का उद्घाटन या विकास करते हैं और जीवन को समझने के लिए उसे एक ऐसे स्थान या काल के साथ बाँधते हैं जो साहित्यकार के अपने युग से एक ओर बँधा होने के कारण ठोस भी होता है और उससे मुक्त होकर समय और स्थान की सीमा का अतिक्रमण भी करता है। यही कारण है कि विभिन्न कालों और विभिन्न स्थानों पर रचित काव्यकृति काल और स्थान की सीमाओं को तोड़कर पढ़ी या समझी जा सकती है। हम जब कालिदास रचित 'शकुन्तला' अथवा तुलसीदास रचित 'रामचरितमानस' या शेक्सपियर रचित 'हैमलेट' अथवा तालस्ताय रचित 'युद्ध और शान्ति' आदि रचनाएँ पढ़ते और समझते हैं तब उनकी साहित्यिकता की पकड़ या समझ के लिए हम उन कृतियों में निहित संसार को ही अपना सन्दर्भ बनाते हैं। यह काव्यकृति के भीतर का ही सन्दर्भ है कि हम अज्ञात लेखकों की रचनाओं को भी पढ़ और समझ सकते हैं।

'समाज में साहित्य' और 'साहित्य में समाज'—निश्चित ही ये दोनों साहित्य और समाज के संश्लिष्ट सम्बन्धों को समझने के दो भिन्न सन्दर्भ देते हैं। 'समाज में साहित्य' का सन्दर्भ किसी कृति को एक सामाजिक घटना मानता है अतः उसके उपयोग की चर्चा उठा सकता है, और वह समाज को बदलने के लिए उसे एक

प्रभावशाली अस्त्र के रूप में अपना सकता है, किसी राजनीतिक विचारधारा के पक्ष अथवा विपक्ष के साक्ष्य के रूप में उसे पेश कर सकता है या सांस्कृतिक मूल्य के निर्माण के लिए माध्यम-रूप में ग्रहण कर सकता है। यह प्रवृत्ति उसे उपयोगवादी आलोचना के क्षेत्र के भीतर ले जाती है। ये सभी साहित्येतर सन्दर्भ आलोचना को उपयोग के सिद्धान्त से जोड़ने के पक्ष में हैं। साहित्य के उपयोगवादी ये आलोचना-सिद्धान्त कृति-विशेष को किसी सामाजिक विचारधारा के पोषक तत्त्व, सामाजिक स्थिति-विशेष के प्रामाणिक दस्तावेज, सांस्कृतिक चेतना की प्रकाशक उपलब्धि और साहित्यकार की निजी मान्यताओं की भाषिक अभिव्यक्ति के रूप में मानने के पक्ष में रहे हैं। शैलीविज्ञान, आलोचना के सन्दर्भ में ऐसे सभी उपादानों या प्रवृत्तियों को साहित्येतर मानता है। उसका आग्रह 'साहित्य में समाज' के सन्दर्भ पर है। वह कृति को कला-संसार की घटना मानता है। अतः उसमें निर्मित समाज को वह काव्यवस्तु के उपांग के रूप में ग्रहण करता है। वह यह मानता है कि काव्येतर बाह्य संसार और कृति का अपना काव्य-संसार—दोनों ही संसार हैं पर उनके अस्तित्व के धरातल दो हैं और इसीलिए उनमें गुणात्मक भेद है। अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि **शैलीवैज्ञानिक आलोचना का सन्दर्भ काव्येतर बाह्य संसार न होकर काव्यकृति और उसमें निहित संसार होता है।**

१. २. शैलीविज्ञान का क्षेत्र

साहित्य के दो बृहत्तर आयाम हैं—कला और भाषा। शैलीविज्ञान यह स्वीकार कर चलता है कि इन दो बृहत्तर आयामों में बँधकर ही साहित्यकार को 'शाब्दिक कला' (वर्बल आर्ट) के रूप में परिभाषित किया जाता रहा है। शैलीविज्ञान जब साहित्य को **'शाब्दिक कला'** कहकर परिभाषित करता है तब वह साहित्य के संदर्भ में दो तत्त्वों—कला और भाषा—की न केवल सत्ता को स्वीकार करता है अपितु इन दोनों तत्त्वों (आयामों) के सन्दर्भ में साहित्य की परिधि और अपने कार्यक्षेत्र को भी निर्धारित करता है।

कला के आयाम के सन्दर्भ में यह देखा जा सकता है कि कलात्मक संवेग का हर प्रतिफलित रूप साहित्य नहीं होता। कला के मुख्य दो वर्ग होते हैं—उपयोगी कला और ललित कला। उपयोगी कला मनुष्य के दैनिक प्रयोग और आर्थिक उन्नति का साधन बनती है; यथा, बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार आदि की बनाई कृतियां। ललित कला का सम्बन्ध मनुष्य के मानस-जगत और भाव-संसार से होता है। इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत-कला और काव्यकला माने जा सकते हैं। जिस प्रकार कलात्मक संवेग का हर प्रतिफलित रूप (यथा, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला) साहित्य नहीं होता, उसी प्रकार भाषा व्यापार की हर परिणति अपनी सिद्धि में साहित्य नहीं कहला सकती। भाषा के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि इसके मुख्य दो प्रतिफलित वर्ग

हैं—एक दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली भाषा, जिसके सहारे हम आपस में बात करते हैं, लोगों से झगड़ते या प्यार करते हैं अथवा अन्य सामाजिक कार्य-कलापों में प्रयोग में लाते हैं। इस भाषा में व्यक्त कथ्य को हम न तो बार-बार दोहराते हैं और न ही बार-बार प्रस्तुतीकरण के योग्य मानते हैं। जिस भाषा-रूप को समाज या तो बार-बार दोहराता है या जिसके कथ्य को बार-बार प्रस्तुतीकरण के वह योग्य मानता है—उसके संचित कोष को वाङ्मय कहा जाता है। वाङ्मय को भी उपयोगी और ललित उपवर्गों में विभाजित करना संभव है। वाङ्मय का वह प्रतिफलित रूप जो ज्ञानवृद्धि के लिए हो उसे ललितेतर कहा जा सकता है; यथा, इतिहास, भूगोल, दर्शन, ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्धित साहित्य। इसी प्रकार विज्ञान पर लिखी पुस्तकें भी ललितेतर उपवर्ग की रचनाएं मानी जायेंगी। इसके विपरीत जो वाङ्मय मनुष्य के भाव-संसार से सम्बद्ध होगा उसे ललित साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है।

शैलीविज्ञान यह मानता है कि साहित्य, कलात्मक संवेग का वह व्यक्त रूप है जो भाषा-व्यापार की अपनी एक विशिष्ट प्रक्रिया से बँधा होता है। भाषा-व्यापार और कला-व्यापार के अन्तस्सम्बन्धों के आधार पर साहित्य को क्यों 'शाब्दिक कला' कहा गया है, इसे निम्नलिखित आरेख के आधार पर समझा जा सकता है।

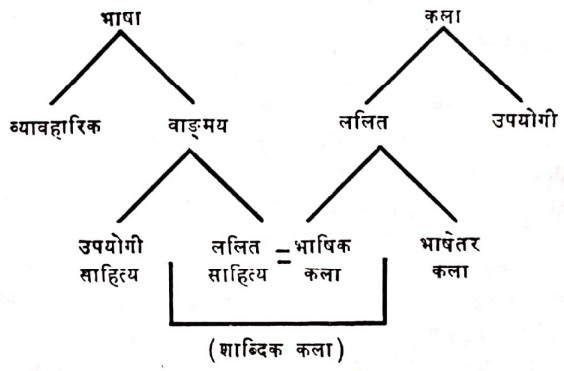

यहाँ इस बात को दुहराने की आवश्यकता है कि शैलीविज्ञान साहित्य को जब 'शाब्दिक कला' के रूप में परिभाषित करता है तब उसके सन्दर्भ में आग्रह-पूर्वक यह तथ्य भी सामने लाता है कि एक ओर कला का हर प्रतिफलित रूप साहित्य नहीं होता और दूसरी तरफ़ भाषा का हर व्यक्त रूप साहित्य नहीं कहला सकता। पर इसके साथ-साथ वह इस तथ्य पर भी बल देना चाहता है कि साहित्य अपनी मूल प्रकृति में कला है पर यह कला रूप भाषा की परिधि में बँधे होने की

नियति से बँधा हुआ है। यही कारण है कि कला का हर प्रतिफलित रूप साहित्य की संज्ञा नहीं पा सकता पर हर साहित्यिक कृति आपाततः कला का ही दृष्टांत होती है। इसी प्रकार भाषा का हर व्यक्त रूप साहित्य नहीं कहला सकता पर हर साहित्यिक रचना मूलतः भाषा का ही व्यक्त रूप है।

जिस प्रकार कला के अध्ययन का क्षेत्र 'कलाशास्त्र' और भाषा के अध्ययन का क्षेत्र 'भाषाविज्ञान' के नाम से जाना जाता है उसी प्रकार हम यह कहते हैं कि शाब्दिक कला के रूप में परिभाषित साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण का क्षेत्र 'शैलीविज्ञान' का क्षेत्र है। इसे हम निम्नलिखित चित्र द्वारा समझ सकते हैं :

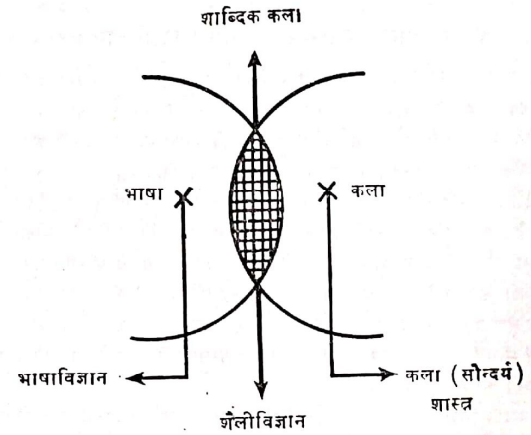

हम कह सकते हैं कि शैलीविज्ञान वस्तुतः भाषा और कला के अनुबन्धन का शास्त्र है अतः अपने क्षेत्र में काम करने वाले विद्वानों से वह अपेक्षा रखता है कि एक तरफ़ वह सौन्दर्यशास्त्री हो और दूसरी तरफ भाषावैज्ञानिक। आज के आलोचना-साहित्य को पढ़ने के बाद इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि साहित्यिक आलोचक और भाषावैज्ञानिक के बीच संवाद की स्थिति ही नहीं रह गयी है। हिन्दी भाषा और साहित्य के सन्दर्भ में तो इनके बीच काफ़ी गहरी खाई आ चुकी है। यह देखा जा सकता है कि अगर कोई आलोचक साहित्य का क्षेत्र अपना लेता है तो भाषा-संरचना-सम्बन्धी सामान्य ज्ञान भी उसे अनावश्यक बोझ प्रतीत होता है और अगर कोई अपने कार्यक्षेत्र के रूप में भाषाविज्ञान को स्वीकार कर बैठता है तब बोलचाल की सामान्य भाषा से असम्बद्ध होने के कारण साहित्य और उसमें प्रयुक्त भाषा को अपनी सीमा में अपनाने से इनकार कर बैठता है। यह बात साहित्यिक आलोचकों पर जितनी लागू होती है उतनी ही तथाकथित शैलीविज्ञान

के नाम पर लिखने वाले आलोचकों पर भी। पर जैसा प्रसिद्ध शैलीवैज्ञानिक आलोचक रोमन याकोब्सन का कहना है, "भाषा के काव्यफलन के प्रति बधिर भाषावैज्ञानिक और भाषावैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषावैज्ञानिक प्रणालियों से अपरिचित साहित्यशास्त्री, दोनों ही समानरूप से अपने समय से बहुत पीछे हैं।"

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि **शैलीविज्ञान का क्षेत्र कला (शास्त्र) और भाषा (विज्ञान) के उस अनुबन्धन का क्षेत्र है जिसका एक छोर कला-सिद्धान्त और सौन्दर्य-चेतना से नियंत्रित रहता है और दूसरा छोर भाषा-सिद्धान्त और भाषिक बोध से।**

१. ३. शैलीविज्ञान : कलाशास्त्र बनाम भाषाविज्ञान

'शाब्दिक कला' के रूप में सिद्ध साहित्य को दो प्रसंगों में देखना संभव है—कला का प्रसंग और भाषा का प्रसंग। सिद्धान्त रूप में हम यह मान सकते हैं कि साहित्य-सिद्धान्त के सन्दर्भ में दोनों प्रसंगों की सार्थकता समान है क्योंकि एक ओर कला-प्रसंग के सन्दर्भ में हम यह कह सकते हैं कि कला का हर प्रतिफलित रूप भले ही साहित्य न हो पर प्रत्येक साहित्यिक कृति अपनी मूल प्रकृति में कला होती है। इस प्रसंग के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि साहित्य-समीक्षा कला-समीक्षा की ही एक शाखा है। दूसरी ओर भाषा-प्रसंग के परिप्रेक्ष्य में भी यह कहा जा सकता है कि भले ही भाषा का हर प्रतिफलित रूप साहित्य न हो पर अपनी मूल प्रकृति में साहित्य, भाषा का ही एक अभिव्यक्त रूप है। इस प्रसंग के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि साहित्य-समीक्षा, भाषा-अध्ययन (भाषा-विज्ञान) की ही एक शाखा है।

यद्यपि सिद्धान्त के रूप में शैलीविज्ञान साहित्यिक अध्ययन के दोनों प्रसंगों (कला-सिद्धान्त और भाषा-सिद्धान्त) को स्वीकार करता है पर व्यावहारिक स्तर पर वह अपने को भाषाविज्ञान का ही उपांग मानता है। पर यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि उसके भाषाविज्ञान का क्षेत्र सामान्य रूप में मान्य भाषाविज्ञान के क्षेत्र से अधिक व्यापक है। उसकी दृष्टि में भाषाविज्ञान का क्षेत्र भाषा के उन सभी व्यक्त रूपों को अपने भीतर समेटता है जो संचार या सम्प्रेषण (कम्यूनिकेशन) के साधन हैं। इस दृष्टि से अगर शैलीविज्ञान भाषा-अध्ययन के क्षेत्र का प्रसार कर साहित्य-अध्ययन (साहित्यशास्त्र) को अपने भीतर समेटता है तब उसके साथ ही अपने इस गुरुतर दायित्व के प्रति सचेत होकर भाषाविज्ञान को प्रतीकविज्ञान (सेमियोटिक्स) के समकक्ष ला बैठाता है। उसका यह मत है कि अगर साहित्य आपाततः भाषारूप ही है (भले ही हर भाषिक अभिव्यक्ति साहित्य न हो) तब भाषा को अपनी अध्ययन-सामग्री बनाने वाले भाषावैज्ञानिकों को अपने कार्यक्षेत्र के भीतर साहित्य को भी स्वीकार करना ही होगा। अब वह समय काफ़ी पीछे छूट गया है जब भाषावैज्ञानिक साहित्य के क्षेत्र में मिलने वाली

भाषिक व्यवस्था एवं संरचना-सम्बन्धी प्रश्नों को टाल जाया करते थे। भाषा-विज्ञान अपनी दृष्टि में व्यापक और प्रणाली में अब इतना विकसित हो चुका है कि वह अपनी सीमा में साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों की चर्चा कर सके। शैलीवैज्ञानिकों का यह कथन है कि आज भी अगर कुछ ऐसे भाषाविद् हैं जो साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी प्रश्नों को भाषाविज्ञान की सीमा के बाहर मानते हैं तब उनकी वैयक्तिक काव्यात्मक अक्षमता को भूल से भाषाविज्ञान की अपनी सीमा न मान ली जाये।

पर इस शंका का मन में उठना स्वाभाविक है कि सिद्धान्त रूप में शैलीविज्ञान जब साहित्य के अध्ययन के दो प्रसंग मानता है तब अपने व्यवहार में वह कला-प्रसंग की अवहेलना कर अपने को भाषाविज्ञान की ही शाखा क्यों घोषित करना चाहता है? कला-समीक्षा की एक शाखा के रूप में वह अपनेको क्यों नहीं सिद्ध करना चाहता? इसके दो कारण हैं। पहला कारण उसके साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है और दूसरा कारण उसकी कार्य (अध्ययन) प्रणाली से।

सिद्धान्त के स्तर पर उसकी यह मान्यता है कि भाषा-व्यापार का केवल वह रूप ही शैलीविज्ञान के क्षेत्र में आता है जो कलात्मक संवेग का परिणाम होता है। अतः वह अपने भाषिक चिन्तन में कला-प्रसंग की उपेक्षा नहीं करता। पर बात अगर इतनी ही होती तब यह भी कहा जा सकता था कि कला-समीक्षा भी साहित्य के निरूपण के समय भाषातत्त्व की उपेक्षा नहीं करती क्योंकि ललित कला के अन्य रूपों से साहित्य रूप को अलग करने का उसका आधार ही कला-सामग्री का आधार है जो अनिवार्यतः भाषा होती है। शैलीविज्ञान कला-सामग्री के रूप में भाषा की अनिवार्यता पर बल देते हुए यह कहना चाहता है कि भाषा के आधार के बिना साहित्य सिद्ध हो ही नहीं सकता। यह स्थिति अन्य कलारूपों के साथ नहीं है। उदाहरण के लिए मूर्तिकला को ही लें। उसकी कला-सामग्री के रूप में चाहे पत्थर को लें या लोहे को, प्लास्टिक को लें अथवा मिट्टी को, मूर्तिकला की आधारभूत प्रकृति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। दूसरा तथ्य यह भी है कि भाषा साहित्य की केवल कला-सामग्री ही नहीं वरन कला-माध्यम भी है। जिस प्रकार मूर्तिकला में कला-सामग्री धातु, मिट्टी या अन्य कोई ठोस वस्तु हो सकती है पर उसका कला-माध्यम उससे निर्मित छवि का रूपाकार (स्ट्रक्चरल फ़ॉर्म) और गठन (टेक्सचर) होता है, उसी प्रकार साहित्य की भी कला-सामग्री होती है और साथ ही साहित्य काव्य-मूर्तियों के रूप में उसका कला-माध्यम होता है। पर इसकी विशिष्टता यह है कि यहां न केवल कला-सामग्री के रूप में बल्कि कला-माध्यम के रूप में भी भाषा की ही सत्ता बनी रहती है। साहित्य में भाषा कला-सामग्री का भी काम करती है और कला-माध्यम का भी। इसका कारण यह है कि साहित्य-मूर्तियों का रूपाकार और गठन वस्तुतः भाषा के ही रूपाकार और गठन का एक विशिष्ट प्रयोग होता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्यों वास्तुकला या मूर्तिकला की कला-सामग्री,

यथा, पत्थर अथवा धातु कला-माध्यम नहीं बन पाते और क्यों भाषा कला-सामग्री के साथ-साथ कला-माध्यम भी बनने में सक्षम है ? इसका उत्तर यही है कि साहित्य के सन्दर्भ में भाषा की अपनी एक विशिष्ट स्थिति है, दूसरे अपनी प्रकृति के आधार पर वह अन्य कला-क्षेत्रों के उपादानों से अपनेको अलग कर लेती है। उसकी प्रकृति के सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्य सामने लाये जा सकते हैं।

(१) पहला तथ्य यह है कि अपने प्रकृत रूप में भाषा सजीव, सक्रिय और गत्यात्मक होने के कारण 'प्रवृत्त्यात्मक' (डायरेक्शनल) होती है। स्वयं में जीवन्त और गत्यात्मक होने के कारण भाषा साहित्यकार और साहित्य पर अपना विशिष्ट दबाव डालती है। इसके विपरीत कला-सामग्री के रूप में प्रयुक्त होने वाले पत्थर या धातु अपने प्रकृत रूप में स्थिर एवं निष्क्रिय होते हैं और इसीलिए कलाकृति से हटकर वे प्रवृत्त्यात्मक नहीं हो सकते।

(२) दूसरा तथ्य यह है कि भाषा स्वयं संस्कृति का एक उपकरण और परम्परा का संवाहक है। वह संस्कृति का कोई स्थूल उपादान न होकर उसकी सक्रिय शक्ति भी है।

(३) तीसरा तथ्य यह है कि भाषा (सामाजिक) वस्तु भी है और (संकल्पनात्मक) बोध भी। इसीलिए साहित्य के भीतर पायी जाने वाली कला (सौन्दर्य) और कला-बोध न केवल भाषा के माध्यम से व्यक्त होते हैं वरन भाषा की अपनी संरचना और उनके अपने गुणों द्वारा नियंत्रित भी होते हैं। साहित्य के सन्दर्भ में कलात्मकता (काव्यात्मकता) अपने माध्यम से मुक्त होकर सिद्ध रह ही नहीं सकती क्योंकि काव्यात्मक संरचना भाषा के गर्भ से ही उत्पन्न होती है। इसके ठीक विपरीत वास्तुकला या मूर्तिकला की 'कलात्मकता', पत्थर या धातु कला-सामग्री के आयाम में बँधकर भी उसके अपने गुणों से मुक्त होती है।

साहित्य के सन्दर्भ में भाषा की इस विशिष्ट स्थिति के कारण ही शैलीविज्ञान सिद्धान्त के स्तर पर अपनेको भाषाविज्ञान की शाखा मानता है। पर **शैलीविज्ञान एक ओर साहित्य-आलोचना का सिद्धान्त है तो दूसरी ओर उसके अध्ययन-विश्लेषण की प्रणाली भी।** प्रणाली के रूप में उसकी मान्यता है—ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ना, अभिव्यक्ति-पक्ष के अध्ययन-विश्लेषण के सहारे कलात्मक कथ्य और संवेग को पकड़ना। आलोचक या पाठक कलाकृति को जब पढ़ने-समझने की ओर उन्मुख होता है तब पहले वह उसके अभिव्यक्ति-पक्ष से टकराता है। अतः अपने अध्ययन के पहले चरण में वह कलाकृति के अभिव्यक्ति-पक्ष को समझना चाहता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि कवि अपनी क्रिया-साधना में पहले कलात्मक संवेग से प्रेरित होता है और उसका साक्षात्कार करने के लिए, उसे भाषा में अभिव्यक्त करने के लिए उद्यत होता है। इसके विपरीत आलोचक/पाठक अपनी क्रिया-साधना में पहले कलाकृति के अभिव्यक्त रूप से जूझता है और इस जूझने की प्रक्रिया में वह कलात्मक संवेग से साक्षात्कार करता है। शैली-

वैज्ञानिक अध्ययन-प्रणाली के अनुसार कलाकृति के अभिव्यक्ति-माध्यम से जूझने का अर्थ ही है उसकी भाषिक संरचना का अध्ययन-विश्लेषण। चूंकि अभिव्यक्ति-माध्यम के अध्ययन-विश्लेषण का क्षेत्र भाषाविज्ञान का क्षेत्र है इसलिए भी शैली-विज्ञान अपनेको भाषाविज्ञान का उपांग मानता है।

सम्प्रति शैलीविज्ञान को स्वायत्त विधा मानने पर आग्रह किया जा रहा है। इस क्षेत्र में काम करनेवालों का अब यह मत बनने लगा है कि साहित्य के ऐसे कई पक्ष हैं जिनका सम्बन्ध तो भाषा से है पर भाषा-विज्ञान के पास ऐसे उपकरण नहीं जिनके सहारे उनका विश्लेषण संभव हो सके। काव्यबिम्ब, कथावस्तु, चरित्र-सन्दर्भ ऐसे कई साहित्यिक तत्त्व हैं जिनको समुचित रूप से समझने के लिए शैलीविज्ञान को अपने नये साधन विकसित करने हैं। इस सन्दर्भ में शैलीविज्ञान प्रतीकसिद्धान्त से सहायता लेता है और अपनी विधा को प्रतीकविज्ञान की उपशाखा के रूप में प्रतिफलित करता है। उसकी धारणा है कि प्रतीकविज्ञान, भाषा और कला दोनों को उचित सन्दर्भ देने में सक्षम है, अतः भाषाविज्ञान और कलाशास्त्र दोनों ही उसीकी उपशाखाएं हैं। शैलीविज्ञान भाषा और कला के अनुबन्धन की पीठिका लेकर उसी प्रतीकविज्ञान की एक स्वायत्त विधा है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि **'शाब्दिक कला' के रूप में साहित्य के अध्ययन के दो प्रसंग हैं—कला (शास्त्र) का प्रसंग और भाषा (विज्ञान) का प्रसंग, पर अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं और प्रणालीगत आवश्यकताओं के संदर्भ में शैलीविज्ञान अपने को प्रतीकविज्ञान की उपशाखा मानता है।**

१.४. शैलीवैज्ञानिक आलोचना की प्रकृति

शैलीवैज्ञानिक आलोचना की दृष्टि और चिन्तनधारा भाषावादी है और विश्लेषण-प्रणाली की प्रकृति वस्तुवादी। भाषावादी सिद्धान्त के रूप में ही वह साहित्य को 'शाब्दिक कला' के रूप में देखता है। पर उसके अनुसार अगर साहित्य 'शाब्दिक कला' है तो काव्यकृति 'शाब्दिक प्रतीक' (लिंग्विस्टिक सिम्बल) है।

शैलीविज्ञान की यह मान्यता है कि प्रतीकवत होने के कारण काव्यकृति में कथ्य (वाच्य) और अभिव्यक्ति (वाचक)-पक्ष में अन्तरंग सम्बन्ध और अभिन्नता बनी रहती है। वह आधुनिक भाषाविज्ञान के जनक सस्यूर की इस मान्यता को स्वीकार करती है कि भाषिक प्रतीक कथ्य और अभिव्यक्ति-पक्ष के एकीकरण के रूप में सिद्ध होता है। यह इसी एकीकरण का परिणाम है कि सम्प्रेष्य कथ्य के अभाव में अभिव्यक्ति-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष के अभाव में कथ्य-पक्ष केवल अपने आधार पर किसी भी भाषिक प्रतीक को जन्म देने में असमर्थ हैं। भाषिक प्रतीक की अपनी प्रकृति एवं अर्थवत्ता के सन्दर्भ में ये दोनों पक्ष एक-दूसरे के साथ इस प्रकार एक-दूसरे में घुले-मिले रहते हैं कि एक के बिना दूसरे की सत्ता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रतीक के अभिव्यक्ति-पक्ष के आने के साथ ही उसका कथ्य-पक्ष भी मन में तत्काल उभरता है

जैसे 'कमल' शब्द के सुनते ही श्रोता की कल्पना में उसका कथ्य उभर आता है और कथ्य का बोध बिना प्रतीक के अभिव्यक्ति-पक्ष के सम्भव नहीं हो पाता, जैसे कमल-वस्तु का सामान्यीकृत भाव 'कमल' शब्द की अभिव्यक्ति के अभाव में जन्म ही नहीं ले पाता। इस सन्दर्भ में तुलसीदास की उक्ति—'गिरा-अर्थ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' पूर्ण रूप से एक सार्थक कथन है क्योंकि 'गिरा' के अर्थ में अभिव्यक्ति-पक्ष और अर्थ के सन्दर्भ में कथ्य-पक्ष के बीच पायी जाने बाली अभिन्नता को वह ध्वनित करता है।

शैलीविज्ञान काव्यकृति को जब 'शाब्दिक (भाषिक) प्रतीक' के रूप में स्वीकार करता है तब वह कथ्य (वाच्य) और अभिव्यक्ति (वाचक) के सम्बन्धों की अभिन्नता के सन्दर्भ में ही उस काव्यकृति को एक स्वायत्त और संश्लिष्ट इकाई के रूप में ग्रहण करता है। कथ्य और अभिव्यक्ति इस स्वायत्त इकाई के दो स्तर नहीं और न ही उसके दो खण्ड हैं, अपितु वे एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। यही कारण है कि शैलीविज्ञान काव्यकृति (शाब्दिक प्रतीक) के व्यापक सन्दर्भ में जहां रूप (अभिव्यक्ति) से कथ्य के बिलगाव का विरोध करता है वहीं कथ्य से रूप के अलगाव की भी तीखी आलोचना करता है। **शैलीविज्ञान न तो 'रूप से विलग कथ्य' (डिटैचेबल काण्टेण्ट) को ही स्वीकार करता है और न ही 'कथ्य से असम्पृक्त रूप' (डिसइनगेजेबल फ़ॉर्म) को ही। उसके मत में काव्यकृति में रूप और कथ्य इस प्रकार आपस में घुले-मिले रहते हैं कि एक के अभाव में दूसरे की सत्ता ही असिद्ध हो जाती है।**

कला-प्रतीक अथवा शाब्दिक प्रतीक के सर्जनात्मक और आलोचनात्मक दोनों ही धरातलों पर हमें निम्नलिखित तीन स्थितियां देखने को मिलती हैं :

(१) पहली स्थिति वह है जहां रूप-सिद्धि कथ्य के विलगाव के साथ देखने को मिलती है। इसे 'कला के लिए कला' सिद्धान्त के प्रतिपादन की स्थिति कहा जा सकता है। यही स्थिति रूपवादी आलोचना का आधार बनती है।

(२) दूसरी स्थिति वह है जहां कथ्य-सिद्धि रूप से असम्पृक्त होकर स्थित मिलती है। इसे 'उपयोग के लिए कला' सिद्धान्त के प्रतिपादन की स्थिति कहा जा सकता है। यह स्थिति साहित्येतर (बाह्य) आलोचना का आधार बनती है।

(३) तीसरी स्थिति वह है जो कलाकृति को एकसाथ 'रूप से संलग्न कथ्य' और 'कथ्य से सम्पृक्त रूप' मानती है और यह स्वीकार कर चलती है कि रूप कथ्य की यथार्थता को पकड़ने का अगर साधन है तब कथ्य भी अपनी आन्तरिक प्रकृति के प्रकाशन के निमित्त रूप में बँधने की अनिवार्य नियति से बँधा है। यह स्थिति साहित्यिक आलोचना का आधार बनती है।

शैलीविज्ञान की आलोचनात्मक प्रकृति साहित्यिक आलोचना के पक्ष में है क्योंकि शैलीविज्ञान एक ओर सर्जनात्मक धरातल पर काव्यकृति को कथ्य और अभिव्यक्ति की समन्वित इकाई के रूप में प्रतीकवत सिद्ध मानता है और दूसरी ओर समीक्षात्मक धरातल पर काव्यात्मकता का केन्द्रक 'शाब्दिक प्रतीक' के रूप

में सिद्ध काव्यकृति को स्वीकार करता है।

१.५. शैलीवैज्ञानिक आलोचना का लक्ष्य

शैलीविज्ञान का लक्ष्य काव्यकृति में निहित उस सौन्दर्य का उद्घाटन है जो काव्यकृति में कलात्मक संवेग के रूप में आदि से अन्त तक स्थित रहता है। यह कलात्मक संवेग ही है जो काव्यकृति की विषयवस्तु को काव्यवस्तु में रूपान्तरित करता है। यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्यशास्त्र उस 'ऐन्द्रिय संवेग' के अध्ययन का शास्त्र है जो सौन्दर्य के लक्ष्य से नियंत्रित है ओर **शैलीविज्ञान का लक्ष्य कथ्य (वाच्य) और अभिव्यक्ति (वाचक) के सम्बन्धों की प्रकृति के आधार पर कलाकृति में निहित सौन्दर्योन्मुखी ऐन्द्रिय संवेग का अध्ययन और उद्घाटन है।**

इसमें सन्देह नहीं कि सौन्दर्य के मूल में 'ऐन्द्रिय संवेग' का तत्त्व रहता है। पर इस ऐन्द्रिय संवेग का जो पहला स्तर दिखाई देता है वह है जैविक स्तर। गन्ध, स्पर्श, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियपरक संवेदना को अनुभव करने की क्षमता सभी मनुष्यों में होती है जिसे मनुष्य अपनी इन्द्रियों के सहारे साक्षात अनुभव करता है। पर बाह्य जीवन से सीधा सम्बन्ध बनाये रखने के कारण ये संवेग उसी प्रकार हमारे व्यवहार में सिद्ध रहते हैं जैसे भौतिक धरातल पर 'लिंग' (सेक्स) या समय (टाइम)। भाषा के सहारे हम भौतिक धरातल के 'लिंग' और 'समय' को विचार-बोध में रूपान्तरित करते हैं इसीलिए एक ही भौतिक वस्तु को संकेतित करने वाले दो शब्दों में हम लिंग-भेद की कल्पना कर लेते हैं; यथा, दारा (पुंलिंग) और स्त्री (स्त्रीलिंग) और विगत घटना को काल के धरातल पर कभी 'भूतकाल' से जोड़ लेते हैं और कभी उसे वर्तमान काल से; यथा, 'मैंने चिट्ठी छोड़ दी है' और 'मैंने चिट्ठी छोड़ दी थी'। यह भाषा की बोधात्मक कल्पना का ही परिणाम है कि बाह्य जगत को मनुष्य अपनी ही तरह जीवन से स्पन्दित अनुभव कर सकता है। मानव-अनुकृतिवाद के अभिव्यंजक प्रयोग, भाषा के माध्यम से साहित्य में मिलते हैं; यथा, 'बड़बड़ाता हुआ पानी का चश्मा' या 'बदमाश मौसम'।

काव्यकृति में कलात्मक संवेग या संवेदनात्मक अनुभूति का भौतिक स्तर नहीं होता। जिस प्रकार भौतिक जगत का 'लिंग' और 'समय' भाषाई चेतना के सहारे भाषिक धरातल की इकाई में रूपान्तरित होकर 'लिंग-बोध' (जेंडर) और 'काल-बोध' (टेन्स) में प्रतिफलित हो जाते हैं उसी प्रकार जैविक धरातल पर अनुभूत 'ऐन्द्रिय संवेग' या संवेदनात्मक अनुभूति भी भाषाई धरातल पर रूपान्तरित होकर संवेदनात्मक बोध के रूप में काव्यकृति में सिद्ध मिलते हैं। शैलीविज्ञान यह मानता है कि **काव्यकृति में जो 'संवेगात्मक उद्देश्य' हम पाते हैं उसकी प्रकृति 'जैविक' न होकर 'बोधात्मक' होती है, और वह मात्र संवेदनात्मक अनुभूति न होकर संवेदना की बोधात्मक प्रतीति होती है।** काव्य-संवेदना मन की अतल गह-

राइयों से आती कोई अनगूंज पुकार या अनहद नाद के स्तर की वस्तु नहीं होती। वह तो भाषिक चेतना के धरातल पर बोधव्य भाषिक ध्वनि होती है। शैली-विज्ञान की यह मान्यता है कि 'शाब्दिक सौन्दर्य' का सम्बन्ध इसी 'संवेदनात्मक बोध' से है अतः 'शाब्दिक सौन्दर्य' उक्ति का उसकी दृष्टि में अर्थ है 'भाषा पर झेला गया सौन्दर्य' अथवा 'भाषा में रूपान्तरबद्ध सौन्दर्य-बोध'।

कुछ विद्वान शैलीविज्ञान की इस तकनीकी उक्ति 'शाब्दिक सौन्दर्य' का अर्थ 'सौशब्द्य' (सुशब्दता) मानने की भूल कर बैठते हैं। 'सौशब्द्य' का अर्थ है शब्दों का लालित्य या ललित शब्दों का विकास। इस दृष्टि से शाब्दिक सौन्दर्य शब्द-लालित्य, शब्द-अलंकरण या शब्द-क्रीड़ा का पर्याय बन जाता है। यह व्याख्या शैलीवैज्ञानिकों की नहीं है पर उसको नकारने वाले विद्वान अपने भ्रम में इसी अर्थ को स्वीकार कर यह कहते पाये जाते हैं कि शैलीविज्ञान जिस भाषिक संगठन को अपनी व्याख्या का आधार बनाता है वह कला-सौन्दर्य का बहुत ही सतही स्तर है और इसीलिए वह काव्यकृति के बाह्य शरीर की चीड़-फाड़ कर उसके 'शब्द-लालित्य' को तो उजागर कर देता है पर उसके कलात्मक संवेग अथवा सौन्दर्य के भावरूप पर प्रकाश डालने में समर्थ नहीं हो पाता।

१. ६. शैलीवैज्ञानिक व्याख्या : स्तरभेद

इधर शैलीवैज्ञानिक व्याख्या के नाम पर काव्यकृति के भाषावैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति चल पड़ी है। यह सामान्य धारणा बनती जा रही है कि किसी रचना में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया के प्रयोग का सांख्यकीय विश्लेषण अथवा उनका भाषावैज्ञानिक विवरण ही शैलीवैज्ञानिक आलोचना है। यह एक नितान्त भ्रामक धारणा है। ऐसे भ्रम को दूर करने के लिए शैलीविज्ञान अपने विश्लेषण-स्तर की संकल्पना को सामने लाकर यह कहना चाहता है कि एक ही वस्तु या संरचना को देखने-समझने के सन्दर्भ में अन्तर संभव है। यह संभव है कि इकाई के रूप में 'वस्तु' तो एक ही हो पर विभिन्न प्रयोजनों एवं प्रकार्य के सन्दर्भ में वह विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूप में सिद्ध हो। उदाहरण के लिए भाषिक इकाई के रूप में कम से कम निम्नलिखित तीन स्तरों की कल्पना तो की ही जा सकती है—वाक्य-स्तर, पद-स्तर, ध्वनि-स्तर। अगर कोई व्यक्ति यह कहता है—'(तू) आ', तब मात्र 'आ' का उच्चारण अपनी व्याख्या के लिए तीन भिन्न सन्दर्भों में तीन स्तरों की संकल्पना को सामने ला सकता है। ध्वनि-विश्लेषण के सन्दर्भ में 'आ' एक ध्वनिखण्ड या स्वनिम है, पद-विश्लेषण के सन्दर्भ में वह क्रियापद है और वाक्यविश्लेषण के संदर्भ में वह एक सम्पूर्ण वाक्य है जिसमें 'संज्ञा पदबंध' का लोप कर दिया गया है।

जिस प्रकार भाषाविज्ञान एक ही इकाई को विभिन्न स्तरों के सन्दर्भ में रखकर उसका विश्लेषण करता है उसी प्रकार शैलीविज्ञान भी 'शाब्दिक प्रतीक' के रूप में सिद्ध 'काव्यकृति' की इकाई को विभिन्न स्तरों के सन्दर्भ में रखकर

उसकी व्याख्या करता है। विश्लेषण के कम से कम वह तीन स्तरों की संकल्पना को सामने लाता है : (१) कला-सामग्री का स्तर, (२) कला-माध्यम का स्तर और (३) कला-प्रतीक का स्तर।

कला-सामग्री के स्तर पर जो अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है उसका सम्बन्ध काव्यकृति में प्रयुक्त भाषा की व्याख्या एवं विश्लेषण से रहता है। यह काव्यकृति का शुद्ध भाषावैज्ञानिक विश्लेषण है। इसे शैलीवैज्ञानिक अध्ययन का निम्नतम स्तर माना जा सकता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह विश्लेषण शैली-वैज्ञानिक अध्ययन में तो सहायक होता है पर अपनी प्रकृति और प्रयोजन में यह शैलीवैज्ञानिकेतर होता है और कुछ विद्वानों के अनुसार यह अध्ययन शैलीविज्ञान की पूर्वापेक्षा अध्ययन (प्री-स्टाइलिस्टिक्स) है। वस्तुतः यह साहित्य-विश्लेषण का वह भाषावैज्ञानिक सन्दर्भ है जिसकी महत्तम इकाई वाक्य होती है। इस अध्ययन-सन्दर्भ को 'भाषावैज्ञानिक शैलीविज्ञान' (लिंग्विस्टिक स्टाइलिस्टिक्स) नाम से भी जाना जा सकता है। वाक्य के सामान्य भाषावैज्ञानिक अध्ययन से यह केवल इस अर्थ में भिन्न होता है कि इसकी विवेच्य सामग्री सामान्य भाषा की सामग्री न होकर साहित्य में प्रयुक्त भाषा-सामग्री होती है अतः उसमें काव्यात्मक उक्तियों के रूप में भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग भी देखने को मिल सकते हैं।

कला-माध्यम के स्तर पर जो अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है उसका सम्बन्ध भाषा के गर्भ से उत्पन्न और भाषा के उपकरण से बनी उन साहित्य-मूर्तियों से रहता है जिसे साहित्य-विश्लेषण के सन्दर्भ में हम छन्द-विन्यास, अर्थलय, बिम्ब या प्रतीक, कथानक या चरित्र-निर्माण आदि से जानते आये हैं। यह विश्लेषण का वह भाषिक सन्दर्भ है जिसकी महत्तम इकाई पाठ (टेक्स्ट) या प्रोक्ति (डिस्कोर्स) होती है। इस अध्ययन-सन्दर्भ को 'पाठ शैलीविज्ञान' (टेक्स्ट स्टाइलिस्टिक्स) के नाम से जाना जा सकता है। कुछ विद्वान इसे 'साहित्यिक शैलीविज्ञान' (लिटरेरी स्टाइलिस्टिक्स) की संज्ञा देते हैं।

कला-प्रतीक के स्तर पर जो अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है उसका सम्बन्ध शाब्दिक प्रतीक के रूप में गृहीत काव्यकृति की संरचना और उसमें आबद्ध काव्य-संसार के साथ रहता है। इसके सन्दर्भ में दो तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं। पहला तथ्य 'संरचना' शब्द के तात्पर्य-बोध से है। जब काव्यकृति को एक संश्लिष्ट संरचना कहा जाता है तब उसकी दो संकल्पनाओं (विशिष्टताओं) की ओर संकेत दिया जाता है। पहली है, पूर्णता की संकल्पना, जिसके माध्यम से यह संकेत दिया जाता है कि काव्यकृति के रूप में इकाई अपने में पूर्ण और अंग-रूप है। वह अपने विभिन्न उपांगों के सावयव सम्बन्धों के आधार पर अपना रूप तो ग्रहण करता है पर यह रूप उसके सभी उपांगों का मात्रयोग नहीं होता। अंग-रूप सिद्ध पूर्ण इकाई के रूप में काव्यकृति अपने उपांगों के कुल योग से कहीं कुछ अधिक होती है और जो अधिक होता है वह इसी स्तर पर अध्ययन का लक्ष्य है। दूसरी है स्वायत्तता की संकल्पना, जिसके सहारे यह संकेत दिया जाता है

कि काव्यकृति अपने में स्वनिष्ठ होती है और व्याख्या के लिए अपने से अलग किसी अन्य सन्दर्भ की अपेक्षा नहीं रखती। यह ध्यान देने की बात है कि भाषा की इकाई के रूप में 'पद' अपनी व्याख्या के लिए 'वाक्य' को अपना सन्दर्भ बनाते है, वाक्य अपने समुचित अर्थ-व्यवस्था के लिए 'पाठ या प्रोक्ति' का सन्दर्भ लेते हैं और कला-माध्यम के स्तर पर निर्मित बिम्ब भी अपना अर्थ 'काव्यकृति' के सन्दर्भ में खोलते हैं पर 'शाब्दिक प्रतीक' के रूप में 'काव्यकृति' अपनी व्याख्या का सन्दर्भ स्वयं है। दूसरे शब्दों में काव्यकृति, वह 'संरचनात्मक संघटना' है जो किसी अन्य संरचना का घटक नहीं होती।

दूसरा तथ्य है कि विषयवस्तु को काव्यवस्तु में रूपान्तरित करने वाले जो तत्त्व हैं उन सबके लिए जिस समावेशी शब्द 'शैली' की संकल्पना को सामने लाया जाता है उसके अध्ययन-विश्लेषण का स्तर भी कला-प्रतीक के सन्दर्भ से जुड़ा रहता है—शैली भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग और साहित्य की कलात्मक संगठना को जोड़ने वाली संकल्पना है। इस स्तर पर इसी शैली के अध्ययन-विश्लेषण के सहारे काव्यकृति में निहित सौन्दर्य पर प्रकाश डाला जाता है। इस अध्ययन-सन्दर्भ को 'संरचनात्मक शैलीविज्ञान' (स्ट्रक्चरल स्टाइलिस्टिक्स) कहा जाता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि काव्यकृति के अध्ययन के क्रम से तीन स्तर हैं जो उसके तीन सन्दर्भों पर आधारित हैं और तदनुरूप शैलीवैज्ञानिक अध्ययन के तीन रूप/प्रकार देखने को मिलते हैं—कला-सामग्री का सन्दर्भ अर्थात् वाक्य-स्तर पर सिद्ध भाषिक प्रतीक का अध्ययन जिसे **भाषावैज्ञानिक शैली-विज्ञान** कहा जा सकता है, कला-माध्यम का सन्दर्भ अर्थात् साहित्यिक छवियों के स्तर पर सिद्ध भाषिक प्रतीक का अध्ययन, जिसे **साहित्यिक शैलीविज्ञान** माना जा सकता है और कला-प्रतीक का सन्दर्भ अर्थात काव्यकृति के स्तर पर सिद्ध भाषिक प्रतीक का अध्ययन, जिसे **संरचनात्मक शैली विज्ञान** के रूप में समझा जा सकता है।

२. शैली की संकल्पना

२. १. बहिर्निष्ठ और अन्तर्निष्ठ शैली

आलोचना के क्षेत्र में प्रचलित ऐसे कई पारिभाषिक शब्द देखने को मिलते हैं जो अनेक सन्दर्भों में प्रयुक्त होने के कारण एक ओर अनेकार्थी बन जाते हैं और दूसरी ओर परिभाषा की वैज्ञानिकता के लिए चुनौती बन जाते हैं। साहित्यिक आलोचना का एक ऐसा ही शब्द है—शैली। विभिन्न आलोचकों ने इसकी परिभाषा विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न रूपों में दी है, जिन्हें निम्नलिखित पांच वर्गों में विभाजित करना संभव है : (१) शैली विचार या भाव का आभरण या पहनावा है (चेस्टरफील्ड) अतः वह अलंकरण का पर्याय है, (२) शैली विचार एवं अन्त-

दृष्टि है (स्पेन्सर) अतः वह आभ्यन्तर कथ्य की विशिष्टता है, (३) शैली ही व्यक्तित्व है (बुफ़ो) और वह मस्तिष्क की मुखाकृति है जो चेहरे की अपेक्षा व्यक्ति की आन्तरिक प्रकृति का अधिक विश्वसनीय ढंग से परिचय देती है (शॉपेनहावर), (४) शैली सम्पूर्ण साहित्यिक सौन्दर्य का पर्याय है (मरि), (५) उचित क्रम में उचित शब्दों का प्रयोग ही शैली है (स्विफ्ट)। इन विभिन्न परिभाषाओं को ही देखकर एक प्रसिद्ध आलोचक का कहना है कि शैली, विज्ञान में प्रचलित 'ईथर' के समान है जिसका प्रयोग और उपयोग तो सभी विद्वान अपनी सुविधा के अनुसार करते हैं पर जिसके गुण को कोई भी परिभाषित नहीं करता।

शैलीविज्ञान में शैली की संकल्पना को अत्यंत व्यापक स्तर पर परिभाषित किया जाता है। **वह एक ओर भाषा तथा साहित्य को जोड़ने वाली संकल्पना है, जिसके सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि शैली सहेतुक भाषिक अभिव्यक्ति है, और दूसरी ओर साहित्य और कला को जोड़ने वाली संकल्पना है, जिसके सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि "शैली कलात्मक सौन्दर्य की अभिव्यंजक भाषिक संरचना"** है। इस दूसरी दृष्टि के सन्दर्भ में ही 'शैलीविज्ञान' शब्द में प्रयुक्त 'शैली' का अर्थ और उसकी सार्थकता समझी जा सकती है, यथा :

कला : सौन्दर्य : : सौन्दर्यशास्त्र :: साहित्य : शैली : शैलीविज्ञान

जो स्थान कला और कलाशास्त्र में 'सौन्दर्य' का है वही स्थान साहित्य और शैली-वैज्ञानिक आलोचना में 'शैली' का है, पर जहां कलाशास्त्र में सौन्दर्य मात्र संकल्पनात्मक शब्द है वहीं शैलीविज्ञान में वह सिद्धान्त रूप में संकल्पनात्मक भी है और प्रणाली रूप में उपकरणात्मक भी।

उपकरणात्मक सन्दर्भ में शैलीवैज्ञानिक शैली को कथ्य की विशिष्टता को पकड़ने के हेतु पहले 'सहेतुक' भाषिक संरचना के रूप में ग्रहण करते हैं। और फिर यह संकेत देते हैं कि किसी एक संकेतार्थ को व्यक्त करने के लिए भाषा एक से अधिक संभावना देती है। इन विविध संभावनाओं में से किसी एक का चुनाव संकेतार्थ से कहीं कुछ अधिक अर्थ को अभिव्यंजित करने लगता है। उदाहरण के लिए, शब्द स्तर पर भाषिक प्रतीक के रूप में 'कमल' 'नीरज' और 'पंकज' को ही लें। 'पंकज' और 'नीरज' दोनों ही शब्द-प्रतीक, कमल के फूल की ओर संकेत देते हैं पर उनके बीच किसी एक का विकल्प से चुनाव अतिरिक्त अर्थ को व्यंजित करता है। एक उसे 'पंक' के साथ सम्बद्ध कर 'गुदड़ी के लाल' की भांति उसे सामने लाता है तो दूसरा जल के साथ जोड़कर राजा जनक की भांति अपने वातावरण से अप्रभावित एवं निस्पृह सिद्ध कर देना चाहता है। इसी प्रकार फूल के सन्दर्भ में 'कमल' और 'गुलाब' शब्द की संकेतित वस्तु को ही लें। दोनों सौन्दर्य-बोधक अर्थ की सृष्टि करते हैं, दोनों मन की कोमलता और सुकुमारता को व्यंजित करने में समर्थ हैं पर भारतीय संस्कृति के उपादान के रूप में एक पवित्रता और अम्लान भाव का प्रतीक बनता है तो दूसरा विलासिता और भौतिक ऐश्वर्य

के प्रतिनिधि रूप में सामने आता है। एक की अगर कवि 'भारती-वन्दना' करते समय दृश्य बिम्ब के रूप में सामने लाकर कहता है 'भारती, जय विजय करे। कनक-शस्य-कमल परे।' तो दूसरे को 'अरे, ओ, दुष्ट गुलाब', कहकर सम्बोधित करता है।

'विकल्प से चुनाव' की स्वतंत्रता स्वयं भाषा देती है और यह चुनाव भाषा के हर स्तर पर देखा जा सकता है। ध्वनि, शब्द, वाक्य, प्रोक्ति आदि प्रत्येक स्तर पर भाषा सम्भावना बनकर आती है जिसके भीतर से व्यक्ति को विकल्पवत चयन करने की छूट रहती है। पर यहां यह भी ध्यान देने की बात है कि विकल्प के सन्दर्भ में चयन की स्वतंत्रता के उपरान्त भी व्यक्ति चुनाव के लिए सर्वथा मुक्त या स्वच्छन्द नहीं होता। चयन की प्रकृति को नियंत्रित करने वाले विभिन्न उपादानों के सन्दर्भ में शैली का वर्गीकरण और उसकी परिभाषा सम्भव है। शैलीविज्ञान, भाषिक चयन को नियंत्रित करने वाले तत्त्वों के आधार पर शैली के दो भेद करता है—बहिर्निष्ठ (एक्सट्रिंसिक) शैली और अन्तर्निष्ठ (इंस्ट्रिंसिक) शैली।

बहिर्निष्ठ शैली वह है जिसके चयन को नियन्त्रित करने वाले उपादान काव्यकृति के बाहर स्थित होते हैं और जिसकी भाषिक संरचनात्मक विशेषताओं का काव्यकृति से बाहर लाकर विश्लेषण-अध्ययन सम्भव है। उदाहरण के लिए, अगर यह कहा जाये कि अमुक साहित्यकार की शैली संस्कृतनिष्ठ है, तब यह आलोचक के लिए सम्भव है कि उस साहित्यकार की रचनाओं में से उदाहरण निकालकर यह प्रमाण दे सके कि उसने तद्भव या देशज शब्दों की तुलना में तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग किया है, हिन्दी की अपनी सन्धि और समास-योजना के स्थान पर उसने संस्कृत में प्रचलित नियमों के आधार पर भाषिक प्रयोग किया है आदि। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि चयन को नियन्त्रित करने वाला तत्त्व अगर साहित्यकार का व्यक्तित्व हो तो साहित्यकार-विशेष की शैली कहलाती है (यथा, निराला, पंत, अज्ञेय, प्रेमचन्द आदि की शैली), अगर नियन्त्रित करने वाला तत्त्व युग-विशेष की प्रवृत्ति है तो युग-विशेष की शैली कहलाती है (यथा, रीतिकालीन, छायावादी, नयी कविता आदि की शैली) और अगर चयन को नियन्त्रित करने वाला तत्त्व विधा है तो विधा-विशेष की शैली कहलाती है (यथा, नाटक, उपन्यास, कहानी, महाकाव्य, गीत आदि की शैली)।

अन्तर्निष्ठ शैली वह है जिसके चयन को नियंत्रित करने वाला उपादान कलात्मक संवेग होता है और जो काव्यकृति के भीतर कुछ इस प्रकार स्थित रहता है कि उसे अभिव्यक्तिपरक विशेषता के रूप में काव्यकृति के बाहर लाना सम्भव नहीं होता। यह वस्तुतः कृति की वह संरचनात्मक विशेषता है जिसे कृति की काव्यवस्तु की शैली कहा जा सकता है। वह सहेतुक भाषा-विधान है जिसका हेतु कलात्मक सौन्दर्य होता है। अतः अन्तर्निष्ठ शैली उन सभी भाषिक विधानों का समुच्चय है जो भाषा और कला के अनुबन्धन-क्षेत्र के भीतर आते हैं। अपनी

प्रकृति में ये 'परिवृत्ति-विमुख' होते हैं और 'पदनिवेश-निष्कम्पता' अथवा पद स्थैर्य के गुण से युक्त रहते हैं अर्थात ये वे भाषिक तत्त्व हैं जिनका पर्याय द्वारा स्थानान्तरित करना सम्भव नहीं होता। अतः जिस प्रकार व्यक्ति, युग अथवा विधा-विशेष की शैलीगत विशिष्टताओं को कृति की काव्यवस्तु से अलग किया जा सकता है उसी प्रकार काव्यकृति की शैली को उससे अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि शैली ही काव्यवस्तु की अभिव्यक्त आत्मा है।

२. २. शैली और संप्रेषणीयता

शैलीविज्ञान भाषा की उस संभाव्य संरचना और अगाध स्रोत के अध्ययन के माध्यम से साहित्यिक कृति पर प्रकाश डालता है जो सम्प्रेषण-व्यवस्था में संदर्भों से नियंत्रित होकर प्रतिफलित होता है। यही कारण है कि वह भाषा के सामाजिक सन्दर्भ और संप्रेषण-सम्बन्धी प्रयोजनों की उपेक्षा नहीं करता। इन सामाजिक सन्दर्भों और सम्प्रेषणजन्य प्रयोजनों के परिप्रेक्ष्य में ही शैलीविज्ञान को कुछ विद्वान समाज-भाषाविज्ञान की एक उपशाखा मानते हैं। साहित्य के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि अन्य सम्प्रेषणीय घटनाओं की तरह साहित्यिक कृति को भी एक सम्प्रेषणीय घटना के रूप में देखा जा सकता है।

सम्प्रेषण-प्रक्रिया के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि इसमें एक ओर वक्ता (एड्रेसर) होता है जो संदेश (मैसेज) भेजता है और दूसरी तरफ़ श्रोता (एड्रेसी) रहता है जो इस संदेश को ग्रहण करता है। वक्ता और श्रोता के इस संदेश की पृष्ठभूमि में 'कोड' (भाषाविधान) रहता है जो वक्ता और श्रोता को समान रूप देने के लिए इस भाषाविधान का सहारा लेता है। श्रोता भी संदेश के कथ्य को ग्रहण करने के लिए इसी भाषाविधान की सहायता लेता है। संदेश का एक सन्दर्भ होता है जिसे बाह्य एवं आंतरिक जगत के उपादानों का संकेतार्थ (रिफ़रेन्स) भी कहा जा सकता है। इसे संदेश की विषयवस्तु (सब्जेक्ट मैटर) भी कह सकते हैं। संदेश के प्रेषण के लिए वक्ता और श्रोता के बीच एक सरणि (चैनल) होती है जो वक्ता और श्रोता के बीच भौतिक अथवा मानसिक सम्बन्धों का माध्यम बनती

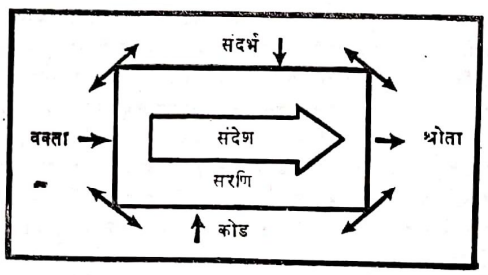

है। सरणि वस्तुतः वक्ता और श्रोता के बीच सम्बन्ध-स्थापन (काण्टेक्ट) का हेतु है।

सम्प्रेषण-प्रक्रिया के विभिन्न उपकरणों को उनके अन्तस्सम्बन्धों के साथ पिछले पृष्ठ पर दिये गये आरेख द्वारा समझा जा सकता है।

संप्रेषण-प्रक्रिया के ये छह उपादान (वक्ता, श्रोता, संदर्भ, कोड और सरणि) भाषा के प्रकार्य की विभिन्न प्रकृति को निर्धारित करते हैं। अतः इन उपादानों के आधार पर भाषा के निम्नलिखित छह प्रकार्य देखे जा सकते हैं :

उपादान	प्रकार्य
१. वक्ता	: अभिव्यक्तिपरक (भावात्मक) (एक्सप्रेसिव)
२. श्रोता	: निदेशपरक (क्रियात्मक) (कोनेटिव)
३. संदर्भ	: संकेतपरक (विषयात्मक) (रिफ़रेंशियल)
४. संदेश	: काव्यपरक (कलात्मक) (एस्थेटिक)
५. कोड	: तर्कपरक (अधिभाषात्मक) (मेटालिंगुअल)
६. सरणि	: संपर्कपरक (संबंधात्मक) (फ़ैटिक)

'अभिव्यक्तिपरक' प्रकार्य भाषा के उस व्यवहार से संबंधित रहता है जो विषय वस्तु के प्रति वक्ता के अपने दृष्टिकोण या भाव को व्यक्त करता है। विस्मयादिबोधक शब्द (ओह, अह ! आदि) या भाषिक अभिव्यक्तियां (क्या ही सुन्दर दृश्य है !) इसके अन्तर्गत आते हैं। साहित्यिक विधाओं के संदर्भ में 'गीतिकाव्य' (लिरिक) इसका अन्यतम उदाहरण है। 'निदेशपरक' प्रकार्य का संबंध श्रोता से रहता है और व्याकरणिक संरचना की दृष्टि से सम्बोधनवाचक, प्रश्नवाचक, आज्ञावाचक अभिव्यक्तियां इसके अन्तर्गत आती हैं। साहित्यिक विधाओं के सन्दर्भ में 'नाटक' को इसका उदाहरण माना जा सकता है। 'संकेतपरक' प्रश्नवाचक प्रकार्य विषय-वस्तु की सूचना देता है। इसके सन्दर्भ से प्राप्त सूचनाएँ बाह्य ज्ञान के सन्दर्भ में सच या झूठी हो सकती हैं। साहित्यिक विधाओं के संदर्भ में इसका उदाहरण उपन्यास या महाकाव्य है। 'काव्यपरक' प्रकार्य का सम्बन्ध स्वयं सन्देश की ओर मुड़ा होने के कारण अभिव्यक्ति की शैलीगत विशेषताओं से जुड़ा हुआ होता है। साहित्यिक रचना की दृष्टि से 'छन्द' तुक और लय अथवा लाक्षणिक और व्यंजनापरक प्रयोग इसके उदाहरण हैं। 'तर्कपरक' प्रकार्य भाषा के प्रति उस भाषा का प्रकार्य है जिसे वैज्ञानिक या तर्कशास्त्री किसी विषयवस्तु की विवेचना के समय उपकरण के रूप में अपनाता है। इस प्रकार्य का प्रयोग हम सामान्य भाषा में भी करते हैं। हम जब यह पूछते हैं—'इसका क्या अर्थ है ?' या 'जो मैं कहना चाहता हूं क्या वह तुम समझ गये ?' तब वस्तुतः इसी प्रकार्य का उपयोग करते हैं। 'सम्पर्कपरक' प्रकार्य वक्ता और श्रोता के बीच भौतिक या मानसिक सम्बन्धों की वह सरणि बनाता है जिसका सहारा लेकर वे संप्रेषण व्यापार में बने रहते हैं। टेलीफ़ोन पर बोला गया पहला शब्द 'हेलो,' वार्तालाप शुरू करते समय अभिवादन-

परक अभिव्यक्तियां या कथा-कहानी सुनते या सुनाते समय यह कहना, 'क्या तुम सुन रहे हो' और 'हूं, हां' आदि इसके उदाहरण हैं।

इस बात पर बल देने की ज़रूरत है कि साहित्य, सम्प्रेषण व्यवस्था का अन्यतम सर्जनात्मक उदाहरण है। उसमें सम्प्रेषण संबंधी कुछ ऐसे अभिलक्षण देखने को मिलते हैं जो मात्र साहित्य के सन्दर्भ में वक्ता/साहित्यकार और प्रथम/उत्तम पुरुष या श्रोता/पाठक और द्वितीय/मध्यम पुरुष के प्रयोजन और प्रकार्य को द्वैत की स्थिति में होते हैं। हम देखते हैं कि काव्यकृति के सन्दर्भ में कृतिकार वक्ता और काव्य-संसार का उत्तम पुरुष एक नहीं और न ही कृति का वह पाठक ग्रहीता ही काव्य-संसार का मध्यम पुरुष होता है, जिसे कृतिकार प्रच्छन्न रूप से सम्बोधित करता है और जिस तक काव्य-संदेश सम्प्रेषित करना चाहता है। इसके अतिरिक्त हम यह पाते हैं कि काव्य-संसार का उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष, अपने संदेश के सन्दर्भ में कई विभिन्न प्रकार के अन्य पुरुष को अपने भीतर खींचते-समेटते चलते हैं जिन्हें बाह्य जीवन का सामान्य सांकेतिक वस्तु नहीं माना जा सकता है।

इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए हम दो उद्धरित कविताओं में 'हम' के प्रयोग और संकेतित 'वस्तु' मछली के अर्थ और सार्थकता पर दृष्टि डाल सकते हैं।

सोनमछली

हम निहारते रूप,
काँच के पीछे
हाँफ रही है मछली।
रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा। —अज्ञेय

मछलियां

हमें लोग क्यों खाते हैं ?
क्योंकि
हम ख़ुद
अपनी बिरादरी को खाती हैं।
यही परम्परा है।
यही परम्परा है। —शमशेर बहादुर सिंह

कहने की ज़रूरत नहीं कि 'सोनमछली' का 'हम' पूरी मनुष्य जाति के लिए प्रयुक्त व्यक्तिवाचक सर्वनाम है जब कि 'मछलियाँ' का 'हम' पाठ की पहली सतह के सन्दर्भ में 'मछली जाति' को अपना संकेतार्थ बनाता है। 'हम खुद अपनी बिरादरी को खाती हैं।' उक्ति में कर्ता-क्रिया की अन्विति से स्पष्ट है कि 'हम' स्त्रीलिंग हैं क्योंकि वह मछली जाति के एक विशिष्ट पक्ष का प्रतीक बन जाती है।

इसके विपरीत अन्य पुरुष के रूप में 'सोनमछली' की 'मछली' एक ओर किसी भी ऐसी वस्तु/प्राणी का प्रतीक बनती है जो ऊपर से रूपयुक्त (सौन्दर्यपरक) है (जिसमें हम' उलझकर रह जाता है) पर भीतर से जीने की तीव्र लालसा से प्रेरित होकर संघर्षरत है। (बाहरी रूप में उलझने के कारण जिसे 'हम' न तो देख पाता है और न ही जिसका अनुभव करता है।)

कवि-वक्ता और काव्य-उत्तम पुरुष अथवा पाठक-श्रोता और काव्य-मध्यम पुरुष के इस द्वैत स्थिति का ही परिणाम है कि साहित्य जिस सम्प्रेषण-स्थिति का निर्माण करता है उसमें एक ओर हम कभी 'गदहे' या 'शहर' को 'मैं' शैली को अपनाते हुए देखते हैं और दूसरी ओर 'फूल,' 'नदी' या 'बादल' को मध्यम पुरुष के रूप में सम्बोधित होते हुए पाते हैं। यही कारण है कि साहित्य के क्षेत्र में सम्प्रेषणीयता का प्रश्न अपना एक निश्चित सन्दर्भ लिए होता है जो दैनिक जीवन में प्रयुक्त सम्प्रेषणीयता की समस्या से भिन्न और विशिष्ट होता है। इस विशिष्टता के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि **अन्तर्निष्ठ और बहिर्निष्ठ शैली की तरह साहित्य में सम्प्रेषण व्यापार के भी दो सन्दर्भ हैं—पहला सन्दर्भ काव्य जगत के भीतर का है जहां काव्य-व्यक्तित्व (वक्ता और श्रोता) अपने क्रिया-कलापों द्वारा काव्य-सन्देश का सृजन करते हुए देखे जा सकते हैं और दूसरा संदर्भ साहित्य के बाहरी आवरण का है जहाँ साहित्यकार वक्ता होता है, पाठक श्रोता होता है और काव्यकृति स्वयं में सन्देश का काम करती है।**

२. ३. शैली और वाग्मिता

साहित्य के सन्दर्भ में वाग्मिता (रिटोरिक) को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक दृष्टि 'रचना के आभिजात्य' से सम्बन्ध रखती है जहाँ शैली को परिष्कृत और संस्कारित करने की बात उठाई जाती है और जहाँ अभिव्यक्ति प्रणाली को लालित्य भाव से अधिक रंजित करने की ओर प्रयत्नशील होने की चर्चा की जाती है। दूसरी दृष्टि का सम्बन्ध भाषिक उन तत्त्वों से रहता है जो श्रोता/पाठक में भाव-प्रोद्दीपन में सहायक होते हैं। इस सन्दर्भ में वाग्मिता का सम्बन्ध 'वक्तृत्व' (इलोक्यूशन) तथा संदेश-प्रस्तुतीकरण, और उसकी रीति या लहजे (डेलिवरी) से रहता है। (वाग्मिता का प्रयोग यहाँ हम इस दूसरे अर्थ में कर रहे हैं।)

वाग्मिता का सम्बन्ध वस्तुतः संदेश के प्रस्तुतीकरण से जुड़े रहने के कारण उस रूपविधान से रहता है जो काव्यकृति के बाहरी (आवरण) स्वरूप को निर्धारित करता है अतः उसका सम्बन्ध मूलतः सम्प्रेषण व्यापार में कवि-सन्देश-पाठक के सन्दर्भ से जुड़ा होता है। उदाहरण के लिए जब हम 'पृथ्वीराज रासो' और 'बीसलदेव रासो' के प्रस्तुतिविधान पर ध्यान देते हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ पृथ्वीराज रासो में महाकाव्यात्मक कथानक को कहने का लहजा, मात्र कहने या पढ़ने का लहजा है वहां बीसलदेव रासो में 'बैलेड' का वह लोकरूप पाते हैं जो सामूहिक रूप से गाने के विधान से भी बँधा हुआ है। उसमें नाद-रूप की वह

योजना भी देखने को मिलती है जो उसे सामूहिक गान के योग्य बनाती है। तुलसी के 'रामचरितमानस' के रूपविधान पर किंचित् भी ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कथा-प्रस्तुतीकरण का उनका लहजा बैलेड परम्परा के इस सामूहिक गान से प्रभावित है। यद्यपि उन्होंने अपने महाकाव्यात्मक कथानक को लिखित फ़ार्मेट में ही अभिव्यक्त किया है पर उनका यह फ़ार्मेट 'मौखिक कथा' और 'श्रुति परम्परा' (ओरल ट्रेडिशन) की तकनीक योजना से बहुत दूर तक प्रभावित और नियंत्रित है। स्वयं तुलसीदास इस तथ्य के प्रति सचेत थे और इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि वे अपने महाकाव्य को प्रस्तुति के उस लहजे से बाँधे कि वह 'सामूहिक गान' के योग्य बन सके। 'मानस' के सामूहिक गान के इस फ़ार्मेट की ओर 'मानस' में ही यत्र-तत्र संकेत भी हमें देखने को मिलते हैं, यथा :

'गिरा ग्राम्य सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान'

'कवि कोविद अस हृदय विचारी। गावहिं हरि गुन कलि-मल-हारी'

'हरी चरित मानस तुम गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा।'

वाग्मिता के इस 'गान-फ़ार्मेट' और काव्यवस्तु की नाद-संयोजना की शैली के अन्तर को स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। काव्यवस्तु की शैली का सम्बन्ध शब्दों एवं भाषिक उन विधानों से रहता है जो काव्य-सन्देश की अपनी आन्तरिक आवश्यकता के कारण होती है। उदाहरण के लिए 'माधुर्य भाव' के लिए शब्द-योजना को ही लें, यथा :

'कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।'

यहाँ ध्वनि-योजना की प्रभावात्मकता, अनुरणनात्मक नाद के लघु अक्षर-विन्यास की लघु लहरियों से संयुक्त होने और 'शब्दों' को 'ठोस' संवेदनात्मक रूप देने में निहित है। यह पूरी योजना काव्यवस्तु के सर्जनात्मक पक्ष से जुड़ी हुई है।

इसी प्रकार संवाद-संरचना के सन्दर्भ में भी वाग्मिता और शैली के अन्तर को मानस के प्रसंग में देखा जा सकता है। तुलसी स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि मानस की संवाद-योजना सुविचारित ढंग से रची गयी है और वहाँ रामकथा के 'पावन सुभग सर' को संवाद-योजना के 'चार मनोहर घाटों' द्वारा बांधने का प्रयत्न किया गया है। ये चार घाट वस्तुतः चार संवाद योजनाएं हैं जिनके वक्ता और श्रोता हैं:(१)याज्ञवल्क्य-भरद्वाज,(२) काकभुशुण्डि-गरुड,(३)शिव-पार्वती और (४) स्वयं तुलसी (कवि) और पाठक। वस्तुतः यह संवाद-योजना वाग्मिता के उपकरण हैं जिनके सहारे साहित्यकार रामकथा का आख्यान प्रस्तुत करता है। यह कथानक को बाँधने का संपुटन तकनीक है जिसके आवृत्त में कथा को संघटित किया जाता है।

वाग्मिता के इस आख्यानपरक संपुटन तकनीक को उस संवाद शैली से अलग कर देखना चाहिए जो काव्यवस्तु की आभ्यंतर गतिशीलता का परिणाम होता है। काव्यवस्तु के संदर्भ में कथानक जिस नाटकीय क्रिया विधान की अपेक्षा रखता है उससे परिचालित होकर जो संवाद का आयाम निकलता है उसकी

प्रकृति दूसरी होती है। 'मानस' की कला-योजना में ऐसे कई संवाद-स्थल देखने को मिलते हैं जिनका उद्देश्य 'कथा' कहना या आख्यानात्मक सम्पुटन नहीं वरन् काव्यवस्तु की गत्यात्मकता की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है; यथा, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद, कैकेयी-मंथरा-संवाद, केवट-राम-संवाद, अंगद-रावण-संवाद आदि।

यह कहा जा सकता है कि शैली के दो निश्चित आयाम हैं—काव्यवस्तु को बाँधने का बाहरी संपुटन तकनीक (अर्थात् वाग्मिता) और काव्यवस्तु की आन्तरिक गत्यात्मकता को अभिव्यक्त करने वाली काव्यशैली। 'मानस' से उदाहरण लेते हुए कहा जा सकता है कि 'गावहिं सुनहिं सुजान' अगर वाग्मिता के प्रसंग को उभारता है तो 'कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि' काव्य शैली को या याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, काकभुशुण्डि-गरुड़, शिव-पार्वती के संवाद अगर वाग्मिता के उपकरण हैं तो लक्ष्मण-परशुराम, कैकेयी-मंथरा, अंगद-रावण काव्य शैली के उपांग।

२. ४. शैली और विधा

सम्प्रेषण व्यवस्था के तीन आधारभूत उपादानों (अर्थात् वक्ता, श्रोता और सन्दर्भ) और उनसे सम्बद्ध भाषिक प्रकार्य (अभिव्यक्तिपरक/भावात्मक, निदेशपरक / क्रियात्मक और संकेतपरक / विषयात्मक) पर अगर ध्यान दें और उनके परिप्रेक्ष्य में तीन प्रमुख साहित्यिक विधाओं (गीत, नाटक और महाकाव्यों) की बुनावट और रचनाविधान पर विचार करें, तब यह स्पष्ट लगता है कि इनमें कार्य-कारण का एक सम्बन्ध भी है। इन सम्बन्धों पर अनेक विद्वानों ने अपना विचार व्यक्त किया है जिनको नीचे दी गयी तालिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

महाकाव्य	गीत	नाटक
संदर्भ (संकेतपरक)	वक्ता (अभिव्यक्तिपरक)	श्रोता (निदेशपरक)
विचारार्थक बोधात्मक अनुभव स्थितिपरक घटना	भावार्थक रागात्मक अनुभव स्ववृत्तिपरक घटना	इच्छार्थक प्रेरणात्मक अनुभव लक्ष्यगामी क्रियापरक घटना
स्थतिक क्रिया और आवेश परिपक्वता	गत्यात्मक विश्वास और भग्नाशा तारुण्य	निदेशात्मक संक्रान्ति वृद्धत्व
प्रकृतिवादी विगत चेतनाधुरी स्मृतियों की अन्विति	मनःप्रभाववादी वर्तमान चेतनाधुरी अनुभवों की अन्विति	आदर्शवादी भविष्य चेतनाधुरी क्रियाकलापों की अन्विति
डियेजिसिस और मिमेसिस का सम्मिश्रण	डियेजिसिस	मिमेसिस
कवि-पात्र स्वर का एकांतरण	कवि-स्वर	पात्र-स्वर

इन तीन प्रमुख विधाओं को ही ध्यान में रखकर इलियट ने तीन अन्तर्निहित स्वरों की ओर संकेत दिया है। उनके अनुसार पहला स्वर, गीत-स्वर होता है जिसे कवि स्वयं को संबोधित कर व्यक्त करता है और पाठक के रूप में हम उसे अधिश्रवण कर भावानुभूत होते हैं। दूसरा महाकाव्य-स्वर होता है जिसे कवि कथावाचक के रूप में पाठक को संबोधित कर व्यक्त करता है और तीसरा, नाटक-स्वर होता है जिसे कवि पात्रों के माध्यम से किसी क्रियाकलाप के संयोजन के निमित्त प्रयोग में लाता है। एक दूसरे आलोचक के अनुसार गीतकार के रूप में कवि बहते हुए कालप्रवाह की एक लघु-लहर है, नाटककार के रूप में वह सभी लहरों का प्रत्यक्षदर्शी साक्ष्य है और महाकाव्यकार के रूप में तट पर स्थित वह द्रष्टा और उसका आख्याता है जो नदी की लहरों में घटित हो रहा है। इसी प्रकार वक्तृता, आख्यान और कथा-विधान के सन्दर्भ में कवि-वक्ता के प्रकार्य-सम्बन्धों की प्रकृति को लेकर एक लेखक-आलोचक का यह विचार है कि गीत वह रूपात्मक विधा है जहां कलाकार अपने अनुभव एवं प्रतिबिम्ब को व्यक्त करते समय स्वयं से अव्यवहित (इमिडियेट) रूप में सम्बन्ध बनाए रखता है, महाकाव्य वह रूपात्मक विधा है जहाँ वह अपने अनुभव एवं प्रतिबिम्ब को व्यक्त करते समय अपने और अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहित और मध्यस्थ (मिडियेट) रूप में सम्बन्ध बनाये रहता है और नाटक वह रूपात्मक विधा है जहाँ उसके और अन्य व्यक्तियों के साथ केवल संबंध होता है और वह भी अव्यवहित रूप में।

गीत, महाकाव्य और नाटक के इस त्रिविधात्मक वर्गीकरण पर कई प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। पहला प्रश्न तो यही उठता है कि विधात्मक प्रतिफलन के रूप में आज अनेक अन्य विधाएँ भी देखने को मिलती हैं; यथा, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, रेखाचित्र आदि। इनके विश्लेषण-अध्ययन का आधार क्या होगा? दूसरा प्रश्न यह लेकर उठाया जा सकता है कि क्या हमें गीतात्मक महाकाव्य या नाटक, महाकाव्यात्मक गीत या नाटक अथवा नाटकात्मक गीत (नाट्यकाव्य) या महाकाव्य देखने को नहीं मिलते? अगर मिलते हैं तब गीत और गीतात्मकता अथवा महाकाव्य और महाकाव्यात्मकता के भेद को सामने रखने की क्या आवश्यकता नहीं? इसी प्रकार तीसरा प्रश्न इस बात को लेकर उठ सकता है कि क्या एक ही रचना में गीतात्मकता, महाकाव्यात्मकता और नाट्यात्मकता तीनों के लक्षण देखने को नहीं मिल सकते? सूरदास कृत 'सूरसागर' को ही लें। क्या इस कृति में तीनों अभिलक्षण उपलब्ध नहीं? एक चौथा प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि 'गीत' या 'गीतात्मकता' क्या अपने अभिलक्षण में परिमाणात्मक नहीं हो सकते? अगर हम शुद्ध गीत (लिरिक), सम्बोध-गीत (ओड) और सुभाषित काव्य (एपिग्राम) की प्रकृति पर ध्यान देते हुए उनमें गीतात्मकता का मापांकन करें तो क्या उनमें उसकी स्थिति को मात्राभेद के साथ नहीं पाते?

इन प्रश्नों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि जब हम गीत, महाकाव्य, नाटक आदि विधा-रूपों की चर्चा करते हैं तब उनको हम मात्र एक वर्गीकृत श्रेणी

या कोटि के रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं। ये वर्ग वस्तुतः विवरणात्मक श्रेणियाँ हैं जब कि गीतात्मकता, महाकाव्यात्मकता, नाटकात्मक आदि वे अभिलक्षण (गुच्छ) हैं जिन्हें हम शैली के क्षेत्र के उपकरण मान सकते हैं। ये शैलीतत्त्व अपने विभिन्न अनुपातों में विभिन्न कृतियों में संयोजित मिलते हैं। महाकाव्य की केंद्रीय चेतना का सन्दर्भ अन्य पुरुष बनता है और उसमें संदर्भ और भाषा के संकेतपरक (रिफ़रेंशियल) प्रयोजन की प्रधानता होती है पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें 'वक्ता' अथवा भाषा के अभिव्यक्तिपरक प्रयोजन या 'श्रोता' अथवा भाषा के निदेशपरक प्रयोजन की सत्ता का नितान्त अभाव होता है। उसमें भी 'वक्ता' अथवा भाषा के अभिव्यक्तिपरक प्रयोजन या 'श्रोता' अथवा भाषा के निदेशपरक प्रयोजन की सत्ता का नितान्त अभाव नहीं होता है। उसमें भी 'वक्ता' और 'श्रोता' का परिप्रेक्ष्य बना रहता है पर 'सन्दर्भ' तत्त्व के अनुपात में उसकी स्थिति गौण रहती है। यही कारण है कि साहित्यिक रचनाओं में गीत-स्वर, महाकाव्य-स्वर और नाटक-स्वर की चर्चा करने के उपरान्त इलियट यह सन्देह व्यक्त करने के लिए बाध्य हैं कि किसी भी एक कविता में मात्र कोई एक स्वर होता है, और इसके साथ संरचनात्मक विधान के सन्दर्भ में यह कहने के लिए विवश हैं कि अन्ततः ये तीनों स्वर एक आंतरिक अन्विति के साथ ही रचना में मिलते हैं और यही सर्जनात्मक संरचना की उपलब्धि भी है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि **साहित्यिक विधाएँ रचनाओं को वर्गीकृत करने की मात्र विवरणात्मक श्रेणियाँ हैं जब कि शैली के अभिलक्षण-गुच्छ (फ़ीचर काम्प्लेक्स) हैं जो अपने विभिन्न आनुपातिक संयोग और अपने विभिन्न प्रयोजनों के सोपानिक संगठन (हियरार्किकल आर्गेनिज़ेशन) के आधार पर एक ओर विवरणात्मक श्रेणियों के निर्धारण के लिए आधार बनते हैं और दूसरी ओर काव्यकृति को संरचनात्मक विशिष्टता प्रदान करते हैं।**

२. ५. शैली की गत्यात्मकता

शैली और शैलीय तत्त्वों की विवेचना करते समय कई युग्मों की ओर पहले संकेत दिया गया है; यथा बहिर्निष्ठ शैली और अन्तर्निष्ठ शैली, कवि व्यक्तित्व और काव्य-व्यक्तित्व, शैली और वाग्मिता, शैली और विधा आदि। काव्यकृति के सन्दर्भ में वस्तुतः इनका सन्दर्भ बाहरी आवरण या रूपविधान तथा आन्तरिक प्रकृति या साहित्यिकता से है। यह भी कहा जा सकता है कि एक का सम्बन्ध उस वृत्ति से है जो काव्यवस्तु एवं काव्यसंवेदना की धुरी से बँधी होती है और दूसरे का सम्बन्ध इस काव्य-वस्तु के प्रावृत (एनकैप्सुलेशन) और परिसंपुटन (इनकेसमेंट) के साथ होता है जो काव्य वस्तु को बाँधने और संप्रेषित करने की आवश्यकता से परिचालित होती है।

पर साहित्यिक कृति के सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि ये दोनों वृत्तियाँ अपनी प्रकृति में विशिष्ट और प्रयोजन में भिन्न होने के बावजूद सर्जनात्मक संरचना के सन्दर्भ में एक-दूसरे से गुँथी और घुली-मिली होती हैं। यही नहीं जो शैलीय तत्त्व बहिर्निष्ठ शैली के स्वाभाविक उपकरण होते हैं साहित्यकार उनका सर्जनात्मक प्रयोग अन्तर्निष्ठ शैली के लिए भी करता पाया जा सकता है। इसी प्रकार जो भाषिक उपकरण वाग्मिता के क्षेत्र में प्रायः देखने को मिलते हैं साहित्यकार को उन्हें काव्यवस्तु के सर्जन का हेतु भी बनाते हुए देख सकते हैं। शैलीय तत्त्वों के ऐसे सर्जनात्मक प्रयोग को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि शैली, **कोई एक स्थिर संकल्पना एवं रूढ़ मान्यता नहीं वरन उसकी प्रकृति गत्यात्मक होती है जिसे काव्यात्मक प्रयोजनों के सन्दर्भ में अभिव्यक्तिपरक अभिलक्षण-गुच्छ के रूप में समझा जा सकता है।**

उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि बहिर्निष्ठ शैली अपनी प्रकृति में सूचनापरक होती है। उसके माध्यम से हम प्रयोक्ता (साहित्यकार), प्रयुक्ति, स्थान, काल आदि की सूचना पाते हैं। वस्तुतः भाषा अपने व्यवहार और प्रयोग में विषमरूपी (हेटरोजेनस) होती है क्योंकि उसमें भाषा-प्रयोग के अनेक विकल्पन (वेरियेशन्स) मिलते हैं। ये विकल्पन न तो यादृच्छिक होते हैं और न ही किसी त्रुटि के परिणाम। इसीलिए भाषा-वैविध्य के भीतर भी एक निश्चित व्यवस्था या पैटर्न देखा जा सकता है। वस्तुतः भाषा एक संभावना है जिसे व्यक्ति स्थान, काल और प्रयोग आदि सन्दर्भों में प्रतिफलित करता है। अतः भाषा-वैविध्य को भाषा-व्यवहार के कई स्तरों पर और कई सन्दर्भों में देखा जा सकता है।

जिस भाषाभेद का कारण 'वक्ता' होता है उसे प्रयोक्ता-सापेक्ष विकल्पन कहा जा सकता है। जब वह भाषाभेद वक्ता के रहने के स्थान (भौगोलिक क्षेत्र) का परिणाम होता है तब उसको क्षेत्रीय शैली के अन्तर्गत रखा जाता है। उदाहरण के लिए एक क्षेत्र में हम 'ए' 'औ' ध्वनियों को मूल स्वर के रूप में बोलते हैं तो दूसरे क्षेत्र में संध्यक्षर के रूप में (यथा, पैसा-पइसा, और-अउर); एक स्थान पर हम संख्यावाचक शब्दों में 'इ' का प्रयोग करते हैं तो दूसरे स्थान पर 'ए' का (इक्कीस-एक्कीस; इकसठ-एकसठ आदि); एक भौगोलिक खण्ड में हम अनुस्वार का प्रयोग पाते हैं तो दूसरे में अनुनासिक का (पाण्डे-पाँड़े; साण्ड-साँड़ आदि)। शब्दों के स्तर पर भी यह भेद देखा जा सकता है। एक क्षेत्र में जिसे हम 'जुराब' कहते हैं, दूसरे क्षेत्र में उसीको 'मोजा', एक भाग में 'घीया' या 'तोरी' कहते हैं तो दूसरे में 'लौकी' और 'नेनुआ'। इसी प्रकार जब भाषा-भेद का आधार वक्ता का सामाजिक (उच्च, मध्य, निम्न वर्ग) अथवा शैक्षिक-सांस्कृतिक (शिक्षित, अर्द्ध-शिक्षित, अशिक्षित) स्तरभेद होता है तब वह 'सामाजिक शैली' के अन्तर्गत आता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा एक संभावना है और वह विकल्प से चुनाव की छूट देती है। जहाँ भी हमें 'विकल्प से चुनाव' की छूट मिलती है वहाँ हमें एक अतिरिक्त अर्थ की संभावना भी मिलती है। यह अतिरिक्त अर्थ, चुनाव-सापेक्ष होने के कारण शैलीगत होता है। अगर इस चुनाव का कारण व्यक्ति का स्थान,

सामाजिक स्तर आदि है तब वह उससे सम्बद्ध तथ्यों की सूचना भी देता है। उदाहरण के लिए वह यह बतला सकता है कि वक्ता / साहित्यकार भोजपुरी क्षेत्र का है या उसपर पंजाबी का प्रभाव है, उसकी अस्मिता आभिजात्य उच्च वर्ग के साथ है या समाज के निचले वर्ग के साथ। चूंकि ये सूचनाएँ काव्यवस्तु के न तो रंजक तत्व हैं और न ही काव्यवस्तु की प्रकृति के निर्धारक, इसलिए इन्हें बहिर्निष्ठ शैली के अन्तर्गत रखा गया है।

पर शैली की गत्यात्मकता इसमें निहित है कि साहित्यकार अपने काव्य-संसार को ठोस रूप देने के लिए इन्हीं बहिर्निष्ठ शैलीगत उपादानों का सर्जनात्मक प्रयोग करते हुए उसे अन्तर्निष्ठ शैली के दायरे के भीतर खींच लाता है। वह 'सूचनात्मक' तत्त्वों के आधार पर कृति के भीतर के संसार का निर्माण करता है, स्थान-विशेष या पात्र-विशेष को मूर्तमान रूप देने के समय यह व्यंजित करना चाहता है कि कथ्य का संबंध किस 'अंचल' से है, उसके पात्रों का सामाजिक स्तर क्या है, घटना किस युग की है आदि। उदाहरण के लिए 'मैला आँचल' में पूरबी बोली, 'बहती गंगा' में बनारसी-भोजपुरी और 'सागर, लहरें और मनुष्य' में बम्बई के पश्चिमी समुद्र तट के जनपद की बोली का सार्थक प्रयोग हम देखते हैं। सूचनापरक बहिर्निष्ठ शैली के सर्जनात्मक प्रयोग के आधार पर ही भट्ट जी ने मछुआरों के गांव बरसोवा के जीवन को गहरे और चमकदार रंगों में उभारा है। वैसे प्राकृतिक चित्रण को भट्ट जी ने मानक हिन्दी के भाषा रूप में व्यक्त किया है; यथा, "आसमान की बिजली को छोड़कर कहीं कोई प्रकाश का चिह्न नहीं था। लोगों के हृदय का प्रकाश बुझ रहा था। बाहर खड़े लोगों के मन बिना समुद्र के पानी के ही भय, आशंका में डूबे जा रहे थे।" पर बरसोवा उपनगर के जीवन के यथार्थ चित्रण में उन्होंने जिस भाषागत बहिर्निष्ठ शैली का प्रयोग किया है वह एक ओर बम्बई के मछली मार्केट के एजेण्ट आदि के सामाजिक उपवर्ग को यथार्थता देती है और दूसरी ओर मछुआरों के उपवर्ग को विशिष्ट बनाती है। पहले उपवर्ग की बोलीगत विशिष्टताओं के लिए: "हमारा मालिक भीमसी भाई दाँत से चाय पीता है। बड़ा मुनीम होठ से गठिया तोड़ताय। हमकू दोनों का तमाशा सारा लगताय..." दूसरे उपवर्ग की विशिष्टता के लिए: "हमारा-तोरा लगन पैले हो चुकाय रत्ना, याद है तेरे कू?" रत्ना ने कहा, "हम नई चायता था। पन को क्या लगन था?"

३. शैलीविज्ञान की कुछ प्रायोगिक संकल्पनाएँ

शैलीविज्ञान साहित्यिक आलोचना का सिद्धान्त ही नहीं वरन साहित्यिक कृतियों के अध्ययन की प्रणाली और तकनीक भी है। यही कारण है कि उसकी प्रकृति सैद्धान्तिक के साथ-साथ संक्रियात्मक (ऑपरेशनल) भी है। यही कारण है कि भाषाविज्ञान या किसी भी अन्य वैज्ञानिक विषय-क्षेत्र की तरह इसके भी दो सन्दर्भ बनते हैं—सैद्धान्तिक और संक्रियात्मक। शैलीविज्ञान आलोचना का वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी इसीलिए है कि वह सैद्धांतिक स्तर पर स्वीकृत अपनी आधारभूत एवं स्वयंसिद्ध मान्यताओं के विवेचन के लिए एक संक्रियात्मक संदर्भ देने में समर्थ है।

सिद्धांतरूप में शैलीविज्ञान साहित्य को 'शाब्दिक कला' और साहित्यिक रचना को 'कलात्मक शाब्दिक प्रतीक' मानता है और प्रणाली के रूप में वह कथ्य (वाच्य) और अभिव्यक्ति (वाचक) के सम्बन्धों के आधार पर कृति में निहित सौन्दर्योन्मुखी ऐन्द्रिय संवेग के अध्ययन और उद्घाटन की तकनीक प्रस्तुत करता है। स्वाभाविक है कि 'शैली' की अवधारणा को भी दो निश्चित सन्दर्भों में देखा जाये। पहला उसका सैद्धान्तिक सन्दर्भ है, जिसकी चर्चा करते समय यह संकेत दिया जा चुका है कि वह एक ओर भाषा तथा साहित्य और दूसरी ओर साहित्य और कला को अनुबन्धित करने वाली संकल्पना है। दूसरे शब्दों में, शैली कलात्मक संवेग को अभिव्यंजित करने वाला भाषिक विधान/संरचना है।

पर सिद्धान्त के रूप में जो शैली की अवधारणा है उसे आलोचना की प्रणाली के स्तर पर संक्रियात्मक अभिकरण (ऑपरेशनल एजेन्सी) के रूप में भी परिभाषित करने की आवश्यकता है। आलोचना को वैज्ञानिकता के स्तर पर ग्रहण करने के लिए यह जरूरी है कि उसकी आधारभूत अवधारणाओं को सिद्धान्त या दृष्टिकोण (एप्रोच), प्रणाली (मेथड) और तकनीक (टेकनीक) तीनों ही सन्दर्भों में परिभाषित किया जाये। सच तो यह है कि दृष्टिकोण, प्रणाली और तकनीक के अन्तस्सम्बन्धों की प्रकृति को ठीक से न समझ पाने के कारण ही शैलीविज्ञान के सन्दर्भ में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। जो आलोचक यह कहते पाये जाते हैं कि शैलीविज्ञान की प्रणाली सर्जनात्मक आलोचना की विरोधी है अथवा शैलीविज्ञान काव्य-शरीर के विश्लेषण तक सीमित आलोचना-तकनीक है, वे वस्तुतः दृष्टिकोण, प्रणाली और तकनीक के सम्बन्धों को झुठला देते हैं।

इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि सिद्धान्त का सम्बन्ध साहित्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण से बँधा होता है। इसकी प्रकृति दर्शन की स्वयंसिद्ध मान्यताओं के समान होती है। दृष्टिकोण होने के कारण इसको बुद्धिजन्य तर्क द्वारा सिद्ध या असिद्ध नहीं किया जा सकता। अगर इसके विवेचन से कोई सन्दर्भ बनता है तो वह है उस प्रणाली के प्रभावी अनुप्रयोग का सन्दर्भ जो सिद्धान्त के ही गर्भ से उत्पन्न होता है। प्रणाली सैद्धान्तिक दृष्टि द्वारा नियन्त्रित वह समग्र योजना है जो (शैलीय) तत्त्वों को इस प्रकार नियोजित करती है कि उस (शैली) का एक अंग, दूसरे अंग के विरोध में न आ जाये।

एक सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि पर आधारित कई प्रणालियाँ सम्भव हैं। यह भी हम कह सकते हैं कि कई प्रणालियों के पीछे एक सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि हो सकती है पर दो भिन्न सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टियाँ एक प्रणाली में नहीं सिमट सकतीं। उदाहरण के लिए भारतीय काव्यशास्त्र की सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि वह काव्य को शब्दार्थ के मंजुल और विशिष्ट सम्बन्धों

का परिणाम मानती है। यही कारण है कि काव्यात्मा के जिस 'तत्त्व' को जिस भी सम्प्रदाय ने काव्यसिद्धान्त अथवा काव्यविश्लेषण के लिए अपना साधन बनाया (यथा, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि) उसकी प्रकृति को उन्होंने मूलतः भाषिक ही स्वीकार किया। इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि उनकी अन्तर्दृष्टि तो एक थी पर विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में उसने काव्य-विश्लेषण के लिए विभिन्न प्रणालियों का विकास किया। कुछ विद्वानों ने भ्रमवश कुन्तक जैसे देहवादी आचार्य और आनन्दवर्द्धन जैसे आत्मवादी आचार्य की साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं एवं अन्तर्दृष्टियों में आधारभूत अन्तर दिखाने का प्रयत्न किया है। पर अन्यत्र इस सन्दर्भ में चर्चा करते हुए दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि काव्य-सम्बन्धी चेतना की व्यापक विचारभूमि पर इन आचार्यों की अन्तर्दृष्टि में कोई मूलभूत न तो अन्तर है और न भाषा-संदर्भित चिन्तन-पद्धति में ही कोई विभेद है। सम्भवतः इसी कारण महिमभट्ट ने यह संकेत दिया है कि अगर कुन्तक की वक्रोक्ति की संकल्पना का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाये तो वह व्यंजना से भिन्न नहीं दिखलाई पड़ती। वास्तविकता तो यह है कि वक्रोक्ति ध्वनि की ही वस्तुगत परिकल्पना थी। इस सन्दर्भ में यह कहना अनुचित न होगा कि कुन्तक और आनन्द-वर्द्धन की काव्य-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि तो एक थी पर उनकी विश्लेषणात्मक प्रणाली में विभेद था।

यही स्थिति सम्प्रति शैलीविज्ञान के क्षेत्र में भी देखी जा सकती है। सभी शैलीवैज्ञानिक साहित्य को शाब्दिक कला मानते हैं और कृति को भाषा और कला के अनुबन्धन के क्षेत्र का प्रतीक; पर विश्लेषण के लिए वे भिन्न प्रकार के प्रारूप (मॉडल) की प्रणालीगत संकल्पना को सामने लाते हैं। ये विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि साहित्य में कला की प्रकृति शाब्दिक होती है अतः उसके विश्लेषण के अध्ययन के लिए शैलीविज्ञान भाषावैज्ञानिक प्रणाली को ग्रहण करने की विवशता से बाध्य है। पर यह भाषावैज्ञानिक प्रणाली कौन-सी हो, इसपर मतभेद के कारण शैलीवैज्ञानिक प्रणाली में भी अन्तर देखने को मिलता है। रोमन याकोब्सन, ओहमान, हैलिडे, वार्थ, ग्रिमा आदि विद्वानों द्वारा शैलीविज्ञान-सम्बन्धी प्रणाली में इसीलिए भेद देखने को मिलता है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि **प्रणाली सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि सापेक्ष होती है पर सैद्धान्तिक अंतर्दृष्टि स्वयं अपना सन्दर्भ रखती है; और शैलीविज्ञान की अपनी एक विशिष्ट अन्तर्दृष्टि है पर उस अन्तर्दृष्टि पर आधारित इस समय कई प्रणालियाँ देखी जा सकती हैं जिनके मूल में वस्तुतः भाषाविश्लेषण-सम्बन्धी विभिन्न प्रारूप हैं।**

जहां तक तकनीक का सम्बन्ध है वह प्रणाली के अनुप्रयोगात्मक पक्ष का अभिकरण (एजेन्सी) है जिसके सहारे आलोचक काव्यकृति का विश्लेषण-अध्ययन प्रस्तुत करता है। किसी निश्चित काव्यकृति या उसके किसी विशिष्ट पक्ष को समझने-समझाने में किसी एक तकनीक के सहारे अगर आलोचक सफल नहीं हो पाता तो उसीके लिए वह दूसरी तकनीक का प्रयोग करता है। तकनीक हमेशा

प्रणाली-सापेक्ष होती है इसलिए तकनीक-सम्बन्धी अभिकरणों में एक अन्विति बनी रहती है। उदाहरण के लिए हम 'अग्रगामिता' या 'पेशबन्दी' (फ़ोर-ग्राउंडिंग) की संकल्पना को ही लें। 'पेशबन्दी' का प्रयोग साहित्यकार अनुभवों एवं अनुभूतियों की यांत्रिकता को तोड़ने के लिए करता है। कलात्मक संवेग के उद्देश्य को पूरा करने के लिए साहित्यकार भाषा के सर्जनात्मक पक्ष का सहारा लेते हुए उसके नियमों का अतिक्रमण करता है। यह अतिक्रमण एक ओर भाषिक नियमों से साभिप्राय विचलन (डेविएशन) के अभिकरण के रूप में देखा जा सकता है और दूसरी ओर 'समानान्तरता' (पैरेलेलिज्म) के अभिकरण के रूप में भी। 'विचलन' और 'समानान्तरता' दोनों का ही सम्बन्ध कथ्य के 'क्या' पक्ष से नहीं जुड़े होते वरन वे उसके 'कैसे' पक्ष से सम्बद्ध होते हैं। अगर हम यह मानें कि 'काव्यार्थ' मात्र 'कथ्य के क्या' पक्ष में ही सीमित नहीं होता अपितु 'कथन की भंगिमा' में भी निहित होता है तब यह कहा जा सकता है कि 'विचलन' और 'समानान्तरता' दोनों ही सर्जनात्मक भाषा के वे अभिकरण हैं जो यांत्रिकता से मुक्ति दिलाने में सहायक हैं। साहित्य-सृजन की दृष्टि से यह कहना संभव है कि एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त 'विचलन' और 'समानान्तरता' दो तकनीकी अभिकरण हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि **तकनीक, प्रणाली सापेक्ष होता है और शैलीविज्ञान अपने विश्लेषण-अध्ययन के लिए जिस प्रणाली को अपनाता है वह भाषाविज्ञान (और उसके प्रारूपों) पर अवलम्बित है अतः शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण की तकनीक भी उन्हीं अभिकरणों को अपनाती है जो भाषावैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली से उपलब्ध हो सकते हैं।**

नीचे हम शैलीविज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित कुछ तकनीकी अभिकरणों की ओर संक्षेप में विचार करेंगे।

३. १. संरचना / संघटना (स्ट्रक्चर)

संरचना का सम्बन्ध किसी भी सावयव वस्तु (यथा साहित्यिक कृति / रचना) के संगतिनिष्ठ साकल्य (ऑर्गेनिक होल) रूप से रहता है। वह अपना रूप आंगिक के विभिन्न संघटकों (अंगों) के बीच पाये जाने वाले अन्वय-सम्बन्धों के आधार पर ग्रहण करती है। चूंकि संरचना के रूप की प्रकृति अन्वय-सिद्धान्त पर आधारित होती है और अन्वय-सिद्धान्त संघटकों पर नहीं वरन उनके प्रकार्य पर अवलम्बित होता है और प्रकार्य अपनी प्रकृति में अमूर्त (ऐब्सट्रैक्ट) होते हैं इसलिए संरचना की भी प्रकृति अमूर्त और संकल्पनात्मक होती है।

यहां यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि संरचना स्वयं में प्रेक्षणीय (ऑबजर्वेबल) नहीं होती यद्यपि कि उसका पता प्रेक्षण-प्रक्रिया द्वारा ही संभव है। क्योंकि संरचना की प्रकृति अमूर्त और संकल्पनात्मक होती है और उसका पता हम केवल प्रेक्षण-प्रक्रिया द्वारा लगा पाने की स्थिति में हैं इसलिए उसकी हम दो स्थितियाँ पाते हैं—भाववादी स्थिति और वस्तुवादी स्थिति। भाववादी स्थिति के

समर्थक विद्वान यह मानते हैं कि अमूर्तीकरण (ऐब्सट्रैक्शन) की प्रक्रिया मानसिक होने के कारण आत्मगत होती है अत. जिस संरचना के अमूर्त रूप की चर्चा की जाती है वह वस्तुत: प्रेक्षक (आलोचक) की वस्तु (कृति)-सम्बन्धी वह संकल्पना है जिसके सहारे वह वस्तु की आभ्यन्तर प्रकृति को समझना चाहता है। इसके विपरीत वस्तुवादी स्थिति के समर्थकों के मत में संरचना का केन्द्रक (लोकस) प्रेक्षक न होकर स्वयं वस्तु (कृति) होता है। अगर कृति संगतिनिष्ठ है तो उसके उपांगों में निश्चित ही अन्वय-सम्बन्धी व्यवस्था होगी। अत: संरचना कृति की आंगकिता (ऑर्गेनिसिटी) में प्रच्छन्न रूप से निहित रहती है। यह आंगकिता ही कृति को पूर्णता या साकल्य रूप देती है। इस सन्दर्भ में अमूर्तीकरण प्रेक्षक की उस मानसिक स्थिति की ओर संकेत देता है जो वस्तु के साकल्य को उसके अभिलक्षणों / संघटकों के प्रयोजनपरक सम्बन्धों में देखने की ओर प्रवृत्त होती है और इस प्रक्रिया में ठोस वस्तु को पारदर्शी बनाकर उसके अमूर्त रूप को ग्रहण करती है। यही कारण है कि वह वस्तु की संरचना का मॉडल देने में समर्थ होती है। यहाँ हमें वस्तु, वस्तु की संरचना और उसके मॉडल के अन्तर को भी स्पष्ट कर लेना चाहिए। वस्तु की संरचना प्रच्छन्न रूप से वस्तु में ही निहित होती है। वह वस्तु का अपना गुण है जिसे वस्तु से बाहर कर नहीं देखा जा सकता। पर इस संरचना के आधार पर वस्तु का मॉडल बनाया जाना संभव है। उदाहरण के लिए 'ताजमहल' कृति को ही लें। ताजमहल, वस्तुजगत की एक ठोस सावयव इकाई है जिसे हम अपनी आंखों से देख सकते हैं और हाथों से स्पर्श कर सकते हैं। सावयव होने के कारण उसकी अपनी एक विशिष्ट संरचना है जो प्रच्छन्न रूप से स्वयं ताजमहल कृति के अपने गुण के रूप में उसमें निहित है। इस संरचना की हम मात्र संकल्पना कर सकते हैं, जिसे देखने के लिए हमें जैविक नेत्र नहीं वरन बौद्धिक दृष्टि चाहिए। ताजमहल के संरचनात्मक रूप (फ़ार्म) का हम मॉडल बना सकते हैं जिसे हम छोटी-बड़ी मूर्तियों के रूप में सामने ला सकते हैं या काग़ज़ पर चित्र के रूप में पेश कर सकते हैं। ताजमहल की ये मूर्तियाँ या चित्र वस्तुजगत का स्वयं ताजमहल नहीं; वरन् उसमें प्रच्छन्न रूप से अन्तर्भुक्त संरचनात्मक रूप का प्रतीकीकरण के सिद्धान्त के आधार पर बनाये गए 'मॉडल' हैं जिनकी सच्चाई इस बात में निहित है कि ये मॉडल ताजमहल के संरचनात्मक रूप के कितने अनुरूप हैं।

शैलीविज्ञान अपने तकनीकी अभिकरण के रूप में संरचना के वस्तुवादी पक्ष का पक्षधर है और वह संरचना के तीन आधारभूत तथ्यों की ओर संकेत देता है :

साकल्यता (होलनेस) : इसका सम्बन्ध आभ्यन्तर संगति से है जिसका क्षेत्र आंगिकता (ऑर्गेनिसिटी) है। किसी रचना के संघटक (उपांग) किसी न किसी एक आन्तरिक विधान में बंधे होने के कारण ही संगतिनिष्ठ पूर्णता को जन्म देते हैं। यह इस सम्पूर्णता का विधान ही है जो अर्थ के धरातल पर संघटकों के उस पूर्ण योग से कुछ अधिक और विशिष्ट अर्थ देने में समर्थ है जो उस संरचना के

बाहर रहने की स्थिति में मिलना संभव था। इसीलिए संरचना, अंगों के समग्र योग (एग्रिगेट) से भिन्न चीज़ है। यही कारण है कि वाक्य-संरचना में वाक्य-विन्यास का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उदाहरण के लिए हम संरचनात्मक स्तर पर भिन्न दो वाक्यों के अर्थ पर ही ध्यान दें, 'मोहन ने गिलास तोड़ दिया' और 'मोहन से गिलास टूट गया'। दोनों ही वाक्यों में 'मोहन', और 'टूटे हुए गिलास' की सत्ता है पर संरचनात्मक विभेद के कारण इन दो वाक्यों में पर्याप्त अर्थभेद है। इसी प्रकार शब्द-संसर्ग के सम्बन्धों के आधार पर भी अर्थ-भेद देखने को मिल सकता है— यथा 'रंगीन पोशाक' और 'रंगीन विचार'। दोनों ही अभिव्यक्तियों में 'रंगीन' शब्द समान है पर संज्ञा शब्द के संसर्ग विधान से उसमें अर्थभेद की विशिष्टता देखी जा सकती है।

प्रयोजन (फ़ंक्शन) : संरचना संघटकों की अपनी स्थिति का परिणाम न होकर उनकी अर्थवत्ता (प्रयोजन) से सम्बद्ध रहती है। संरचना के संघटक (अंग) का अपना एक प्रयोजन अथवा मूल्य होता है जो उसके अन्य संघटकों के सम्बन्धों पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए शतरंज के खेल में जो संरचनात्मक विधान है उसके सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि उसके संघटकों (मोहरों; यथा हाथी, घोड़ा, पैदल आदि) का एक मूल्य होता है (यथा घोड़ा ढाई घर चल सकता है, हाथी सीधे चलकर कई घर पार कर सकता है आदि)। संघटक (मोहरे) अपने बाह्य आकार के आधार से कहीं अधिक अपने निर्धारित मूल्यों के आधार पर पहचाने जाते हैं। इसीलिए खेल में अगर कोई संघटक (मोहरा) खो जाए तो उसे किसी गोटी या काग़ज़ के किसी अन्य टुकड़े द्वारा स्थानान्तरित किया जा सकता है।

भाषा या रचना के सन्दर्भ में अगर हम दो वाक्यों को उदाहरण रूप में लें; यथा, 'इस फूल की कीमत पांच रुपये है' और 'एक फूल की कीमत हजारों सिसकियों ने चुकाई है' तो स्पष्ट हो जायेगा कि दोनों वाक्यों में 'फूल' शब्द का प्रयोजन एक नहीं है। पर अगर परियों की कथा में एक स्थिति में नायक के कार्यों में बाधा डालने वाला 'राक्षस' है और दूसरे में 'जादूगर', तो दोनों अपने प्रयोजन और प्रकार्य (खलनायक) में एक ही संघटक माने जायेंगे।

स्वायत्तता (ऑटोनोमी) : संरचना इस अर्थ में स्वायत्त होती है कि वह अपनी सत्ता के लिए स्वयं की मुखापेक्षी है। वह अपने से बाहर किसी अन्य वस्तु पर आधारित नहीं होती। भाषा और साहित्य के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि उसके किसी घटक का अर्थ या मूल्य उस संरचना से बाहर जाकर सिद्ध नहीं होता वरन अन्य संबद्ध घटकों के घात-प्रतिघात के आधार पर निर्धारित होता है। उदाहरणस्वरूप नीचे दी गयी कविता-खण्ड में सीने, पीने और धोने के दुधारी अर्थ पर ध्यान दें :

कुछ अपने फटे कपड़े सी रहे हैं
कुछ सिलवा रहे हैं घाव

कुछ दवा पी रहे हैं
कुछ ख़ून
कुछ हाथ धो रहे हैं साबुन से
कुछ जान से। —लीलाधर जगूड़ी

निश्चय ही 'सीने' का जो अर्थ कपड़े के संसर्ग से निकलता है वही घाव के संसर्ग से नहीं। इसी प्रकार 'पीने' और 'धोने' का जो अर्थ क्रमशः 'दवा' और 'हाथ' के संसर्ग से उभरता है वह 'ख़ून' और 'जान' के शब्द-संसर्ग से उत्पन्न अर्थ से नितान्त भिन्न है।

शैलीविज्ञान के सन्दर्भ में 'स्वायत्तता' की संकल्पना को पूरी तरह समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम 'संरचनात्मक साकल्यता' (स्ट्रक्चरल होलनेस) और 'संरचना के साकल्य' (होल ऑफ़ दि स्ट्रक्चर) के अन्तर को ठीक से समझ लें। संरचनात्मक साकल्यता अपनी सत्ता और व्याख्या के लिए स्वयं की मुखापेक्षी होती है। उदाहरण के लिए 'ताजमहल' या किसी 'साहित्यिक कृति' की व्याख्या को ताजमहल या उस कृति के स्वयं के संघटकों के सम्बन्ध के आधार पर समझा जा सकता है। पर 'ताजमहल' या कोई 'साहित्यिक कृति' कलाक्षेत्र के मात्र दृष्टान्त या घटक तो नहीं माने जा सकते। उनके अतिरिक्त भी कला/साहित्य जगत की अन्य रचनाएँ होती हैं जो उस कृति-विशेष की व्याख्या में सहायक होती हैं। 'संरचना का साकल्य' वस्तुतः वह संदर्भ होता है जिसके भीतर रखकर कृति-विशेष की अर्थवत्ता पर प्रकाश डाला जाता है। यह तथ्य इस ओर संकेत देता है कि किसी पाठ या कृति की व्याख्या अपने (कला) प्रसंग से सन्दर्भमुक्त नहीं होती। 'संरचना के साकल्य' के सन्दर्भ में ही हम कभी किसी साहित्यकार की एक कृति की व्याख्या करते समय उस साहित्यकार की अन्य रचनाओं का सन्दर्भ सामने लाते हैं और कभी एक साहित्यकार की कृति-विशेष के अध्ययन-विश्लेषण करते समय किसी अन्य साहित्यकार की कृति को सन्दर्भवत स्वीकार करते हैं।

३.२. गठन/बुनावट (टेक्सचर)

भाषा और साहित्य के सन्दर्भ में बुनावट का सम्बन्ध कथ्य के ऐन्द्रिक पक्ष से रहता है। यह ध्यान देने की बात है कि भाषा के बाहर स्थित संसार, रूप, स्पर्श, रस, गंध और नाद की ऐन्द्रिकता से युक्त होने के कारण ठोस होता है। पर भाषा की सामान्य प्रकृति संकेतों और आभासों की उस दुनिया की सृष्टि करती है जो इन ऐन्द्रिक संवेदनाओं से मुक्त रहती है। भाषा अमूर्तीकरण की प्रक्रिया के सहारे अपने जिन प्रतीकों का निर्माण करती है, वे उस सीमा तक सामान्यीकृत होते हैं कि उनसे संकेतित वस्तुओं से रूप, स्पर्श, रस आदि संवेदनाएँ झर जाती हैं। जब हम किसी फूल, यथा 'गुलाब' या 'कमल' के संकेतार्थ को शब्द प्रतीक द्वारा संकेतित करते हैं तब उसमें उस फूल के रूप-स्पर्श-गंध आदि ऐन्द्रिक संवेदनाओं का योग नहीं होता। इसीलिए एक विचारक

का यह कथन है कि भाषा एक अत्यन्त निर्मम वस्तु है, वह एक ऐसा पारदर्शी शीशा है जो मनुष्य और वस्तुओं के बीच निरन्तर झूलता रहता है। हम इस शीशे के पार का दृश्य देख तो सकते हैं पर उसके गंध-नाद-रस आदि का अनुभव नहीं कर सकते। साहित्यकार वस्तुतः ऐसी ही व्यावहारिक और संवेदना-शून्य भाषा में ऐन्द्रिक अनुभवों को भरता है; अमूर्त और छायापरक संकेतार्थ को ऐन्द्रिक संवेदनाओं के आधार पर ठोस बनाता है। इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि भाषा, अपनी प्रकृति में प्रतीकों में सबसे अधिक अमूर्त होती है पर उसके साथ उसीमें सभी ऐन्द्रिक पक्षों को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता भी निहित रहती है। बुनावट का सन्दर्भ भाषा की अमूर्त और जातीय प्रकृति को मूर्त और विशिष्ट रूप देने का होता है जिससे 'भाषा' वस्तु रूप में सिद्ध हो सके।

कंकण और किंकिणी के अनुरणात्मक नाद को कवि नासिक्य ध्वनियों की पुनरावृत्ति के आधार पर ध्वनित कर शब्द को वस्तु रूप बना लेता है; यथा :

कण कण कर कंकण, प्रिय
किण-किण रव किंकिणी। —निराला

और कभी झरने के निर्झर प्रवाह को 'झर' शब्द की आवृत्ति और तरल स्वन 'र' के प्रवाह से बाँध देता है।

झर झर झर निर्झर गिरि सर में
घर, मरु, तरु—मर्मर, सागर में। —निराला

इसी प्रकार नायक की निष्ठुरता को वह कर्कश ध्वनि संयोग द्वारा व्यंजित करता है, यथा :

कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली। —निराला

और कभी उग्रभाव की व्यंजना के लिए व्यंजन-गुच्छों का सहारा लेता है :

उद्धत-लंकापति-मर्दित-कपिदल-बल-विस्तार।
विद्धांग-बद्ध कोदण्ड-मुष्टि-खर रुधिर स्राव॥ —निराला

रंग-रूप-स्पर्श की ऐन्द्रिक संवेदना को एकसाथ उभारने के लिए वह संश्लिष्ट बिम्बों की योजना करता है, यथा :

खिला हो ज्यों बिजली का फूल।
मेघ बन बीच गुलाबी रंग। —प्रसाद

और कभी सादृश्य विधान के माध्यम से दृश्य छवि को उभारता है। यथा :

रंगों ने जिनसे खेला हो, ऐसे फूलों की वह डाली।

कहने की आवश्यकता नहीं कि संरचना अमूर्त होने के कारण बौद्धिक और संकल्पनात्मक होती है। वह अपनी प्रकृति में रूप-निरपेक्ष होती है। पर बुनावट का पूरा क्षेत्र ऐन्द्रिक होने के कारण रूपगत होता है। संरचना अगर 'प्रकार्य' की अवधारणा पर आधारित है, यथा, नायक, खलनायक आदि, तो बुनावट उस खलनायकत्व की उस वैयक्तिक वैशिष्ट्य पर, जो एक खलनायक को दूसरे खल-

नायक से भिन्न कर देती है। भाषावैज्ञानिक शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि संरचना की प्रकृति ध्वनि के धरातल पर अगर 'स्वनिम' (फ़ोनीम) की तरह होती है तो बुनावट की 'सहस्वन' (एलोफ़ोन) की तरह।

३. ३. अग्रगामिता या पेशबन्दी (फ़ोर-ग्राउंडिंग)

कला के क्षेत्र में पेशबन्दी से तात्पर्य अभिव्यक्ति माध्यम के किसी पक्ष को वक्रभंगिमा के साथ उभारने से है। अपने लक्ष्य में पेशबन्दी रूढ़ और यांत्रिक संवेदनाओं को तोड़ती है अतः इसका सम्बन्ध अनुभूत और अनुभूतियों के प्रत्यक्षीकरण के साथ बना रहता है।

प्रायः देखा जाता है कि अपने व्यावहारिक जीवन में अपने से परिचित स्थितियों के हम इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उनको हम कुछेक संकेतों द्वारा ही पहचानकर उनसे अपना काम निकाल लेते हैं। ऐसी स्थिति में हम उन्हें संकेतों के सहारे पहचानने के आदी हो जाते हैं और इसीलिए उनको पूर्णता में ग्रहण नहीं करते। उदाहरण के लिए मछली बाजार में रहने वाले व्यक्ति उस बाजार के गन्ध के इतने आदी हो जाते हैं कि उनके लिए उस गन्ध की सत्ता ही नहीं रह जाती या समुद्र के किनारे रहने वाले व्यक्ति लहरों के गर्जन को सुनते-सुनते इस प्रकार उसके अभ्यस्त हो उठते हैं कि उसकी आवाज़ को सुनकर भी वह उसे सुन नहीं पाते। इसी प्रकार हम भाषा का इतना प्रयोग करते हैं कि दैनिक प्रयोग की भाषा की विशिष्टता हमारे लिए निर्विशिष्ट हो उठती है। 'पेशबन्दी' वस्तुतः अभिव्यक्ति की वह भंगिमा है जो अपनी वक्रता के कारण हमारा न केवल ध्यान आकर्षित करती है, वरन् यन्त्रस्थ होती जा रही हमारी संवेदनाओं में एक नया रंग भरती है और वस्तुजगत् के प्रति हमारे रूढ़िगत बोध में एक नवीनता का उन्मेष करती है।

तकनीकी अभिकरण के रूप में पेशबन्दी एक ओर 'सहेतुक विचलन' का रास्ता अपनाती है और दूसरी ओर 'समानान्तरता' का। पर इन दोनों अभिकरणों का लक्ष्य प्रत्यक्षानुभूति को सघनता देना है, दोनों ही का उद्देश्य हमारे अनुभवों के बहु-आयामी पक्ष को उभारना होता है, और दोनों ही का प्रयोजन कृति की बुनावट को और अधिक ऐन्द्रिक रूप प्रदान करना रहता है।

(क) सहेतुक विचलन (डेविएशन) : भाषा के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि उसके साथ प्रयोगों के पीछे उसके अपने कुछ नियम होते हैं। ये नियम ही उसकी व्यवस्था के हेतु हैं। सामान्य भाषा इन्हीं नियमों में बंधी होती है। अपने दैनिक प्रयोग में हम इन नियमों के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उनके आधार पर व्यवस्थित सामान्य भाषा हमारे लिए यांत्रिक और रूढ़िगत हो जाती है। क्योंकि हमारे अनुभव और अनुभूतियां भाषा से अलग होकर व्यक्त नहीं हो सकतीं अतः हम सामान्य भाषा के माध्यम से उन्हीं अनुभवों को अभिव्यक्त कर पाते हैं जिनके हम अभ्यस्त हो चुके रहते हैं। इसीलिए सामान्य भाषा के माध्यम

से मात्र सामान्य अनुभव ही व्यक्त हो सकते हैं। पर काव्यानुभूति अपनी प्रकृति में विशिष्ट होती है। काव्यानुभूति की इस विशिष्टता को पकड़ने की कोशिश में काव्य भाषा को विशिष्ट बनना ही पड़ता है। काव्य भाषा की यह विशिष्टता वस्तुतः यंत्रस्थ भाषा के परिचित नियमों के अतिक्रमण का परिणाम होती है। सामान्य भाषा के सामान्य भाषिक नियमों के इस अतिक्रमण को ही विचलन (डेविएशन) कहा जाता है।

इस विचलन को सहेतुक इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसके पीछे काम करने वाला तत्त्व और कुछ नहीं बल्कि कलात्मक संवेग की अपनी विशिष्टता है। वैसे उसके अन्य सेतु भी हो सकते हैं; यथा, अलंकरण, शब्द-क्रीड़ा आदि। एक सच्ची कविता में विचलन सर्जनात्मक उद्देश्य को पूरा करने का एक समर्थ अभिकरण है।

सहेतुक विचलन को शैलीविज्ञान दो निश्चित सन्दर्भों में ग्रहण करता है—व्याकरणिकता (ग्रामेटिकलिटी) का सन्दर्भ और आवृत्ति (फ्रीक्वेन्सी) का सन्दर्भ।

व्याकरणिकता : व्याकरणिकता की संकल्पना इस तथ्य पर आधारित होती है कि वाक्य या भाषा का कोई खण्ड कहाँ तक व्याकरण के नियमों के अनुसार गठित है। व्याकरणिकता का प्रश्न हमें दो अन्य बातों पर विचार करने के लिए बाध्य करता है। पहला तथ्य यह है कि जिस वाक्य को व्याकरणाचार्य सुगठित (वेल-फ़ॉर्म्ड) मानते हैं वह लोक में स्वीकृत भी है या नहीं, अर्थात् उस वाक्य को उसके मातृभाषा-भाषी स्वीकार करते भी हैं या नहीं। यह सम्भव है कि कोई वाक्य, पूरी तरह व्याकरणसम्मत हो पर उस भाषा के मातृभाषी प्रयोक्ता उसको मान्य न ठहराते हों। यह भी हो सकता है कि कोई वाक्य लोकजीवन में पूर्ण रूप से स्वीकृत हो, पर व्याकरण की दृष्टि से वह नियमों का अतिक्रमण करता हो। ऐसी स्थिति में यह ज़रूरी हो जाता है कि वाक्य या कथन को हम दो दृष्टियों से देखें—एक दृष्टि व्याकरण की हो, जिसके आधार पर यह देखा जा सके कि वाक्य की रचना कहाँ तक मान्य नियमों के अनुरूप हुई है (यह प्रश्न व्याकरणिकता के सवाल से जुड़ा हुआ है), और दूसरी दृष्टि लोकसम्मति की हो, जिसके सहारे यह देखा जा सके कि कोई वाक्य कहाँ तक उस भाषा के बोलने वालों द्वारा मान्य है। (यह प्रश्न स्वीकार्यता (एक्सेप्टेबिलिटी) के सवाल के साथ सम्बद्ध है।)

व्याकरणिकता और स्वीकार्यता की द्वन्द्वात्मक प्रकृति के कारण हमें निम्नलिखित चार प्रकार की स्थितियां देखने को मिलती हैं :

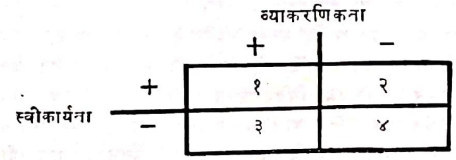

(i) व्याकरणसंगत और स्वीकार्य : 'इस फूल की कीमत मोहन ने चुकाई है।'

(ii) व्याकरण-असंगत पर स्वीकार्य : 'एक फूल की कीमत हजारों सिसकियों ने चुकाई है।'

(iii) व्याकरणसंगत पर अस्वीकार्य : 'एक रंगविहीन सतरंगी सिसकी शान्त भाव से पहाड़ पर पड़ी हुई है।'

(iv) व्याकरण-असंगत और अस्वीकार्य : 'फूल सिसकी हजारों एक चुकाई की ने हुआ है।'

व्याकरण-असंगत अगर (ii) और (iv) के वाक्यों पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्वीकृत वाक्य (iv) पूर्ण रूप से व्याकरण के नियमों से मुक्त होने के कारण अव्याकरणिक है। वह केवल शब्दों के जमघट हैं जिनमें हिंदी भाषा के नियमों की अवहेलना की गयी है। इसके विपरीत स्वीकृत वाक्य (ii) के सन्दर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें भाषिक नियमों की कोई सत्ता ही नहीं। हम केवल यह कह सकते हैं कि उसमें नियमों की सत्ता तो है पर उस वाक्य का गठन उन नियमों का कहीं अतिक्रमण भी करता है। यह बात ध्यान देने की है कि नियमों का अतिक्रमण, नियम-सापेक्ष होता है। ऐसे सभी वाक्य पहले नियमों की सत्ता की अपेक्षा रखते हैं और फिर उसका अतिक्रमण करते हैं। अगर नियम की सत्ता है ही नहीं, तो उससे विचलन या उसके अतिक्रमण का प्रश्न ही कहां है ? (जैसा कि हम वाक्य (iv) में देखते हैं।)

लोकस्वीकृत पर व्याकरण-असंगत वाक्यों को **अर्द्धवाक्य** (सेमी-सेंटेंस) कहा गया है। अर्द्धवाक्य अव्याकरणिक वाक्य न होकर ऐसे रचनाबद्ध वाक्य होते हैं जो भाषिक (व्याकरणिक) नियमों में बंधकर भी उनका अतिक्रमण करते हैं। अत. उनके अतिक्रमण (व्याकरणिक-असंगतता) को भी भाषा के मान्य नियमों के सन्दर्भ में समझना-समझाना सम्भव है।

उदाहरण के लिए अंग्रेजी के इन बहुचर्चित काव्य-उक्तियों को ही लें—'ए ग्रीफ़ एगो', 'ही सैंग हिज डिडनॉट ही डान्स्ड हिज डिड' प्रसिद्धकवि कमिंग्ज की ये काव्योक्तियां अर्द्धवाक्य के उदाहरण माने जा सकते हैं क्योंकि इनकी रचना में जिन भाषिक नियमों का अतिक्रमण हुआ है, उनको अंग्रेजी भाषा के नियमों के सन्दर्भ में समझना सम्भव है। जब कवि यह कहता है—'एक दुख पहले' (ए ग्रीफ़ एगो), तब वस्तुतः वह व्याकरणिक संरचना की रूपावली को पहले सामने लाता है जिसके आधार पर यह कहना सम्भव है —'एक क्षण पहले', 'एक दिन पहले', 'एक साल पहले' आदि। इस रूपावली की व्याकरणिक विशेषता है कि 'पहले' के पूर्व जो भी संज्ञा, विशेषणयुक्त प्रयुक्त होती है, वह समय-सूचक होती है। इसीलिए 'क्षण, दिन, साल' समय-सूचक संज्ञाएँ हैं। यह ऐसी रूपावली की व्यवस्था का ही परिणाम है कि जब हम 'एक चाँद पहले' (ए मून एगो) कहते

हैं तब 'चाँद' को भी ऋतु-चक्र का उपकरण मानते हुए उसकी व्याख्या को समय-बोधक बना लेते हैं। अतः 'एक दुख पहले' उक्ति में 'दुख' भी इसी समय-बोधक व्याख्या की अपेक्षा रखता है। पर 'दुख' तो अनुभव और प्रतीति के क्षेत्र से सम्बद्ध अर्थ को सामने लाता है। उक्ति-सौन्दर्य भी तो इसीमें है। कवि सामान्य भाषा के नियमों का अतिक्रमण कर अनुभव और प्रतीतिपरक अर्थ को समयबोध से जोड़ते हुए इस बात पर बल देना चाहता है कि भले ही भौतिक धरातल पर समय एक या दो क्षण के रूप में ही क्यों न बीता हो पर भोक्ता व्यक्ति के लिए उसका प्रसार या गहराई वैसा ही फैला था जैसे कि दुख के क्षणों में समय फैल जाता है। जब हम कहते हैं 'दुख के दिन बीतत नाहीं,' तब वस्तुतः यही तो अभिव्यक्त करना चाहते हैं कि समय काटे नहीं कटता, लगता है एक-एक क्षण पहाड़-सा भारी हो उठा है आदि, अन्यथा भौतिक धरातल पर समय तो घड़ी की टिक-टिक के साथ आगे बढ़ता ही रहता है।

अगर हम 'ही सैंग हिज डिड नॉट ही डान्स्ड हिज डिड' उक्ति पर ध्यान दें तो उसकी रूपावली को 'कर्ता-क्रिया-कर्म' की योजना के रूप में पाते हैं, यथा 'ही सैंग हिज सांग, ही डान्स्ड हिज कत्थक'। यहाँ व्याकरणिक नियमों के अनुसार कर्म को संज्ञा रूप में प्रयुक्त होना चाहिए था, यहां उसका अतिक्रमण करते हुए इस उक्ति में उसे क्रियारूप में प्रयुक्त किया गया है। अतः अगर हमें ही डान्स्ड हिज डिड में कर्मवत् प्रयुक्त 'डिड' का अर्थ ग्रहण करना है तो उसे पहले 'कर्म' के रूप में स्वीकार करना होगा। 'डिड' वस्तुतः 'डू' का भूतकालिक रूप है और 'डू' का अर्थ 'करना' क्रिया है। अतः 'डिड' को '+संज्ञा+करना+भूत' का समानार्थी मान सकते हैं। व्याख्या की दृष्टि से इसका अर्थ हुआ 'विगत कर्म'। वाक्य-संरचना की दृष्टि से इसकी व्याख्या ठहरती है 'ही डान्स्ड हिज पास्ट एक्शन्स'। यह संरचना अभी भी अर्द्धवाक्य के क्षेत्र में है यद्यपि 'डिड' का अर्थ खुल-सा गया है। वस्तुतः इस संरचना में 'नाचना' शब्द का भी लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। सम्पृक्तार्थ के धरातल पर नाचने का अर्थ 'ख़ुशी से झूमना,' 'भाव-विभोर होना' आदि माना जा सकता है जिसके सन्दर्भ में 'ही डान्स्ड हिज डिड' का सांकेतिक अर्थ अपने उक्ति-सौन्दर्य के साथ व्यंजित होता है : 'अपने विगत कर्मों के कारण भावविभोर होना, जो कर्म हो चुके हैं उनको याद कर-करके ख़ुशी से झूमना।'

कहने का तात्पर्य यह है कि 'ए ग्रीफ़ एगो' या 'ही डान्स्ड हिज डिड' ऐसी काव्यात्मक उक्तियाँ व्याकरणिक नियमों का अतिक्रमण करती हैं पर उस अतिक्रमण को मान्य व्याकरणिक नियमों के सन्दर्भ में ही सही ढंग से समझना सम्भव है। अर्थ की जो रंजकता और प्रयोग का जो लालित्य हमें इनमें दिखलाई पड़ता है उसकी समझ, पहचान और विश्लेषण का भी यही रास्ता है।

विचलन को हम भाषा के सभी आयामों पर स्थित देख सकते हैं—यथा, शब्द, व्याकरण, अर्थ आदि। शब्दों के धरातल पर साहित्यकार शब्द-निर्माण का नित नूतन रास्ता बनाता चलता है। वह ऐसे शब्दों एवं शब्द-रूपों का सर्जन और

उसका कल्पनात्मक प्रयोग करता है जिससे शब्द-निर्माण के नियम तो टूटते हों पर जिसके परिणामस्वरूप अर्थ-लालित्य की उद्भावना होने की सम्भावना हो। अकेले निराला की रचनाओं में ऐसे कई स्थलों पर शब्द-निर्माण एवं शब्द रूप-सम्बन्धी नियमों में विचलन की स्थिति देखी जा सकती है जिसका हेतु अर्थ-भंगिमा और सर्जनात्मक सौन्दर्य है। यथा,

—देखता मैं अरोक मत रोक !
—अधर-दशन अनबोली।
—फिर फूले नव वृन्तों पर
अनुकूलें कलि अनुकूलें।
—जावक-जप चरणों पर छाई
पलक-पलास डाल कलियाई।

अगर निराला ने 'कलि' संज्ञा से 'कलियाना' क्रिया रूप बनाकर अर्थ भंगिमा पैदा की है तो नीचे के उदाहरण में 'दिल' के स्थान पर उसके गुण को व्यंजित करने वाले शब्द का संज्ञावत प्रयोग कर जिस काव्यात्मकता का सर्जन मुक्तिबोध ने किया है, वह भी विचलन का ही उदाहरण है।

—अपनी धकधक
में दर्दीले फैले-फैलेपन की मिठास।

शब्द-स्तर पर विचलन के कई सार्थक प्रयोग हमें काव्य-प्रसंग में देखने को मिलते हैं—यथा— विश्रामेगे रात यहां ये (नरेश मेहता), और तुम महसूसते रहोगे (धूमिल), भारत तब गणिकाना था (अशोक वाजपेयी), कहां हैं वे लोग, जो सम्भाषिक में जोश से। बोला किए पर साल (त्रिलोचन), संसार का सबसे अधिक फ़ोटोग्राफ़िन घर (अज्ञेय) आदि।

व्याकरण के स्तर पर विचलन की सम्भावना अगाध है, यथा :

—एक फूल की क़ीमत हजारों सिसकियों ने चुकायी है —मुक्तिबोध
—कौन से कह दूं कि तुम मेरे बनो ? —भवानीप्रसाद मिश्र
—ताप के तापे हुए दिन ये
क्षण के लघुमान से
मौन नया किए —त्रिलोचन
—भूख की दर्शक-दीर्घा से कूदकर
मरी हुई आंतों का शोर
अकाल की पर्चियां फेंकता है — धूमिल
—समझता रहा हुआ मैं देख —निराला
—मधुर स्वर तुमने बुलाया —निराला
—आंसुओं सजल दृष्टि की छलक —निराला
—मुस्करा दी थीं क्या तुम प्राण —पंत

व्याकरणसम्मत स्वीकृत और अव्याकरणिक अस्वीकृत वाक्यों के बीच में स्थित

व्याकरण की दृष्टि से असंगत पर काव्यभाषा के सन्दर्भ में स्वीकृत उदाहरणों का एक पूरा संसार है, जिसके लिए यह कहा जा सकता है कि भाषा के स्थिर, रूढ़ और निर्जीव भाषा-प्रयोगों में पाये जाने वाले व्याकरण के सन्दर्भ में उसके उदाहरण भले ही असंगत हों पर भाषा की लचीली सम्भावना, उसके कलात्मक एवं सर्जनात्मक प्रयोग तथा उसकी जीवन्त प्रकृति के सन्दर्भ में वे सार्थक ही नहीं अपितु स्वीकृत प्रयोग भी हैं। यही कारण है कि शैलीविज्ञान, ऐसे सर्जनात्मक अर्द्ध-वाक्यों में पाये जाने वाले नियमों के विचलन को नियमों का स्खलित या त्रुटिपूर्ण रूप न मानकर उसका उद्देश्यपरक प्रतिफलन मानता है।

अर्थ के स्तर पर विचलन का सबसे अधिक रंजक प्रयोग मिलता है जिसे हम विरोध (पाराडॉक्स) विरोधाभास (आक्सीमोरोन), रूपक, लक्षणा (मेटाफ़र) विशेषण विपर्यय (ट्रांसफ़र्ड एपिथेट) आदि के रूप में अभिव्यक्त होते पाते हैं। मेटाफ़र, आर्थी विचलन का अपूर्व रूप सामने लाता है जिसमें भावबोध की दुहरी और दुधारी चेतना का हमें संस्पर्श मिलता है। सामान्यतः यह माना जाता है कि मेटाफ़र में सादृश्य विधान के सहारे एक वस्तु के आभ्यन्तर लक्षण को अपने से भिन्न दूसरी वस्तु पर आरोपित या स्थानान्तरित कर अर्थ-चमत्कार की उद्भावना की जाती है और उसे लाक्षणिक प्रयोग का उदाहरण भी इसीलिए मानते हैं। मेटाफ़र के लिए इसीलिए दो भिन्न वस्तुओं के बीच गुण साधर्म्य की स्थापना पहली आवश्यकता बनती है। इस सिद्धान्त को उसकी व्यापकता में खींचते हुए कुछ विद्वानों का यह कथन है कि स्वयं भाषा, मेटाफ़र के सार्वजनीन प्रयोग का सर्वोत्तम उदाहरण है। हम अपने दैनिक प्रयोग में भाषा के पाँच वाक्य भी बिना मेटाफ़र के प्रयोग के नहीं बोल पाते—यह इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक मनुष्य मेटाफ़र के प्रयोग और शक्ति से ज्ञात या अज्ञात रूप में परिचित होता है। पर आश्चर्य की बात यह है कि मेटाफ़र का बहुल प्रयोग करने के बावजूद साहित्य के संदर्भ में उसकी प्रक्रिया और सार्थकता का हम पता नहीं लगा पाते।

मेटाफ़र की प्रक्रिया और उसकी अर्थवत्ता को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह जानें कि आर्थी विचलन का क्षेत्र क्या है, वह किस विधान का अतिक्रमण है और उस अतिक्रमण की वास्तविक प्रकृति क्या है। यह ध्यान देने की बात है कि मेटाफ़र जहाँ भी मिलता है वहाँ दो विचारों दृष्टियों की टकराहट रहती है। मेटाफ़र में वस्तुतः दो आर्थी संरचनाओं की टकराहट ही विचलन का हेतु है। इस टकराहट और तनाव से जो संश्लिष्ट रूप उभरता है वही अर्थ-वक्रता है क्योंकि इस टकराहट की प्रक्रिया में सम्प्रेष्य (कथ्य) अपनी कथ्य-संरचना का अतिक्रमण करने के लिए विवश रहता है।

अगर मेटाफ़र दो आर्थी संरचनाओं की टकराहट का परिणाम है तो तकनीकी अभिकरण के सन्दर्भ में हमारी यह पहली आवश्यकता है कि हम उन्हें न केवल पहचानें वरन उनकी पहचान के लिए दो पारिभाषिक शब्दों को भी निर्धारित करें। प्रायः उसके लिए 'मूल विचार', और 'गृहीत विचार', 'उपलब्ध दृष्टि' और 'आरो-

पित दृष्टि', 'आभ्यन्तर कथन' और 'आरोपित कथन', 'विचार और बिम्ब', 'मूल-संकल्पना' और 'सर्जनात्मक संकल्पना' आदि अभिव्यक्त युग्मों का प्रयोग किया गया है। रिचर्ड्स ने इसके लिए 'टेनर' और 'वेहिकिल' का प्रयोग किया है। भारतीय काव्यशास्त्र में इन दो आर्थी संरचनाओं को क्रमशः 'उपमेय' और 'उपमान' से बोधित किया गया है। क्योंकि मेटाफ़र एक भाषिक उपलब्धि है जहाँ सादृश्य के आधार पर 'नामों का स्थानान्तरण' और 'अर्थपरक अभिलक्षणों का प्रक्षेपण' किया जाता है। आवश्यकता इस बात की भी है कि आधारभूत कथन (उपमेय) और सम्पृक्तार्थ कथन (उपमान) की प्रकृति को ही केवल न समझें, वरन नाम-स्थानान्तरण (नेम ट्रान्सफ़र) और अभिलक्षण-प्रक्षेपण (फ़ीचर प्रोजेक्शन) की पूरी प्रक्रिया को भी हम समझने का प्रयास करें। उदाहरण के लिए नीचे दी गयी पंक्तियों के विश्लेषण की समस्या को ही लें :

लहरों पर सवार
कुलाँचती आ रही याद
स्मृतियों की बारात।

इन पंक्तियों में बँधे 'मेटाफ़र' के विश्लेषण के लिए निम्नलिखित चरण देखे जा सकते हैं।

चरण १ : आधारभूत (उपमेय) और सम्पृक्तपरक (उपमान) कथन को पहचानना और उनको व्यक्त तथा अव्यक्त अंशों के साथ लिखना, यथा :

आधारभूत : (याद) (—) (—) (होकर) (—) (हुई) आ रही

सम्पृक्त-

परक २ : (बारात) (—) (सवार) (होकर) (कुलाँचती) (हुई) आ रही

सम्पृक्त-

परक ३ : (—) (लहरों पर) (—) (होकर) (—) (हुई) आ रही

चरण २ : विन्यासक्रमी (सिंटैगमैटिक) और सहचारक्रमी (पैराडिगमैटिक) संबंधों के आधार पर कथन के अव्यक्त/रिक्त स्थानों की पूर्ति करना। उदाहरण के लिए सम्पृक्तपरक १ के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि बारात 'सवार' है तो किसी चीज़ पर, जो 'कुलाँचना' के विन्यासक्रम में 'घोड़ा' की संकल्पना की उद्भावना करती है। अतः कथन होगा—'बारात (घोड़े पर) सवार (होकर) कुलाँचती (हुई) आ रही है।' इसी प्रकार 'लहरों' से विन्यस्त होकर सम्पृक्त वाक्य २ की क्रिया होगी 'बहना' जो कथन के धरातल पर बनेगा, '(कोई वस्तु) लहरों पर (स्थित) (होकर) (बहती) (हुई) आ रही है।'

चरण ३ : आर्थी विश्लेषण और सादृश्यपरक लक्षणों की स्थापना करना। यह ध्यान देने की बात है कि सादृश्य विधान का ढांचा इस प्रकार होता है कि यह कहना सम्भव हो सके कि जो 'क' का 'ख' से सम्बन्ध है वही 'ग' का 'घ' से; अर्थात् (क : ख :: ग : घ)। अर्थात अगर 'बारात घोड़े पर सवार होकर' जिस प्रकार 'कुलाँचती' आ रही है उसी प्रकार 'कोई वस्तु लहरों पर सवार होकर' 'बहती' आ

रही है। इस 'बहने' में 'कुलाँचने' क्रिया की जो रीति है, उस रीतिपरक आर्थी अभिलक्षणों का प्रक्षेपण करना आवश्यक हो उठता है। इसके आधार पर जो दृश्य-बिम्ब उभरेगा वह होगा, लहरों पर 'ऊपर-नीचे' उठने-गिरने का क्रमिक भाव। यह स्थिति तभी सम्भव है जब लहरों में उद्वेलन हो और उसकी तरंगें उठ-गिर रही हों। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'लहरों पर सवार' न तो 'घोड़े पर सवार' का मात्र द्योतक है और न ही 'लहरों पर स्थित' का। इसी प्रकार 'लहरों पर कुलाँचना' न तो केवल 'घोड़े पर कुलाँचना' का संकेत देता है और न ही 'लहरों पर बहने' का। 'लहरों पर सवार' या 'लहरों पर कुलाँचना' जिस संश्लिष्ट बिम्ब को उभारता है उसमें इन दोनों कथनों की अर्थपरक समानता के साथ-साथ उनकी विशिष्टता (विभिन्नता) का बोध भी बना रहता है अतः मेटाफ़र की शक्ति उस की 'दुहरी दृष्टि' (डबल विज़न) में स्थित रहती है।

इस 'दुहरी दृष्टि' को स्पष्ट रूप से ग्रहण करने के लिए 'केन्द्रक' (फ़ोकस) और 'बन्धक' (फ्रेम) जैसी संकल्पना की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए 'लहरों पर कुलाँचना' का केन्द्रक है 'बहना, कुलाँचना' और उसका बन्धक है—लहरें/घोड़ा।

कथन के अर्थपरक संश्लेषण में प्रत्येक शब्द और प्रत्येक शाब्दिक विधान सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए 'आ रही' वाक्यांश को ही लें। 'आने' में एक गति ही नहीं वरन् दिशा का भी भाव निहित है। यह दिशा वक्ता की ओर अभिमुख होती है। यह अन्तर 'आने' और 'जाने' क्रिया के अर्थभेद में देखा जा सकता है जहां 'जाने' की क्रिया की दिशा वक्ता से दूर होने से सम्बद्ध होती है।

चरण ४ : अर्थ प्रक्षेपण के परिणामस्वरूप आधार-कथन की पुनर्व्याख्या और संश्लिष्ट चित्रण के आधार पर दुहरी दृष्टि का निर्माण। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि 'याद' जिस प्रकार (वक्ता के मन के भीतर) उभर रही है वह उद्वेलित उस भाव-लहर के समान है जो ऊपर-नीचे उठ-गिर रही है अर्थात वह रुक-रुककर झोंके के समान आ रही है। एक स्मृति पहले उभरती है और उसको ठेलती हुई फिर दूसरी स्मृति उभरती है और फिर तीसरी, और यही नहीं, ये स्मृतियाँ दृश्यमान हैं। जिस प्रकार बारात के व्यक्ति और उनका घोड़े (भाव) पर बैठकर कुलाँचते हुए आना।

आवृत्ति : जिस प्रकार व्याकरणिकता की संकल्पना के आधार पर विचलन की प्रक्रिया को समझा जा सकता है उसी प्रकार आवृत्ति के आधार पर भी विचलन की संकल्पना को समझने का प्रयत्न किया जा सकता है। पर इन दोनों स्थितियों में 'शैली' के सन्दर्भ दो हो जाते हैं। यह सवाल उठाया जा सकता है कि क्या शैली हर स्थिति में मान्य व्याकरण-नियमों का अतिक्रमण का ही परिणाम होती है। क्या व्याकरण-सम्मत वाक्यों के आधार पर शैली-तत्त्वों का सृजन नहीं हो सकता ? क्या भाषा के सामान्य शब्द या उसके सामान्य रचना-विधान में वह शक्ति नहीं जो शैलीगत अर्थ को व्यंजित कर सके ?

शैली का आवृत्तिपरक सन्दर्भ दो मान्यताओं पर आधारित है—(१) शैली 'विकल्प से चुनाव' का परिणाम होती है और (२) 'प्रोक्ति' (डिसकोर्स) विशेष में चुनाव जिस दिशा में होगा उसका सांख्यिकीय (स्टैटिस्टिकल) विश्लेषण संभव है। यह कहा जा सकता है कि भाषा एक सम्भावना है और उस सम्भावना के भीतर रहकर व्यक्ति अनेक विकल्पों में से एक विकल्प का चुनाव कर उसे ठोस रूप देता है। उदाहरण के लिए, द्वितीय पुरुष किसी श्रोता-विशेष (द्वितीय पुरुष, एक वचन) के लिए हिन्दी भाषा में 'तू, तुम और आप' में विकल्पवत चयन की छूट है पर उनमें से किसी एक का चयन, वक्ता और श्रोता के सम्बन्धों के सामाजिक (शैलीगत) अर्थ को भी व्यंजित करेगा। मान लीजिये कि व्यावहारिक धरातल पर कार्यालयों में काम करने वाले व्यक्तियों की एक शैली (कार्यालयी भाषा शैली) है जो सामान्य भाषा शैली से अलग है। अगर उसका विश्लेषण किया जाये, तो स्पष्ट हो जाता है कि उसके निर्माण में व्याकरण का अतिक्रमण नहीं, वरन् 'विकल्प से चयन' का सिद्धान्त वहाँ काम करता है। हम इस शैली में 'इत्तिला' नहीं करते, वरन् 'सूचित या प्रज्ञापित' करते हैं, कारण नहीं पूछते बल्कि 'स्पष्टीकरण माँगते हैं,' किसी चीज को वहां बताते नहीं, उसपर 'प्रकाश डालते हैं,' काग़ज़/मिसिल की माँग नहीं करते वरन उसे 'प्रस्तुत करवाते हैं, और चिट्ठी मिलने की सूचना नहीं देते बल्कि 'पत्र प्राप्ति की पावती भिजवाते हैं।' जो स्थिति 'शब्द' या 'शब्द-क्रमों' के धरातल पर चयन की है वही व्याकरण के रचना-विधान के धरातल पर भी देखी जा सकती है।

शैली की आवृत्तिपरक व्याख्या अगर एक ओर भाषिक अभिलक्षणों (फ़ीचर्ज़) की सापेक्षिक सघनता की संकल्पना को लेकर चलती है तो दूसरी ओर 'तुलना' और 'विभेद' की धारणा को। जब हम यह कहते हैं कि 'क' की शैली में 'ख' अभिलक्षण की सघनता है तब सवाल यह भी उठता है कि किसकी तुलना में ये अधिक 'सघन' है ? उत्तर दो हो सकते हैं—पहला यह कि 'सघनता' का मापन हम किसी मान्य प्रतिमान (नॉर्म) के सन्दर्भ में करें और दूसरा यह कि 'क' की तरह किसी अन्य साहित्यकार 'प' की समान विषयक रचना 'त' के सन्दर्भ में दिखलायें। दोनों ही स्थितियों में कठिनाई देखी जा सकती है। भाषा के भीतर क्या स्वयं कोई अपना 'प्रतिमान' है ? क्या भाषा-विभेद स्वयं में ऐसा भाषिक यथार्थ नहीं कि किसी एक भाषिक अभिलक्षण को अगर एक सन्दर्भ में प्रतिमान मानें तो दूसरे सन्दर्भ में उसीके अन्य विकल्पवत प्रयोग को अधिक स्वाभाविक कहें। उदाहरण के लिए अगर एक स्थिति और सन्दर्भ में 'कर्तृवाच्य' का प्रयोग प्रोक्ति के लिए सहज और स्वाभाविक है तो संभव है कि दूसरी स्थिति में प्रोक्ति के लिए कर्मवाच्य अधिक सहज और स्वाभाविक हो। इसी प्रकार अगर हम 'क' की रचना को 'प' की समान विषयक रचना से तुलना कर अपना निष्कर्ष निकालते हैं तब यह पूछा जा सकता है कि 'प' की रचना को ही 'प्रतिमान' क्यों माना जाये ? क्यों नहीं किसी अन्य कृतिकार की रचना को तुलना का आधार बनाया जाए।

सच तो यह है कि आवृत्तिपरक सन्दर्भ शैली को 'विभेदक' (डिफ़रेंशियल) शैली के रूप में तो अपनाता है पर उसे 'प्रतिमान से विभेद' के रूप में सिद्ध करने में पर्याप्त कठिनाई इसलिए है कि 'प्रतिमान' की संकल्पना को निरुपाधि या निरपेक्ष रूप में स्थापित करना कठिन है।

सोपाधिक या सापेक्ष रूप में प्रतिमान की स्थापना संभव है। प्रतिमान की स्थापना करने के बाद शैली-निर्माण विभेदक लक्षण के रूप में करना सहज हो जाता है। उदाहरण के लिए हमें इस बात के परीक्षण की आवश्यकता थी कि जनस्वास्थ्य के लिए अंग्रेजी से हिन्दी में अनूदित 'मेनुअल' की भाषा-शैली कहाँ तक हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप है और कहां तक अनूदित होने के कारण अंग्रेजी की संरचना के दबाव में है। पहले वर्गमापक भाषिक इकाइयों (यथा, संज्ञा, क्रिया, विशेषण और क्रियाविशेषण) की तीन भाषाओं (अंग्रेजी, फ्रेंच और हिन्दी) में पाई जाने वाली सांख्यिकीय आवृत्ति को निकाला गया, और फिर मूल अंग्रेजी और अनूदित हिन्दी के मैनुअल में पाई जानेवाली तत्सम्बन्धी आवृत्ति को। परिणाम निम्नलिखित था :

भाषा	संज्ञा	क्रिया	विशेषण	क्रियाविशेषण
अंग्रेज़ी	४१.६	२६.६	१८.३	१२.६
फ्रेंच	५०.७	३०.५	१५.२	३.६
हिन्दी	५२.२	२२.६	२१.६	३.३
मैनुअल (मूल)	४१.७	२८.५	१७.२	१२.६
मैनुअल (अनूदित)	४३.३	२५.५	२०.६	१०.६

हिन्दी की सामान्य प्रकृति की तुलना में अनूदित हिन्दी में क्रिया और क्रिया-विशेषणों की आवृत्ति में वृद्धि और संज्ञा तथा विशेषणों की आवृत्ति में ह्रास इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि अनुवाद की भाषा पर अंग्रेज़ी भाषा का पर्याप्त दबाव है और मैनुअल में प्रयुक्त भाषा की शैली, हिन्दी भाषा की अपनी प्रकृति से अलग हटी हुई है।

जोसेफ़िन माइल्स ने अंग्रेजी साहित्य के विभिन्न युगों के १३० कवियों की काव्यभाषा का सांख्यिकीय विश्लेषण करते हुए यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि आवृत्ति, युगविशेष की प्रवृत्ति पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकती है। यद्यपि कवियों के शब्द चयन उनके प्रतिपाद्य विषय और जीवन-जगत के प्रति उनके दृष्टिबोध को भी व्यंजित करते हैं लेकिन अंग्रेज़ी कविता की कुछ प्रमुख भाषा-शैलियों की ओर संकेत देना संभव है। उनके अनुसार तीन मुख्य शैलियों को देखा जा सकता है—पदबंधीय शैली (जहां संज्ञाकरण और कृदंतीकरण के साथ ही साथ छंदगत अनियमितता की आवृत्ति अधिक है), उपवाक्यीय शैली (जहाँ क्रिया के सक्रिय प्रयोग और जटिल वाक्य-संरचना की आवृत्ति अधिक है) और संतुलित शैली (जहाँ ऊपर के दो अभिलक्षणों के बीच संतुलन है)। १५०० से १६०० ई०

के बीच की काव्यकृतियों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह दिखलाया है कि हर शताब्दी की प्रवृत्ति को तीन खण्डों में इन शैलियों के आधार पर विभाजित किया जा सकता है, उदाहरण के लिए सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की कृतियों में क्रम रहा है—उपवाक्यीय, उपवाक्यीय और संतुलित शैली जबकि अठारहवीं शताब्दी में विकास के चरण रहे हैं—पदबंधीय, पदबंधीय और संतुलित शैली।

शैली का आवृत्तिपरक संदर्भ सापेक्षता की धारणा पर आधारित होता है और वह तुलनीयता के परिप्रेक्ष्य में साहित्यिक विशिष्टताओं का उद्घाटन करता है। इसीलिए माइल्स का मुख्य उद्देश्य यह देखना रहा है कि अंग्रेजी साहित्यिक परम्परा में चॉसर की परम्परा कितनी शक्तिशाली रही है, स्पेन्सर की तुलना में डाने और जॉन्सन कितने समीप हैं, जॉन्सन की क्लासिकी की प्रकृति ड्रायडन से कितनी भिन्न है, कीट की रोमांसवादी प्रवृत्ति बायरन की प्रवृत्ति से किस अनुपात में मेल खाती है, ड्रायडन की तुलना में मार्वेल अपनी शैली में डाने के कितना समीप है—आदि।

(ख) *समानान्तरता (पैरेलेलिज्म)* : अगर विचलन का सिद्धान्त अनियमितता (इर्रेगुलरिटी) की संकल्पना को अपना आधार बनाता है तब समानान्तरता, अतिरिक्त नियमितता की संकल्पना को। समानान्तरता का अर्थ है **किसी भाषिक लक्षण या विधान की पुनरावृत्ति की नियमितता।** पुनरावृत्ति की नियमितता को हम भाषा के हर स्तर पर देख सकते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि पेशबन्दी के अभिकरण के रूप में साहित्यकार संरचना के धरातल पर समानान्तरता का सार्थक उपयोग करता है।

ध्वनीय समानान्तरता का विधान हमें छन्द-शास्त्र के रूप में देखने को मिलता है। छन्द की संकल्पना का आधार ही है संगीतपरक स्पन्दन—अर्थात् समान काल स्पन्द की पुनरावृत्ति, क्योंकि उच्चारण की लघुतम इकाई अक्षर वर्ण (सिलेबल) है और इन अक्षरों को उच्चारण-काल के रूप में मापांकन करना संभव है अतः अक्षर/वर्ण की संख्या और उनकी मात्रा के आधार पर क्रमशः आक्षरिक, वर्णिक और मात्रिक छन्दों की उद्भावना मिलती है। भारतीय परम्परा में इसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन और वर्गीकरण देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए, वर्णिक छन्दों को पहले पुनरावृत्ति के आधार पर सम, अर्द्धसम और विषम वृत्तों के रूप में वर्गीकृत किया गया है। ('सम' अर्थात् चारों चरण में अक्षर-संख्या समान, अर्द्धसम अर्थात पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरणों में अक्षर संख्या समान और विषम अर्थात चारों चरणों में अक्षर-संख्या अलग-अलग)। अक्षरों की अपनी संख्या के आधार पर सम-वृत्त आक्षरिक विन्यास के ही २६ उपभेद मिलते हैं; यथा उक्था, अत्युक्था, मध्या, प्रतिष्ठा, सुप्रतिष्ठा, गायत्री आदि। लघु और गुरु वर्णों के आधार पर इन उपभेदों की भी कई उपश्रेणियों की ओर संकेत मिलता है। उदाहरण के लिए समवृत्त वर्णिक छन्द के सोलहवें उपभेद (आष्टि जहां हर चरण में १६ वर्ण होते हैं), उनकी उपश्रेणियाँ (वाणिनी, नाराच, चंचला आदि) हैं।

वाणिनी : चलत निहारि माधव तिहारि बात मानी।
समुझ गई सबै कहत आज नाहिं जानी॥

नाराच : गली गली छिपी फिरे लला अली नहीं मिली।
रहो रहो इहाँ सखी कहाँ गयो भली छली॥

चंचला : छोड़ि देहु मोहि काँध बार बार मैं पुकारि।
जाय के कहीं अवश्य कंसराज से बिचारि॥

इसी प्रकार अलंकारों में अगर 'अनुप्रास' अलंकार पर ध्यान दें तो वह स्वर की विषमता के रहते हुए भी केवल व्यंजना की पुनरावृत्ति के आधार पर पारिभाषिक संकल्पना ठहरता है। 'अनु' का अर्थ ही है बारम्बारिता और 'प्र' का प्रकर्षता। भारतीय आचार्यों ने अनुप्रास को वर्णानुप्रास (अर्थात निरर्थक वर्णों की पुनरावृत्ति) और शब्दानुप्रास (अर्थात सार्थक वर्णों की पुनरावृत्ति) के रूप में वर्गीकृत किया है। इसी प्रकार वर्णानुप्रास को छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास तथा शब्दानुप्रास को पदावृत्ति और नामावृत्ति अनुप्रास के रूप में विभाजित किया गया है। तीन वृत्तियों—वैदर्भी, परुषा और पांचाली के आधार पर वृत्यानुप्रास को भी उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तिगत अनुप्रास के भेद के रूप में देखा गया है।

शैलीविज्ञान में समानान्तरता पेशबन्दी के अभिकरण के रूप में स्वीकृत है जिसको भाषा-प्रयोग की सहेतुक पुनरावृत्ति के रूप में देखा जा सकता है। इसकी प्रकृति ऐसी नहीं कि किन्हीं निश्चित वर्गीकरण के भीतर समेटकर सीमित कर दिया जाए। केवल यही कहा जा सकता है कि भाषा के हर स्तर—ध्वनि, रूपिम, शब्द, पदबन्ध, वाक्य, वाक्य-बन्ध आदि पर इसको देखा-पाया जा सकता है। 'घर रहेंगे' और 'अनागत' कविता के भीतर समानान्तरता को अभिकरण के रूप में किस प्रकार पेशबन्दी का आधार बनाया गया है—इसकी ओर अन्यत्र संकेत किया गया है। यहाँ इतना ही कहना अलम है कि आज की कविता में समानान्तरता को ध्वनि-स्तर की तुलना में कहीं अधिक वाक्य-विन्यास या अर्थ के स्तर पर प्रतिफलित होते पाते हैं। यथा, 'परिवार' कविता को ही लें :

मेरा बाप—
विजित एवरेस्ट
मेरी माँ—
अभाव शेषनाग से विषतप्त क्षीरसागर
मेरा भाई—
लद्दू घोड़े-सा बोझ ढोता सिंह-शावक
मेरी बहन—
मैले चिथड़ों से बनी गुड़िया
और मैं—

उबलता हुआ
केतली का पानी
जिसे बन-बनकर भाप आप ख़त्म होते रहना है।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

प्रस्तुत कविता में 'समानान्तरता' का एक स्तर वाक्य-विन्यास का है जिसमें प्रत्येक वाक्य के उद्देश्य को एक पंक्ति में रखा गया है और अन्तिम वाक्य को छोड़कर सभी विधेय-अंश को दूसरी पंक्ति में। इसी प्रकार विधेय अंश में पूरक के रूप में संज्ञापद का संकेतार्थ 'मैं' की आकांक्षा और मूल्यवत्ता को व्यंजित करता है जबकि उसके विशेषण, परिवार की आर्थिक स्थिति के भयंकर दुष्परिणाम को। विशेषण और संज्ञा की विरोधी और असंगत अर्थपरक स्थितियों की टकराहट पर (जो 'मैं' की इच्छा,अभिलाषा तथा कुछ होने की आकांक्षा से एक ओर जुड़ा है और दूसरी ओर यथार्थ की वास्तविकता और कुछ और ही बन जाने की स्थिति से) मैं की स्थिति स्थित है। अर्थात पहले के चार वाक्यों में प्रयुक्त 'मेरी' का अन्तिम पर्यवसान पांचवें वाक्य के 'मैं' में है। विषमता की स्थिति में 'मैं' उबल रहा है, भीतर ही भीतर उफन रहा है। वह भी कुछ बनना चाहता है पर जो बनना चाहता है उसके विपरीत वह, वह बनता है जैसा कि उसका बाप, माँ, भाई और बहन बन जाते हैं अर्थात पानी की स्थिति से मिट जाना, भाप बनना, जो संकेतित करता है एक ओर उसके उद्वेलन को तो दूसरी ओर उसकी विवशता को, एक ओर उसके परिवर्तन की प्रक्रिया को तो दूसरी ओर उसके अस्तित्व के क्रमशः चुकने को। वस्तुतः कवि ने 'समानान्तर' संरचनाओं एवं स्थितियों के आधार पर 'व्यक्ति की आकांक्षा' और 'परिस्थितिगत परवशता' की द्वन्द्वात्मक स्थिति और उस स्थिति के सामाजिक सन्दर्भ को उभारने का प्रयास किया है।

यह भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि समानान्तरता अगर संरचना के धरातल पर पुनरावृत्ति की संकल्पना को आधार बनाती है तो दूसरी ओर समतुल्यता की अवधारणा को। समतुल्यता, समतापरक भी हो सकती है और विरोधपरक भी। पर दोनों ही स्थितियों में यह समान पैटर्न में समता या विरोध ढूँढ़ती है। 'परिवार' कविता में बाप, माँ, भाई और बहन के लिए विधेय वाक्यांश का पैटर्न एक-दूसरे से समतापरक स्थिति में है क्योंकि उनकी संरचना का आधार है विशेषण (जो यथार्थ स्थिति के दारुण्य और विवशता को व्यंजित करता है) और संज्ञा (जो कवि वक्ता 'मैं' की आकांक्षा और शब्द (बाप, माँ, भाई और बहन) के मूल्यबोध को ध्वनित करता है)। पर प्रत्येक विधेय वाक्यांश के भीतर की संरचना, विरोधपरक है क्योंकि विशेषण और संज्ञापदों के आर्थी प्रकरणों में विरोध है।

समतुल्यता की समतापरक संरचना और अर्थपरक वैषम्य के आधार पर द्वंद्वात्मक स्थिति को विडम्बना के अभिकरण के रूप में काव्यात्मकता को प्रतिफलित करने की शक्ति शेक्सपियर में अभूतपूर्व थी। 'ऑथेलो' की इस अभिव्यक्ति पर

ध्यान दीजिये 'आई किस्ड दी एर आई किल्ड दी।' 'चुम्बन' और 'हत्या' में समानता के साथ जो वैषम्य है वह उसके प्रेम और घृणा दोनों ही भाव की सहस्थिति की विसंगति को व्यक्त करने में समर्थ है और वस्तुतः 'ऑथेलो' के उस पूरे व्यक्तित्व को उद्घाटित करती है जो उसकी ईर्ष्या और दुखान्त परिणति की विरोधी स्थिति को पैदा करती है। इसी प्रकार मूर्छित पद्मावती को जायसी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, "जो देखा, तिवई है साँसा। फूल मुवा. पै मुई न बासा।" फूल के रूप में पद्मावती के शरीर का मुरझाया रूप, प्राण-सुगन्ध के रूप में उसके सांसों का स्पन्दन, काव्यात्मक उक्ति-वैचित्र्य से कहीं अधिक 'पद्मावती' की स्थिति को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिस व्यंग्य को निम्नलिखित वाक्यांशों में व्यंजित किया है उसमें भी समतुल्य संरचना के भीतर से अर्थपरक वैषम्य की ही स्थिति देखी जा सकती है :

"लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो। तुम्हें धिक्कार है !!"

—शुक्ल

३.४ गद्यात्मक शक्ति

साहित्यकार सम्प्रेषण के सन्दर्भ में नित नूतन अभिव्यक्ति प्रणाली का आविष्कार करता है। कथ्य की विशिष्टता उसे कथन-भंगिमा में विशिष्टता लाने की ओर प्रेरित करती है। लेकिन जो आज की कथन-भंगिमा की नवीनता है, वह प्रयोग की बहुलता के बाद कल के सन्दर्भ में रूढ़ प्रयोग बन जाती है। सामान्य भाषा के सामान्य प्रयोग के सन्दर्भ में ऐसे कई रूढ़ प्रयोग देखने को मिल सकते हैं जो कभी अभिव्यक्ति-स्तर पर सर्जनात्मक उक्तियां थीं, यथा 'क्या दूर की हाँकी है', 'वह तो गाय / गदहा है', 'मैं खून का घूंट पीकर रह गया' आदि। 'भाषा रूढ़िग्रस्त कविता है।' इमर्सन के इस कथन के पीछे सर्जनात्मक अभिव्यक्तियों के बहुप्रचलित होकर रूढ़िग्रस्त होने की प्रक्रिया का सत्य है। मौलिकता और सर्जनात्मकता की अपेक्षा हम साहित्यकारों से इसलिए रखते हैं कि "देवता इन प्रतीकों के कर गए है कूच / कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।" (अज्ञेय) नई उक्तियों की सतत खोज का ही परिणाम है कि एक कवि को यहाँ तक लिखना पड़ा :

'चाँदनी चन्दन-सदृश'
हम क्यों लिखें ?
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें ?
हम लिखेंगे
चाँदनी उस रुपये-सी है कि जिसमें
चमक है, पर खनक गायब है।

हम कहेंगे ज़ोर से
मुँह घर अजायब है
जहाँ पर बेतुके, अनमोल, ज़िन्दा और मुर्दाभाव रहते हैं। —**अजित कुमार**

अभिव्यक्ति के स्तर पर मौलिक और सर्जनात्मक भाषा-प्रयोगों को 'काव्य-भाषा' के साथ जोड़कर देखा गया है जिसकी प्रकृति को समझने के लिए 'व्याकरणिकता', 'आवृत्ति' 'समानान्तरता' आदि प्रणालीगत अभिकरण को सामने लाने की आवश्यकता पड़ी। पर इसके ठीक विपरीत हम यह भी देखते हैं कि साहित्यकार काव्यभाषा के रूप में नई कथ्य-भंगिमा की उद्भावना करने के बजाय पहले से प्रचलित सम्प्रेषण प्रणाली का नूतन प्रयोग करता है। उसकी मौलिकता और सर्जनात्मकता की शक्ति सम्प्रेषण-संभावना के भीतर नई उक्तियों के सृजन में न होकर रूढ़िग्रस्त एवं प्रचलित अभिव्यक्तियों के नूतन प्रयोग में निहित होती है। **गद्यात्मक शक्ति की सर्जनात्मकता का आधार इसीलिए कथ्य-भंगिमा की मौलिकता के लिए रूढ़ियों एवं रूढ़िग्रस्त प्रयोगों को तोड़कर नई अभिव्यक्ति प्रणाली का विकास न होकर, प्रचलित, मान्य और रूढ़िग्रस्त प्रयोगों का सर्जनात्मक उपयोग होता है।** यही कारण है कि गद्यात्मक शक्ति से युक्त कविताओं में काव्य उक्तियों का आधार 'विचलन' या भाषिक नियमों का अतिक्रमण नहीं होता। वहाँ होता है नये सन्दर्भों की उद्भावना और नये प्रसंगों का सृजन। उदाहरण के लिए नीचे दी गयी काव्य-पंक्तियों को लें :

तुम मेरे पास होती हो गोया
जब कोई दूसरा नहीं होता। —**मोमिन**

झरना : झरता पत्ता
हरी डाल से
अटक गया। —**अज्ञेय**

मुझ में दिल था :
लोग कहते थे, तुम अभी बच्चे हो।
मैंने दिल को मज़बूत किया :
लोग कहने लगे, तुम बिल्कुल कच्चे हो।
मैंने दिल की जगह एक जूता टाँग दिया :
लोग चिल्ला उठे, अरे तुम कितने सच्चे हो। —**श्रीराम वर्मा**

मोमिन के इस शेर पर ग़ालिब अपना पूरा 'दीवान' ही लुटा देने को तैयार थे पर इसमें एक भी शब्द या भाषिक योजना ऐसी नहीं जो सामान्य भाषा का अतिक्रमण करती हो। अज्ञेय की कविता में वाक्य-विन्यास की ऊपरी सतह सामान्य भाषा की संरचना पर आधारित है पर अपनी गहरी मूल्यवत्ता के सन्दर्भ में यह कविता एक नये सन्दर्भ की माँग करती है (जिसकी व्याख्या अन्यत्र की गयी है।) श्रीराम वर्मा की कविता में सभी शब्द या मुहावरे प्रचलित और सामान्य हैं पर नये प्रसंग

के साथ प्रयुक्त होने के कारण वे जिस व्यंग्य का निर्माण करते हैं वह अनूठा है। जब काव्य—मैं के पास दिल अपनी स्वाभाविक प्रकृति अर्थात अव्यवहारिकता एवं संवेदनशीलता से युक्त था, तब लोग उसको भोला (नासमझ) कहते थे, (जिससे घबड़ाकर) जब काव्य—'मैंने' उसे मजबूत (कड़ा) कर लिया (संवेदनशीलता को छोड़ दिया) तब लोगों ने नासमझ कहना तो छोड़ दिया पर उसे कच्चा अर्थात् विचारों में अपरिपक्व कहना शुरू कर दिया। उसे समझदार और विचारों में परिपक्व तब माना गया जब उसने दिल की अपनी स्वाभाविक प्रकृति—अव्यावहारिकता और संवेदनशीलता को तजकर अपने को पूर्ण रूप से जूते के प्रयोग के समान व्यावहारिक और कड़े दिल की तरह संवेदनशून्य बना लिया। इन तीनों स्थितियों में काव्य-उक्ति को 'लोगों' (समाज) और 'मैं' के दृष्टिकोण के व्याघात के सन्दर्भ में बाँधा गया है। पहली स्थिति में 'लोग कहते थे,' दूसरी स्थिति में 'लोग कहने लगे' और तीसरी स्थिति में 'लोग चिल्ला उठे'। लोगों के चिल्ला उठने में अनायास रूप से वस्तुस्थिति को पहचान लेने के उस भाव की तात्कालिकता है जो यह व्यंजित करती है कि 'लोगों' के पास दिल भी उसी प्रकार का है, अर्थात असाधारण रूप से व्यावहारिक और संवेदनाशून्य। आखिर अपनी वस्तु को कौन नहीं एक ही दृष्टि में पहचान लेता!

आचार्यों और आलोचकों ने साहित्यिकता के सन्दर्भ में गद्यात्मक शक्ति को पहचान कर ही कहा है—'गद्य कवीनाम् निकषम् वदन्ति', या 'गद्य कवियों की कसौटी है।' यहां 'गद्य' के अर्थ को प्रचलित एवं सामान्य भाषारूपों के सर्जनात्मक उपयोग के रूप में ही ग्रहण करना अपेक्षित है। जैसे, 'कविता' कहने से अर्थ के दो सन्दर्भ उभरते हैं : (१) सर्जनात्मक और कल्पनाप्रधान भाव-विचार और (२) मान्य भाषिक विधान का अतिक्रमण अर्थात् अर्द्धवाक्यों का सृजन, वैसे ही 'गद्य' के दो सन्दर्भगत अर्थ हैं—(१) रूढ़िग्रस्त, कल्पनाशून्य और उद्रिक्त भाव-विचार तथा (२) प्रचलित एवं मान्य भाषिक विधान का सर्जनात्मक उपयोग। गद्यात्मक शक्ति का संबंध दूसरे अर्थ के साथ है।

३.५. विन्यासक्रमी और सहचारक्रमी सम्बन्ध

काव्यवस्तु और विषयवस्तु या कथानक और कहानी आदि युग्मों के अन्तर का आधार यह है कि काव्य-वस्तु और कथानक संरचनायुक्त (स्ट्रक्चर्ड) होते हैं जब कि विषयवस्तु और कहानी संरचना-मुक्त। संरचनायुक्त स्थितियों में उसकी इकाई के संघटकों में प्रकार्यात्मक स्तर पर सम्बन्धों की एक व्यवस्था होती है जबकि संरचनामुक्त स्थितियों में ऐसी व्यवस्था देखने को नहीं मिलती। सम्बन्धों की इस व्यवस्था को हम दो आयामों पर प्रतिफलित होते पाते हैं—विन्यासक्रम का आयाम (सिंटैग्म) और सहचारक्रम का आयाम (पैराडिग्म)।

विन्यासक्रम सम्बन्धों का वह आयाम है जो प्रतीकों के रेखीय संयोजन से अपना सम्बन्ध रखता है और जिसके आधार के लिए 'स्थान' की आवश्यकता

होती है। उच्चरित भाषा के सन्दर्भ में यह रेखीय संयोजन अपरिवर्तनीय (इर्रेवर्सिबल) होता है। उदाहरण के लिए अगर यह वाक्य लें 'मोहन आम खा रहा है,' इसमें 'मोहन, आम, खा' आदि का सम्बन्ध विन्यासक्रमी इसलिए है कि उनमें संयोजन रेखीय है और जिस समय 'मोहन' का उच्चारण होगा, 'आम' का उच्चारण उस समय नहीं हो सकता और जिस समय 'आम' का उच्चारण होगा, उस समय 'खा रहा है' का उच्चारण संभव नहीं। इस संयोजन-व्यवस्था में हर संघटक अपना 'मूल्य' अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती संघटकों के विरोध में निर्मित करता है। उपर्युक्त उदाहरण में 'आम' और 'खाने' के सन्दर्भ में 'मोहन' कर्ता का मूल्य ग्रहण करता है और 'मोहन' तथा 'खाने' के सन्दर्भ में 'आम' कर्म का।

सहचारक्रम सम्बन्धों का वह आयाम है जो प्रतीकों के वर्गयुक्त संकल्पना के आधार पर अपना सम्बन्ध निर्माण करता है जिसके आधार के लिए स्मृति' की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए अगर हम यह उक्ति लें, 'अबला जीवन, हाय, तुम्हारी यही कहानी', तो इसमें 'अबला', जिस वर्ग की संकल्पना को उभारता है उसके सहचारक्रमी सम्बन्धों के आधार पर कई अन्य संकल्पनाएं स्मृति में उभरती हैं यथा स्त्री, नारी, रमणी आदि। 'अबला' संघटक अपने अर्थ की सार्थकता इनके विरोध में आकर ही पाता है। किसी वस्तु का संरचनात्मक विधान वस्तुतः वस्तु के संघटकों के विन्यासक्रमी और सहचारक्रमी सम्बन्धों की द्वंद्वात्मक स्थिति का परिणाम होता है। यह ध्यान देने की बात है कि रेखीय संयोजन होने के कारण विन्यासक्रमी सम्बन्धों का आयाम समस्तरी (होरिज़ाण्टल) होता है जब कि सहचारी होने के कारण सहचारक्रमी सम्बन्धों का आयाम उर्ध्व-स्तरी (वर्टिकल) है।

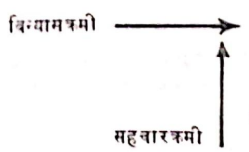

विन्यासक्रमी और सहचारक्रमी सम्बन्ध वस्तुतः हमारे मन की दो भिन्न शक्तियों पर आधारित हैं। मन की कल्पनात्मक एवं सर्जनात्मक शक्तियों के आधार पर याकोब्सन ने साहित्य के सन्दर्भ में इसे 'मेटानिमी' और 'मेटाफ़र' की संकल्पना के साथ जोड़ा है। संघटकों के विन्यासक्रमी सम्बन्ध 'मेटानिमी' के कारण हैं और उनके बीच के सहचारक्रमी सम्बन्ध 'मेटाफ़र' के हेतु।

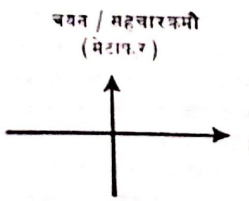

वाचाघात (आफ़ासिया) की बीमारी के समय इन दोनों आयामों

पर मानसिक विकार की स्थिति देखी जा सकती है। जो रोगी, चयन/सहचारक्रमी आयाम पर मानसिक शक्ति खो बैठता है, उसके लिए आवश्यक नहीं कि वह मन की संयोजन / विन्यासक्रमी शक्ति भी खो बैठे। वे केवल 'लैम्प' के लिए 'टेबुल,' 'चाकू' के लिए 'कैंची' आदि का प्रयोग करते हैं पर उनका वाक्य-विन्यास सही और व्यवस्थित रहता है। इसके विपरीत जो रोगी विन्यासक्रमी आयाम पर अपनी मानसिक शक्ति खो बैठता है वह वस्तुओं को उनके सही नाम से पहचान लेता है लेकिन उन वस्तुओं में पाए जाने वाले सम्बन्धों को सही वाक्य-विन्यास के साथ व्यक्त नहीं कर पाता। यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि भाषा या काव्यकृति की सम्पूर्ण संरचनात्मक विधान के लिए चयन और संयोजन दोनों ही मानसिक शक्तियों के आयाम की आवश्यकता होती है। इसलिए जब कभी किसी संरचना में हम 'मेटाफ़र' या 'मेटानिमी' की स्थिति पाते हैं तब वस्तुतः हम सहचारक्रमी अथवा विन्यासक्रमी सम्बन्ध योजना में से किसी एक की प्रमुखता की ही बात करते हैं। साहित्यिक रचनाओं के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि गीतिकाव्य, रोमांसवादी और प्रतीकवादी (सिम्बोलिज़्म) कृतियों, अतियथार्थवादी (सुरियलिस्टिक) चित्र, फ्रायडियन स्वप्न-बिम्ब आदि में प्रमुखता सहचारक्रमी सम्बन्धों की होती है। इसके विपरीत वीरगाथा काव्य, यथार्थवादी स्कूल की कथायोजना, उपन्यास-कहानी की कालयोजना आदि में हम सम्बन्धों की विन्यासक्रमी प्रकृति की प्रमुखता पाते हैं। सम्बन्धों की योजना के दो भिन्न सन्दर्भ ही हैं कि गीतकाव्य में काल-चेतना स्थिर (स्टैटिक) और अन्तरा-एकक (इंट्रा-यूनिट) होती है और उपन्यास में वह गतिशील तथा अन्तःएकक (इंटर-यूनिट)। सम्बन्ध-योजना के इन दो आयामों के सन्दर्भ में यह भी संकेत दिया जा सकता है कि कविता और काव्यात्मक उक्तियों के पीछे सहचारक्रमी व्यवस्था की प्रधानता रहती है जब कि गद्य की सर्जनात्मकता के पीछे विन्यासक्रमी सम्बन्ध योजना की व्यवस्था की प्रधानता।

४. कथानक-विश्लेषण की प्रणाली

शैलीविज्ञान को लेकर प्रायः यह कहा जाता है कि वह काव्य-संरचना का विश्लेषण-अध्ययन करने में तो सक्षम है पर महाकाव्य, उपन्यास, कहानी आदि के कथानक की संरचना के अध्ययन में वह असमर्थ है। यह भी आरोप लगाया जाता है कि भाषाविज्ञान में मान्य विश्लेषणात्मक अभिकरणों पर आधारित होने के कारण वह वाक्य स्तर के भाषिक प्रतीकों का विश्लेषण तो कर सकता है पर वाक्य से ऊपर की इकाइयों या रचना (कथानक, चरित्र आदि) को अपने अध्ययन-क्षेत्र में समेटने की उसमें शक्ति नहीं। इस सन्दर्भ में यह कहना अत्युक्तिपरक न होगा कि भाषाविज्ञान जिस प्रकार अपनी प्रकृति में सैद्धान्तिक और संक्रियात्मक दोनों ही है उसी प्रकार भाषा के संघटकों (कान्स्टीट्यूएंट्स) को भी वह संकल्पनात्मक और संक्रियात्मक दोनों ही सन्दर्भों में देखता है। 'प्रतीक सिद्धान्त' के सन्दर्भ में इसीलिए अगर 'रूपिम' या 'शब्द' उसके लिए प्रतीक हैं तो वाक्य भी,

क्योंकि दोनों में ही 'कथ्य' (सिग्निफ़ाइड) और अभिव्यक्ति (सिग्निफ़ायर) की अभिन्नता बनी रहती है, दोनों में ही कथ्य और अभिव्यक्ति के सम्बन्धों की प्रकृति यादृच्छिक (आर्बिट्रैरी) होती है और दोनों ही अपनी अर्थवत्ता (सिग्निफ़िकेशन) के सन्दर्भ में भाषा को प्रतीकों की व्यवस्था के रूप में सिद्ध करते हैं।

शैलीविज्ञान यह कहना चाहता है कि रूपिम, शब्द या वाक्य जिस प्रकार भाषिक प्रतीक हैं उसी प्रकार महाकाव्य, उपन्यास और कहानी भी क्योंकि इन कृतियों में भी हम कथ्य और अभिव्यक्ति की अभिन्नता पाते हैं, इनमें भी सम्बन्धों की प्रकृति यादृच्छिक होती है और इनके भी संघटक प्रतीक, संरचनात्मक व्यवस्था को जन्म देते हैं। पर जिस प्रकार भाषिक प्रतीक होकर भी रूपिम, शब्द या वाक्य भाषिक विधान के विभिन्न स्तरों की इकाई होने के कारण विभिन्न स्तरों की अपनी अर्थवत्ता को व्यंजित करते हैं उसी प्रकार वाक्य और काव्यकृति भाषिक विधान के विभिन्न स्तरों की इकाइयां होने के कारण विभिन्न स्तर की अपनी अर्थवत्ता ध्वनित करते हैं। इसी प्रकार, जिस तरह वाक्य, रूपिम, पद या पदबन्धों की क्रमिक शृंखला होकर भी एक संरचनात्मक संघटक होने के कारण उनके सम्पूर्ण योग से भिन्न एक समष्टिपरक इकाई है उसी प्रकार काव्यकृति अपने पाठरूप (टेक्स्ट-फ़ार्म) में वाक्यों की क्रमिक शृंखला होकर भी उनके सम्पूर्ण योग से भिन्न एक समष्टिपरक इकाई है।

कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यकृति के पाठ को दो दृष्टियों से देखना संभव है—व्यष्टिपरक (माइक्रो) दृष्टि और समष्टिपरक (मैक्रो) दृष्टि। व्यष्टिपरक दृष्टि के अनुसार पाठ वाक्यों की एक शृंखलाबद्ध कड़ी है पर समष्टिपरक दृष्टि के अनुसार पाठ वाक्यवत एक सम्पूर्ण संरचनात्मक संघटक है। वाक्यवत कहने से तात्पर्य यह है कि पाठ न तो कोई अधिवाक्य (सुप्रा-सेंटेंस) है और न ही मात्र वाक्य समूह, अपितु अपनी संरचनात्मक प्रकृति में वह वाक्य के समान है। वाक्यवत होने के कारण वाक्य और पाठ में संरचनात्मक समानान्तरता देखी जा सकती है, यथा :

वाक्य	पाठ
आभ्यन्तर संरचना (डीप स्ट्रक्चर)	समष्टिगत संरचना (मैक्रो-स्ट्रक्चर)
बाह्य संरचना (सरफ़ेस स्ट्रक्चर)	व्यष्टिगत संरचना (माइक्रो-स्ट्रक्चर)
वृत्तिवाचकता (मॉडेलिटी)	प्रोक्ति (डिसकोर्स)
प्रतिज्ञप्ति (प्रोपोज़िशन)	विषयवस्तु (काण्टेण्ट)
विधेय (प्रेडिकेट)	कार्यक्षेत्र (फ़ील्ड ऑफ़ एक्शन)
संज्ञा (नाउन)	पात्र (कैरेक्टर)
क्रिया (वर्ब)	क्रिया (एक्शन)
विशेषण (एडजेक्टिव)	गुणवाचकता (एट्रीब्यूट)
स्थिति सन्दर्भ (कॉण्टेक्स्ट ऑफ़सिचुएशन)	वातावरण (सेटिंग)

भाषाविज्ञान यह मानता है कि भाषा की प्रत्येक सार्थक इकाई प्रतीकवत होती है और प्रतीकवत होने के कारण उसमें कथ्य और अभिव्यक्ति का एक अभिन्न और प्रच्छन्न सम्बन्ध होता है। इस अभिन्न और प्रच्छन्न सम्बन्धों का अध्ययन ही व्याकरण है। व्याकरण वस्तुतः शब्द (अभिव्यक्ति) और अर्थ (कथ्य) के सम्बन्धपरक अमूर्त पर यथार्थ नियमों का कोश है। भाषा अपने व्यवहृत रूप में एक तथ्यपरक यथार्थता है पर अपने अधस्तल (सबस्ट्रैटम) में वह अमूर्त नियमों का विधान है। अतः भाषा की सर्जनात्मक शक्ति का स्रोत इन नियमों के विधान अर्थात व्याकरण में है जो अमूर्त होते हुए भी मानसिक सत्य है और अपने में सीमित (फ़िनिट) होने पर भी असीम (इनफ़िनिट) वाक्यों को प्रजनित (जेनरेट) करने में समर्थ है। व्याकरण की यह प्रजनन शक्ति ही है कि सीमित नियमों के आधार पर हम भाषा-व्यवहार के असीम क्षितिज को देख पाते हैं।

व्याकरण के तीन पक्ष होते हैं—पहले पक्ष का सम्बन्ध वाक्यार्थ (सीमेटिक्स) से होता है जिसे प्रतिज्ञप्ति और वृत्तिवाचकता के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। यह वस्तुतः प्रतीक के कथ्य पक्ष के विश्लेषण से सम्बद्ध होता है। दूसरे पक्ष का सम्बन्ध ध्वनि या लेखन की उस अभिव्यक्ति माध्यम की व्यवस्था से रहता है जिसके सहारे कथ्य की अमूर्त आर्थी संरचना मूर्तिमान होकर इन्द्रियग्राह्य बनती है। यह वस्तुतः प्रतीक के अभिव्यक्ति-पक्ष के विश्लेषण से सम्बद्ध होता है। तीसरे पक्ष का सम्बन्ध वाक्य के संघटकों के संयोजन की व्यवस्था (सिंटैक्स) से रहता है जिसके सहारे वाक्यार्थ और वाक्याभिव्यक्ति के बीच स्थित अमूर्त पर मनोवैज्ञानिक रूप में सत्य सम्बन्धपरक नियमों का विश्लेषण किया जाता है।

संरचना के धरातल पर वाक्य के दो स्तर होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर धरातल अर्थ का व्यंजक होता है और बाह्य धरातल अभिव्यक्ति का प्रकाशक। यह संभव है कि आभ्यन्तर धरातल पर वाक्य की संरचना एक हो और बाह्य धरातल पर दूसरी। अनेकार्थता या संदिग्धार्थता की स्थितिमें बाह्य धरातल पर वाक्य के एक से अधिक अर्थ होते हैं पर उनकी अभिव्यक्ति प्रणाली एक रहती है जब कि पर्यायवाची या अन्वयांतर (पैराफ्रेज) की स्थिति में वाक्यार्थ तो एक ही रहता है पर उसके लिए दो या दो से अधिक अभिव्यक्तियां रहती हैं। इन्हें निम्नलिखित चित्र द्वारा समझा जा सकता है।

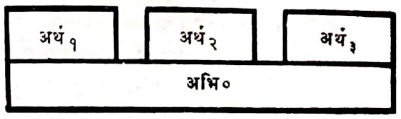

अनेकार्थी संरचना

अनेकार्थी संरचना के उदाहरणस्वरूप यह वाक्य लिया जा सकता है—'मोहन ने दौड़ते हुए शेर को मारा।'

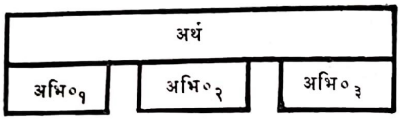

पर्यायवाची संरचना

अर्थ से सम्बद्ध होने के कारण आभ्यंतर धरातल पर इसके लिए दो भिन्न संरचनाएं होंगी। एक संरचना का सम्बन्ध होगा—'मोहन ने जिस शेर को मारा वह (शेर) दौड़ रहा था' और दूसरी संरचना का सम्बन्ध होगा—'मोहन ने जब शेर को मारा उस समय वह (मोहन) दौड़ रहा था।' अर्थात एक संरचना, 'दौड़ते हुए' को कर्म के विशेषण के रूप में देखेगी और दूसरी संरचना 'दौड़ते हुए' को क्रिया-विशेषण के रूप में। पर्यायवाची संरचना के उदाहरण स्वरूप ये दो वाक्य लिए जा सकते हैं—क (१) बगीचे में भौंरे गूंज रहे हैं। (२) बगीचा भौंरों से गूंज रहा है। ख (१) किसी ने सन्दूक में किताबें भर दी हैं। (२) सन्दूक में किताबें भरी हैं। (३) सन्दूक किताबों से भरा है। (क) के १ और २ वाक्य तथा (ख) के १, २ और ३ वाक्य आपस में पर्यायवाची वाक्य हैं क्योंकि आभ्यन्तर स्तर पर उनकी संरचना एक है। आभ्यन्तर स्तर पर संरचना के समान होने का कारणयह है कि क्रिया और संज्ञा-संघटकों के प्रकार्य (कारक प्रकरण) उनमें समान हैं। अन्तर है तो उनके बाह्य प्रतिफलन में अर्थात कारक प्रकरण समान होते हुए भी उनके कारक-रूप भिन्न हैं। उदाहरण के लिए (क) के दोनों वाक्यों के मूल में जो आभ्यंतर संरचना है उसमें क्रिया एक ही है अर्थात 'गूंजना' और उसके साथ बगीचा—(संज्ञा-संघटक) का कारक प्रकरण अधिकरण है और भौंरा (संज्ञा-संघटक) का 'कर्ता'। दोनों ही वाक्यों का कारक-ढाँचा समान है, अर्थात (—+अधिकरण+कर्ता)। पर आभ्यन्तर संरचना में एक होने पर भी अभिव्यक्ति धरातल पर ये दो वाक्य हैं क्योंकि वक्ता की विविक्षा के अनुसार एक वाक्य में एक संज्ञा-संघटक (भौंरा) को उद्देश्य के रूप में रखा गया है और दूसरे वाक्य में दूसरे संज्ञा संघटक (बगीचा) को। बाह्य धरातल पर हम पाते हैं कि वाक्य (२) में अधिकरण प्रकरण से युक्त 'बगीचे में' का केवल कारक-रूप ही नहीं बदला है बल्कि उसे 'उद्देश्य' के रूप में रखा गया है और जो मूल में कर्ता-प्रकरण से युक्त था उस 'भौंरे' के कारक-रूप को करणवत प्रयुक्त किया गया है।

आभ्यन्तर और बाह्य स्तर पर संरचनाओं को जोड़ने वाले सभी नियम रूपान्तरण-नियम कहलाते हैं। रूपान्तरण-नियम एक ओर अनेकार्थी वाक्यों के एक से अधिक आभ्यन्तर संरचनाओं को बाह्य स्तर पर एक संरचना में बदलते हैं और दूसरी ओर पर्यायवाची वाक्यों की मूलभूत आभ्यन्तर संरचना को बाह्य स्तर पर विभिन्न संरचनाओं के रूप में रचनान्तरित करते हैं।

वाक्य की आभ्यन्तर संरचना के मूल में दो तत्त्व होते हैं—वृत्ति-वाचक तत्त्व और प्रतिज्ञप्तिवाचक तत्त्व। वृत्तिवाचक तत्त्व वक्ता की वृत्तियों के संवाहक होते हैं यथा, वह प्रश्न पूछ रहा है, किसीको आज्ञा दे रहा है या बलार्थक भाव से अपनी बात कह रहा है। प्रतिज्ञप्तिवाचक तत्त्व कथ्य का वह विषयपक्ष है जो मूल में विधेयपरक (क्रिया-प्रकरण) और विभिन्न संज्ञा-संघटक (कारक-प्रकरण) के सम्बन्धों की प्रकृति पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्यों पर ध्यान दें—(१) मोहन किताब पढ़ता है। (२) मोहन किताब पढ़ रहा था। (३) मोहन किताब पढ़ेगा। (४) मोहन ने किताब पढ़ी है। (५) मोहन किताब पढ़ रहा होगा। (६) मोहन किताब पढ़े। (७) मोहन ने किताब पढ़ी होगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि वाक्य (१) से (७) तक के प्रतिज्ञप्तिवाचक तत्त्व एक ही हैं क्योंकि 'पढ़ना' क्रिया के सन्दर्भ में संज्ञा संघटक के सम्बन्धों की प्रकृति समान है। इन सभी वाक्यों का कारक-ढांचा एक ही है (—+कर्म+कर्ता)। अन्तर है तो काल (टेन्स), पक्ष (एस्पेक्ट), विधि (मोड) आदि वृत्तिवाचक तत्त्वों का।

वाक्यविश्लेषण के इस भाषावैज्ञानिक मॉडल के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि **किसी भी वाक्य की गठन-सम्बन्धी एक बाह्य संरचना होती है जो अर्थ-सम्बन्धी आभ्यन्तर संरचना के रूपान्तरण का परिणाम होती है। आभ्यन्तर संरचना के मूल में एक ओर वृत्तिवाचक तत्त्व होता है और दूसरी ओर प्रतिज्ञप्तिवाचक तत्त्व। प्रतिज्ञप्तिवाचक तत्त्व अपने मूल में विधेयपरक संघटक और विभिन्न संज्ञा-संघटक के सम्बन्धों का परिणाम होता है।**

कथानक के संरचनात्मक विश्लेषण के लिए विद्वानों ने कथाकृति को वाक्यवत मानकर उसका विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इन विद्वानों में व्लाडिमिर प्राप, ग्रीमा, त्वदरोव, बार्थ, फ़ाउलर आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस दिशा में सबसे पहले रूसी रूपवादी आलोचना के प्रसिद्ध विद्वान प्राप ने १३२ रूसी लोककथाओं के विश्लेषण के सन्दर्भ में अपना सिद्धान्त रखा जो रूसी भाषा में १९२८ में प्रकाशित हुआ और जिसका अंग्रेजी अनुवाद सर्वप्रथम १९५८ में छपा। प्राप के अनुसार भाषा के अभिव्यक्त रूप की तरह कथानक भी एक ठोस और यथार्थ अभिव्यक्ति है जिसके पीछे एक अमूर्त व्याकरण काम करता है। जिस प्रकार भाषा के किसी भी ठोस अभिव्यक्त रूप की व्याख्या बिना उसके अमूर्त नियम विधान (व्याकरण) के नहीं दी जा सकती उसी प्रकार कथानक को बिना उससे अमूर्त विधान के सही रूप में नहीं समझा जा सकता। प्राप के पूर्ववर्ती आलोचक वेसेलोव्स्की के अनुसार कथानक को उसके 'मोटिफ़' के आधार पर ही समझना सम्भव था। प्राप ने अपनी संरचनावादी प्रणाली के आधार पर यह दिखलाया कि 'मोटिफ़' तत्त्व को भी तोड़कर उसके प्रकार्यात्मक अभिलक्षण के रूप में देखा जा सकता है और आगे बढ़कर उन्होंने यह भी दिखलाया कि बिना कथानक में परिवर्तन लाये उन अभिलक्षणों के प्रतिफलित बाह्य रूप में परिवर्तन लाया जा सकता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित घटना के मोटिफ़ को ही लें :

'एक अजगर ने राजा की कन्या का अपहरण किया।' इसमें अजगर के स्थान

पर जादूगर, दैत्य, चुड़ैल आदि कोई भी हो सकता है। राजा के स्थान पर कन्या का पिता, मां या कोई भी पालक या धारक हो सकता है। कन्या के स्थान पर प्रेयसी या कोई भी काम्य वस्तु हो सकती है। अपहरण-क्रिया के स्थान पर अदृश्य या छुपाने की अन्य कोई क्रिया हो सकती है। इस परिवर्तन के बावजूद 'मोटिफ़' की प्रकृति वही रहेगी।

वाक्य में जिस प्रकार प्रतिज्ञप्तिपरक तत्त्व के मूल में भाषावैज्ञानिकों ने विधेय-परक संघटक और विभिन्न संज्ञा संघटकों के सम्बन्धों की स्थिति स्वीकार की, उसी प्रकार प्राप ने भी 'प्रकार्य' (फ़ंक्शन) और 'भूमिका' (रोल) की संकल्पना सामने रखी। प्रकार्य को उन्होंने पात्रों के विभिन्न बाह्य रूपों (यथा खलनायक के रूप में जादूगर, दैत्य, चुड़ैल आदि) की क्रिया के उस जातीय रूप में देखा जिसकी प्रकृति अपरिवर्तनीय होती है। (१३२ परीकथाओं के विश्लेषण-अध्ययन के आधार पर उन्होंने निषेध, नियमभंग, खोज, धोखा आदि ३१ प्रकार्यों की कल्पना की।) भूमिका से उनका तात्पर्य पात्रों से था जिसकी प्रकृति को भी उन्होंने जातीय और अपरिवर्तनीय माना। खलनायक, दाता, सहायक, काम्य व्यक्ति, प्रेषक, नायक और आभासी नायक—के रूप में उन्होंने पात्रों के रूप में सात भूमिकाओं की कल्पना की। 'प्रकार्य' की संरचनात्मक व्याख्या करते हुए उन्होंने यह बताया कि वह एक ही भूमिका का निर्वाह करने वाले पात्रों की वह क्रिया है जिसकी प्रकृति का निर्धारण पूरी कहानी में सार्थकता-सम्बन्धी उस योजना के सन्दर्भ में किया जाता है जो कहानी को गति देकर आगे बढ़ाती है। उदाहरण के लिए घटनाओं के क्रम में आने वाले विभिन्न तीन क्रिया-रूपों को देखें :

(१) साधु ने मन्त्रबल से राक्षस के चंगुल से छुड़ाया।
(२) चूहे ने जाल को काटकर कैद से निकाला।
(३) चिड़िया ने जासूसी कर निकल भागने का रास्ता बताया।

इन तीनों क्रिया में प्रकार्य 'सहायता' है और भूमिका 'सहायक' की। यह ध्यान देने की बात है कि 'प्रकार्य' पूरी कथा-योजना में अपनी भूमिका के आधार पर परिभाषित होता है। नीचे की दो परिस्थितियों पर ध्यान दें :

(क) नायक को अपने पिता से कुछ धन की प्राप्ति होती है जिससे वह एक मैना खरीदता है जो बाद में चलकर उसकी सहायता करती है।
(ख) नायक को कठिन काम करने पर पिता से कुछ धन की प्राप्ति होती है जिसकी सहायता से वह एक महल बनवाता है और जिसमें अपनी पत्नी के साथ सुख के दिन बिताता है।

ऊपर दिये (क) और (ख) दोनों ही स्थितियों में नायक को धन की प्राप्ति होती है पर इस घटना के प्रकार्य भिन्न-भिन्न माने जायेंगे, क्योंकि कथा-योजना के (क) प्रसंग में धन-प्राप्ति का परिणाम (ख) प्रसंग की धन-प्राप्ति के परिणाम से भिन्न है। (क) प्रसंग में वह कहानी को आगे बढ़ाता है जबकि (ख) प्रसंग में कहानी की समाप्ति या ठहराव का सूचक है। इसके विपरीत यद्यपि ऊपर की तीन स्थितियों

में भूमिकारूप में पात्र भिन्न-भिन्न हैं—(१) में साधु, (२) में चूहा, और (३) में चिड़िया है। उनके क्रिया-उपकरण भी भिन्न-भिन्न हैं—(१) में मंत्रबल, (२) में जाल काटना और (३) में जासूसी करना, फिर भी 'प्रकार्य' के धरातल पर वे एक हैं जिन्हें 'सहायता' का नाम दिया जा सकता है।

यह स्थिति 'स्वनिम' (फ़ोनीम) और 'सहस्वन' (एलोफ़ोन) की तरह भूमिका और प्रकार्य को भी दो स्तरों पर परिभाषित करती है। भूमिका (पात्र) के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि उसका एक धरातल प्रकर्ता (एक्टैंट) की तरह का है और दूसरा धरातल सहकर्तृक (एक्ट्यूर) की तरह। जैसे 'स्वनिम' एक प्रकार्यात्मक अमूर्त (फ़ंक्शनली एब्सट्रैक्ट) संकल्पना है उसी प्रकार प्रकर्ता भी, और जिस प्रकार 'सहस्वन' स्वनिम का ही एक प्रतिफलित विशिष्ट रूप है उसी प्रकार सहकर्तृक भी प्रकर्ता का प्रतिफलित यथार्थ व्यष्टिरूप। ऊपर के उदाहरण में यह कहा जा सकता है कि प्रकर्ता के रूप में पात्र 'सहायक' प्रकार्य से युक्त है और उसके प्रतिफलित व्यष्टि रूप—साधु, चूहा और चिड़िया, सहकर्तृक हैं।

अगर हम प्रकर्ता को (क), सहकर्तृक को (क १, क २ और क ३) और क्रिया-प्रकार्य के क्षेत्र को (प्र) मानें तो सम्प्रेष्य कथ्य को विभिन्न लोककथाओं के सन्दर्भ में निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं :

	कथ्य १	कथ्य २	कथ्य ३
लोककथा १	(प्र १) क १	(प्र २) क १	(प्र ३) क १
लोककथा २	(प्र १) क २	(प्र २) क २	(प्र ३) क २
लोककथा ३	(प्र १) क ३	(प्र २) क ३	(प्र ३) क ३

जैसे स्वनिम और कारक की प्रकृति अमूर्त और जातिगत होती है और सहस्वन और कारकरूप (विभक्ति) की मूर्त और विशेषीकृत, उसी प्रकार क्रिया और भूमिका के स्तर पर प्रकर्ता की प्रकृति भी अमूर्त और जातिगत होती है और सहकर्तृक की मूर्त और विशेषीकृत। इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि आभ्यन्तर संरचना की तरह प्रकर्ता भी समष्टिगत संरचना के संघटक हैं और इसीलिए पात्रों के जातिरूप (जेनेरिक/टाइप) को व्यक्त करते हैं जब कि सहकर्तृक के रूप में वे ही पात्र विशेषीकृत होकर बाह्य संरचना की भाँति व्यष्टिगत संरचना के संघटक बनकर व्यक्ति रूप (स्पेसिफ़िक/टोकेन) बन जाते हैं। यही कारण है कि कथानक के पात्र और उनकी क्रियाएँ एक ओर जातिरूप (टाइप) होती हैं और दूसरी तरफ़ व्यक्तिरूप (टोकेन)। उनका जातिरूप अमूर्त होता है पर उनका व्यक्तिरूप ठोस और ऐन्द्रिक लक्षणों से युक्त रहता है।

जिस प्रकार वाक्य की आभ्यन्तर और बाह्य संरचना को जोड़ने वाले रूपांतरण नियम हैं उसी प्रकार कथानक की समष्टिगत संरचना को व्यष्टिगत संरचना में व्यक्त करने वाले रचनान्तरण नियम होते हैं और जिस प्रकार रूपान्तरण

नियम स्वनिम, रूपिम आदि अमूर्त इकाइयों को सहस्वन, सहरूप आदि मूर्त इकाइयों में रूपान्तरित करते हैं उसी प्रकार रचनान्तरण नियम प्रकर्ता और उनकी जातीय क्रियारूपों को सहकर्तृक और विशिष्ट क्रियारूपों में इस प्रकार रचनान्तरित करते हैं कि वे अधिक ऐन्द्रिक और प्रत्यक्षीकृत हो सकें। रचनान्तरण नियम को हम अभिव्यक्तीकरण नियम कह सकते हैं जो सामान्य को विशिष्ट और अमूर्त को मूर्तरूप में प्रत्यक्षीकृत बनाता है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रत्यक्षीकरण केवल संज्ञारूप (कैरेक्टर्स) और क्रियारूप (एक्शन्स) का ही नहीं होता वरन् कथानक में वृत्तिवाचकता (मॉडेलिटी) का भी होता है। वाक्य-प्रतीक के सन्दर्भ में पहले कुछ उदाहरण दिये गये हैं, लेकिन कुछ और उदाहरणों के सहारे इस बात को भली भांति समझ लेना चाहिए कि रूपान्तरण (रचनान्तरण) नियम के प्रेरक तत्त्व हैं क्या ? उदाहरण के लिए वक्य-स्तर के निम्नलिखित भाषिक प्रतीक पर ध्यान दें :

क. (१) बगीचे में भौंरे गूंज रहे हैं।
(२) बगीचा भौंरों से गूंज रहा है।
ख. (१) कालिदास ने शंकुतला की रचना की है।
(२) कालिदास ने शंकुतला की रचना की थी।
ग. (१) मोहन ने काम नहीं किया।
(२) मोहन से काम नहीं हुआ।
घ. (१) कमरे में साँप है।
(२) साँप कमरे में है।

क, ख, ग, और घ के (१) और (२) वाक्यों के सम्बन्ध पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि उनके प्रतिज्ञप्तिवाचक तत्त्वों में कोई भेद नहीं। उनकी क्रिया के आर्थीपक्ष में भी समानता है और उनके कारक-प्रकरण के ढाँचे में भी। अतः आभ्यन्तर संरचना में वे समरूप हैं। पर बाह्य संरचना के स्तर पर वे भिन्न हैं और उस भिन्नता का कारण है वृत्तिवाचकता। क के वाक्य (१) में भौंरा कर्ता भी है और वाक्य का उद्देश्य भी पर वाक्य (२) में हम बगीचा को उद्देश्य रूप में सामने लाना चाहते हैं और इसीलिए रूपात्मक दृष्टि से उसका कर्तृवत प्रयोग किया गया है। मूल कर्त्ता 'भौंरा' के कर्तृत्व को क्षीण करते हुए इस वाक्य में उसका करणवत प्रयोग किया गया है। वाक्य (ख) के दोनों वाक्यों में रचने की घटना, घटकर विगत (भूत) हो चुकी है और भौतिक समय के संदर्भ में उसे बीता हुआ कह सकते हैं। पर काल-वृत्ति के सन्दर्भ में वाक्य (१) 'है' के माध्यम से हमें वर्तमान के काल-बोध से जोड़ता है जबकि वाक्य (२) में वर्तमान काल-बोध से हमारी चेतना को काटकर घटना को भूतकालिक सन्दर्भ देता है। ग के वाक्य (१) और (२) का अन्तर वाच्य का है। वाक्य (१) कर्तृवाच्य में है जिसमें मोहन के कर्तृत्व पर बल है, भले ही यह निषेधात्मक कथन है,

इसीलिए हम यह भी कह सकते हैं 'मोहन ने जानबूझकर यह काम नहीं किया।' इसके विपरीत वाक्य (२) में 'काम' पर बल है और मोहन के कर्तृत्व का ह्रास कर उसे करणवत बनाया गया है जिससे मोहन की अशक्यता का बोध होता है। इसमें 'मोहन' के कर्तृत्व का ह्रास है इसीलिए हम ऐसा वाक्य नहीं बोलते—'मोहन से जानबूझकर काम नहीं हुआ।' घ के वाक्य (१) और (२) के अन्तर का प्रसंग इस तथ्य पर निर्भर है कि साँप पहले से चर्चित है या नहीं। वाक्य (१) में साँप कोई भी हो सकता है क्योंकि वह अनिर्दिष्ट है पर वाक्य (२) में निर्दिष्ट होने के कारण इस तथ्य को व्यंजित करता है कि इस साँप की पहले चर्चा हो चुकी है।

जिस प्रकार रूपान्तरण नियम व्याकरण की अपनी सम्पत्ति हैं पर कौन-से नियम किस स्थिति (काल या स्थान पर) में प्रयुक्त होंगे, किस संज्ञा-संघटक को कब उद्देश्य बनाया जाये, किस कथन को कब कर्तृवाच्य के रूप में रखा जाये और कब कर्मवाच्य के; किसी घटना को कब वर्तमान कालबोध से बाँधा जाये और कब भूत या भविष्य कालबोध का सन्दर्भ दिया जाये, किस प्रतिज्ञप्ति को निर्दिष्ट माना जाये और किसको नहीं आदि सभी प्रश्न वक्ता की वृत्ति और कथन की वृत्तिवाचकता से जुड़े होते हैं। उसी प्रकार कहानी (स्टोरी) को कथानक (प्लाट) में रचनान्तरित करने वाले नियमों का प्रेरक तत्त्व वृत्तिवाचकता होती है। **यह वृत्तिवाचकता ही कथानक के 'मोटिफ़' को जन्म देती है। विश्लेषण-प्रणाली के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार वाक्य के अभिव्यक्त (बाह्य) रूप और उनकी संरचना वृत्तिवाचकता का पता दे देती है उसी प्रकार कथानक की व्यष्टिगत संरचना और उसकी इकाइयाँ भी 'मोटिफ़' पर प्रकाश डालती हैं।**

मोटिफ़ वृत्तिवाचक होता है जब कि पात्र और उनके क्रिया या कर्म-विधान प्रतिज्ञप्तिवाचक। पर जब किसी वृत्ति से प्रेरित होकर कथाकार किसी पात्र के चरित्र का निर्माण करता है तो उसे स्थितिपरक (स्टैटिक) चित्र के समान अंकित नहीं करता। वह तो मात्र एक विवरण होगा। कथाकार को उस चरित्र की कल्पना क्रिया और कर्म करने की सम्भावना के रूप में करनी पड़ती है। मान लीजिये कि वह किसी नारी पात्र की कोमल और दयालु प्रकृति को उद्घाटित करना चाहता है। उस स्थिति में वह मात्र कहकर ही उसका चित्रण नहीं करता वरन इस 'मोटिफ़' के लिए कुछ घटनाक्रम का विन्यास करता है, जिसके आधार पर उस पात्र की कोमल और दयालु प्रकृति व्यंजित हो सके। वस्तुतः कथानक के इस पक्ष को हम **'विधेय विधान का नियम'** कह सकते हैं। यह नियम पात्र के व्यक्तित्व और उसके द्वारा सम्पन्न क्रिया को एक सजातीय (होमोलोगस) मॉडल में बाँधता है।

इसके साथ ही वृत्ति और मोटिफ़ को **'केन्द्रक' (फ़ोकल) बनाकर जब कथाकार उसपर बल देना चाहता है तब वह पेशबन्दी (फ़ोर-ग्राउंडिंग) का सहारा**

लेकर घटनाओं को विभिन्न रूपों में घटते हुए दिखाता है। ये घटनाएँ ऊपर से तो भिन्न-भिन्न रूप और आकार लिये होती हैं पर अपनी मूल वृत्ति में एक मोटिफ़ पर आधारित होती हैं। **इसे 'घटनाओं की पुनरावृत्ति का नियम' कहा जा** सकता है। उदाहरण के लिए इन तीन घटनाओं को ही लें—(१) केडेमास यह प्रयत्न करता है कि जियस उसकी बहन के साथ बलात्कार करे, (२) ओडिपस अपनी माँ से शादी करता है, और (३) नियम भंग कर ऐंटिगान अपने भाई को दफ़नाता है। लेविस्ट्रास के अनुसार इन तीनों घटनाओं के पीछे का मोटिफ़ रहा है, 'खून के रिश्ते के प्रसंग' पर बल देना, और उसे विभिन्न रूपों में पेश कर हमारा ध्यान आकृष्ट करना।

कथानक अपनी सम्पूर्णता में संकेतन विधान से बँधा होकर ही सार्थक बन पाता है। साहित्यिक कृतियों में यह संकेतन दो स्तरों पर पाया जाता है। एक स्तर का सम्बन्ध भाषा के व्यावहारिक पक्ष से जुड़ा होता है और दूसरे का उसके मिथक पक्ष से। भाषा का व्यावहारिक पक्ष वस्तुओं के बाहरी पक्ष से जुड़ा होता है जब कि उसका मिथक पक्ष उसके भीतरी गुण की ओर व्यंजित करता है। दोनों के मूल में अर्थ का एक संसार होता है पर उन दोनों के अभिव्यक्ति-रूप में ऊपरी समानता होते हुए भी उनकी प्रतीकन सार्थकता में अन्तर रहता है। उदाहरण के लिए जब हम यह कहते हैं—'उसका सामान भारी है' और 'उसका मन भारी है'। तो 'भारी' शब्द दोनों में एक जैसा है पर एक वस्तु (सामान) के बाहरी पक्ष की ओर संकेतित करता है और दूसरा वस्तु (मन) के भीतरी पक्ष की ओर। इसी प्रकार कथानक में घटनाओं और उसके क्रम का भी एक बाहरी पक्ष होता है और दूसरा उसका भीतरी। कथानक में दोनों स्तर पर संकेतन का अलग-अलग विधान मिलता है। पर कृति के सन्दर्भ में इन दो स्तरों पर पाये जाने वाले विधानों में भी सम्बन्धों का एक संरचनात्मक विधान होता है। इसे **संकेतन सार्थकता का नियम विधान कहा जा सकता है।**

यहां यह भी ध्यान देने की बात है कि सम्बन्धों का यह संरचनात्मक विधान प्रतीकात्मक वस्तुओं की सत्ता-सम्बन्धी स्थितियों पर प्रकाश डालता है। हम संसार में वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से संबंध के आधार पर ही पहचानते हैं। किसी पर प्रकाश तभी पड़ता है जब वह किसी दूसरी वस्तु के विरोध में आकर खड़ी होती है। हम बोध के धरातल पर जिस संसार का निर्माण करते हैं वह हमारी व्यतिरेक/विरोध की वृत्ति पर ही निर्मित रहता है। अर्थ के धरातल पर यह विरोध पक्षपद (सीम) और अर्थिम (सीमिम) की संकल्पना को सामने लाता है। पक्षपद का आधार अर्थ का व्यतिरेकी पक्ष है, यथा, पुंलिंग/स्त्रीलिंग, बड़ा/छोटा, काला/सफ़ेद। संकेतन-सार्थकता अपनी अर्थवत्ता के व्यतिरेक के दो युग्मों का परिणाम होती है, यथा (क : ख : :—क :—ख)। अगर 'क' प्रतीक की सार्थकता को समझना है तो एक तरफ़ उसे 'ख' के विरोध में लाकर देखना पड़ता है और दूसरी ओर 'क' जो है या होने की संभावना है उसको जो वह नहीं

है या जिसके न होने की संभावना है उसके विरोध में लाकर देखना पड़ता है। यह कहा जा सकता है कि कथानक के पात्र (चरित्र) और उनके द्वारा की गयी क्रियाओं की सार्थकता पर प्रकाश का क्षेत्र, वस्तुतः व्यतिरेक का क्षेत्र है। हम यह कह सकते हैं कि अगर पात्र, सार्थकता के धरातल पर अर्थिम (सीमिम) है तो यह अर्थिम और कुछ नहीं सार्थक पक्षपदों का समुच्चय है। अतः **पात्र या घटना के निर्माण के इस पक्ष को हम व्यतिरेकी पक्षपदों का नियम कह सकते हैं।**

साहित्य और साहित्यिक कृति भी 'मिथ' की तरह भाषा की दुहरी प्रतीक-योजना का परिणाम होती है। प्रतीकविज्ञान की तकनीकी शब्दावली के सन्दर्भ में हम यह कह सकते हैं कि किसी भी प्रतीक के दो पक्ष होते हैं—संकेतक (सिग्निफ़ायर) और संकेतित (सिग्निफ़ायड)। अपने संरचनात्मक सम्बन्धों के आधार पर ही संकेतक और संकेतित, सस्यूर के अनुसार 'भाषिक प्रतीक' को जन्म देते हैं। भाषिकेतर स्थितियों में संकेतक और संकेतित की 'साहचर्य-समष्टि' (एसोसिएटिव टोटल) को मात्र प्रतीक कहा जा सकता है। बार्थ ने इस स्थिति को निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट करने की कोशिश की है। मान लीजिये, कोई व्यक्ति अपनी प्रेयसी को 'गुलाब का एक फूल' भेंट देता है। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि 'गुलाब का फूल' संकेतक है और भेंट करने वाले की भाव-वृत्ति संकेतित है। इन दोनों की साहचर्य-समष्टि एक तीसरे पारिभाषिक शब्द—प्रतीक को जन्म देती है अर्थात् 'गुलाब का फूल' यहाँ प्रतीक है। प्रतीक के रूप में 'गुलाब का फूल' को संकेतक के रूप में जो 'गुलाब का फूल' है उससे भिन्न समझना चाहिए। संकेतक के रूप में तो वह मात्र वनस्पतिशास्त्र (भौतिक जीवन) की एक वस्तु है, जब कि प्रतीक के रूप में वह 'साहचर्य समष्टि' की एक इकाई। संकेतक के सन्दर्भ में 'गुलाब का फूल' अपने में खाली (एम्प्टी) होता है जब कि प्रतीक के सन्दर्भ में पूरी तरह से भरा हुआ रहता है। जिस चीज़ से प्रतीक भरा रहता है वह है देने वाले की भाववृत्ति और परिपाटीबद्ध आचरण जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य/वृत्ति के सम्प्रेषण/अभिव्यक्ति का रास्ता निर्धारित करता है। यह रास्ता एक नहीं कई हो सकते हैं पर होते सभी परिपाटीपरक हैं। इसीका परिणाम है कि एक पत्थर को भी शालिग्राम कहकर उसमें भगवान की हम कल्पना कर लेते हैं। पत्थर के रूप में वह मात्र संकेतक है पर भगवान की भावना से सम्बद्ध होकर वह प्रतीक बन जाता है और प्रतीक बनकर वह भाव और वृत्ति से भर उठता है।

बार्थ के अनुसार मिथ में एक ओर हम संकेतन-व्यापार के तीन पक्षों की स्थिति पाते हैं; यथा, संकेतक, संकेतित और प्रतीक, और दूसरी ओर प्रतीकों की कड़ी में अनिवार्यतः उसे दूसरे चरण पर स्थित पाते हैं। अर्थात संकेतन व्यापार के पहले चरण पर जो 'साहचर्य समष्टि' के रूप में प्रतीक था, वह दूसरे चरण के प्रतीक का संकेतकमात्र बन जाता है। इसे नीचे दिए गये चित्र द्वारा समझा जा सकता है।

इस दृष्टि से मिथ-निर्माण में पहले चरण पर स्थित प्रतीक को लेकर उसके संकेतित तत्त्व का अपवहन करते हुए उसे रिक्त कर दूसरे चरण के प्रतीक का

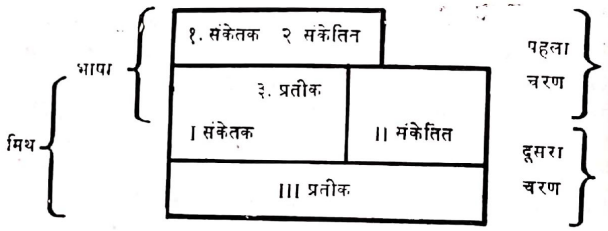

मात्र संकेतक बना दिया जाता है। बार्थ के अनुसार प्रतीक निर्माण के पहले चरण पर जो संकेतक, संकेतित और प्रतीक था उसे दूसरे चरण पर क्रमशः रूप, संकल्पना और प्रतीकन कहना अधिक उचित होगा। क्योंकि पहले चरण पर अगर संकेतक और संकेतित, समष्टि साहचर्य के रूप में प्रतीक (साइन) को जन्म देते हैं; तो दूसरे चरण पर संकेतक और संकेतित, अपने रूप और संकल्पना के स्थान पर संकेतन (सिग्नीफ़िकेशन) प्रक्रिया पर बल देते हैं। जो स्थिति मिथ के सन्दर्भ में देखी जा सकती है, वही स्थिति साहित्य के सन्दर्भ में भी पायी जाती है। साहित्य भी पहले चरण के समष्टि-साहचर्य के रूप में सिद्ध भाषिक प्रतीक को दूसरे चरण के प्रतीक में इस ढंग से रूपान्तरित करता है कि वह संकेतन (सिग्नीफ़िकेशन) व्यापार का अंग बन जाता है। उदाहरण के लिए इस काव्य-उक्ति को लें—'एक फूल की क़ीमत लाखों सिसकियों ने चुकाई है।' इस उक्ति में प्रतीक विधान के पहले चरण में हम 'फूल' के रूप में समष्टि साहचर्य के साथ जिस भाषिक प्रतीक को देखते हैं उसमें एक ओर संकेतक के रूप में अभिव्यक्तिपरक 'फ्+ऊ+ल+अ' इकाइयों की योजना है और दूसरी ओर उसका संकेतार्थ, जो उसे वनस्पति जगत की एक ऐसी इकाई बताता है जो पेड़, पत्ते, फल आदि से भिन्न व्यतिरेकी अर्थ के रूप में सामने आता है। पर प्रतीक-व्यवस्था के दूसरे चरण पर लाने के लिए पहले चरण के प्रतीक के इस अर्थ का पहले अपवहन करना पड़ता है और उस मात्र प्रतीक को दूसरे चरण के प्रतीक का संकेतक बनाना पड़ता है। इसीलिए इस उक्ति में जो साहित्यिकता है उसके सन्दर्भ में 'फूल' जिस संकेतन व्यापार का अंग बनता है उसमें वह वनस्पति संसार की इकाई न होकर जीवन का 'कोई भी कोमल, काम्य और प्रेयपरक पक्ष' बन जाता है। इसी प्रकार 'सिसकियाँ' हमारा जैविक आचरण न रहकर जीवन में झेलने वाले 'दुख, पीड़ा और विसंगति' की अर्थसंवाहक बन जाती हैं। प्रतीक के इस दूसरे स्तर पर आकर प्रतीक, प्रतीक न रहकर प्रतीकन व्यापार बन जाता है।

दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि पहले स्तर पर सिद्ध प्रतीक,

भाषा के उस व्यावहारिक पक्ष को सामने लाता है जिसे हम अभिधेयार्थ या वाच्यार्थ (डिनोटेशन) कहते हैं जब कि मिथ या साहित्य के क्षेत्र में सिद्ध प्रतीक, भाषा के उस पक्ष को सामने लाता है जो हमारी चेतना-संसार से जुड़ा होता है और जिसे हम व्यंग्यार्थ या सम्पृक्तार्थ (कॉनोटेशन) कहते हैं। इसीलिए हम यह कह सकते हैं कि **साहित्य का क्षेत्र वस्तुतः सम्पृक्तार्थ का क्षेत्र है जो प्रतीक प्रक्रिया में इस ढंग से सिद्ध रहता है कि उसका संकेतक (रूप) पक्ष, स्वयं में एक अन्य उस भाषिक प्रतीक-व्यवस्था से बना होता है जिसकी प्रकृति अभिधेयार्थपरक (डिनोटेटिव) होती है।**

साहित्य का संसार वस्तुतः सम्पृक्तार्थ का संसार है। इसे बाह्यजगत के भौतिक या जैविक संसार से भिन्न स्तर के संसार के रूप में ग्रहण करने की आवश्यकता है। इस सम्पृक्तार्थपरक संसार के अपने नियम हैं, अपने तर्क हैं और अपनी कार्यप्रणाली है। इसे बाह्य संसार के नियमों के सन्दर्भ में देखना और मूल्यांकन करना गलत है। ऐसा करने पर दो स्थितियाँ मुख्यतः सामने आती हैं—पहली स्थिति को हम अन्तर्विरोध की स्थिति कह सकते हैं जहाँ संम्पृक्तार्थ और अभिधेयार्थ के संसार अपनी व्याख्या में टकरा जाते हैं। दूसरी स्थिति को हम तर्कातीत स्थिति कह सकते हैं जहाँ हम सम्पृक्तार्थ के संसार को पकड़ न पाने के कारण अथवा उसके नियम और कार्यप्रणाली को जान न पाने के कारण उसे अतर्क्य मान बैठते हैं। ये दोनों ही स्थितियाँ इस ओर हमारा ध्यान दिलाती हैं कि साहित्य को प्रतीक-निर्माण के सर्जनात्मक पक्ष से जोड़कर देखने की आवश्यकता है। शैलीविज्ञान साहित्य को प्रतीकसिद्ध व्यापार की सर्जनात्मक उपलब्धि मानते हुए यह भी कहना चाहता है कि कथानक में कथातत्त्व के रूप में जो घटनाएँ, पात्र आदि हैं वे संकेतन व्यापार की इकाइयाँ होने के कारण, मुख्यतः सम्पृक्तार्थपरक संसार की इकाइयां हैं और इसी कारण उनमें सम्बन्धों की जो प्रकृति या क्रम की जो योजना दिखलाई पड़ती है उनको सम्पृक्तार्थपरक संसार के नियमों के सन्दर्भ में देखना चाहिए। यह बात दूसरी है कि अभिधेयार्थ अथवा बाह्यसंसार और सम्पृक्तार्थ अर्थात काव्यसंसार के बीच की दूरी या असंगतता जो कविता में देखने को मिलती है वह कथा-साहित्य में नहीं, पर जो भी दूरी या असंगतता दिखलाई पड़ती है उसे न तो अतर्क्य माना जा सकता है और न ही शब्दातीत।

साहित्यिक कृति को वाक्यवत मानते हुए अन्त में यह कहा जा सकता है कि कृति में गठन-सम्बन्धी एक व्यष्टिगत संरचना (माइक्रो-स्ट्रक्चर) होती है जो अर्थ-सम्बन्धी समष्टिगत संरचना (मैक्रो-स्ट्रक्चर) के रचनान्तरण का परिणाम होती है। समष्टिगत संरचना में एक ओर प्रोक्तिपरक (डिस्कोर्स) तत्त्व होता है (जो वृत्तिवाचकता (मॉडैलिटी) का कारण है) और दूसरी ओर विषयवस्तु (थीम) होती है (जो प्रतिज्ञप्ति (प्रोपोज़िशन) का कारण है)। विषयवस्तु अपने मूल में जिन घटनाओं (इवेण्ट्स) को जन्म देती है वे अपने भीतर क्रिया

(एक्शन) और उससे सम्बद्ध पात्रों (करेक्टर्स) के सम्बन्धों का परिणाम होती है। विषयवस्तु (थीम/स्टोरी) का कथानक (प्लाट) में रूपान्तरण के प्रेरक तत्त्व वृत्तिवाचक होते हैं जिनको बाँधने के लिए दुहरी प्रतीकीकरण प्रक्रिया की आवश्यकता पड़ती है और जिनके सम्प्रेषण के लिए साहित्यकार विधेय-विधान के नियम, घटनाओं की पुनरावृत्ति के नियम, संकेतन-सार्थकता के नियम, व्यतिरेकी पक्षपदों के नियम आदि का सर्जनात्मक उपयोग करता हुआ सम्पृक्तार्थ (काव्यसंसार) का सृजन करता है।

५. कथानक : प्रतिपाद्य संरचना और दृष्टिशैली

चित्रकला की तरह कथा साहित्य भी प्रतिरूपात्मक (रिप्रजेंटेशनल) होता है। जिस यथार्थ को वह कलात्मक रूप में बाँधकर विश्वसनीय रूप देता है, उसके लिए यह भी कहा जा सकता है कि वह अपने माध्यम से अलग रहकर भी सिद्ध रह सकता है। कुछ विद्वानों के अनुसार वह तो अभिव्यक्ति माध्यम से बाहर की चीज है जिसे भाषा, प्रतीक, बिम्ब, प्रोक्ति आदि से अलग कर देखा और समझा जा सकता है। विषयवस्तु के रूप में चर्चा इसी रूप में करने के आलोचक आदी भी हैं। शैलीविज्ञान के अनुसार कथा-साहित्य अनुकरणमूलक न होकर अनुसर्जनात्मक होता है। बाह्य घटनाओं के रूप में वह जीवन और जगत का अनुवाद रूप तो है पर इसके साथ यह भी तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि कला रूप होने के कारण वह यथातथ्य लेखन न होकर उसका सर्जनात्मक रूपान्तरण है। यही कारण है कि 'वार्ता' के रूप में व्यावसायिक लेखन और 'काव्यपरक' के रूप में साहित्यिक लेखन में गुणात्मक भेद देखा जा सकता है। कथा-साहित्य की विशेषता इस तथ्य में निहित है कि वह एक दुहरी प्रक्रिया का परिणाम होता है। एक तरफ तो उसमें कहानी कहने की विवशता है और दूसरी तरफ जटिल अनुभवों को सम्प्रेषित करने की आन्तरिक आवश्यकता। पहली विवशता उसे प्रज्ञप्तिवाचकता की ओर ले जाती है और विश्लेषण में सन्देश और सूचना की संरचना और प्रकृति पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करती है। दूसरी विवशता कथाकार की दृष्टि, चेतना और अनुभव के सम्प्रेषण से सम्बद्ध होने के कारण वृत्तिवाचकता को अपने केन्द्र में रखकर विश्लेषण करती है।

प्रत्येक कथा-साहित्यिक कृति घटना-कथन (कहानी-तत्त्व) और अनुभव-सम्प्रेषण का ही सर्जनात्मक संश्लेष होती है। यह इस सर्जनात्मक संश्लेष का ही परिणाम है कि घटना-प्रधान कथा-कृति अपनी चरम स्थिति में भी किसी ईमानदार रिपोर्टर के रोचक विवरण-प्रधान कथन से भिन्न स्तर की रचना होती है। इस तथ्य को दुहारने की जरूरत नहीं कि रिपोर्टर का कथन तथ्यपरक होता है, एक भौतिक घटना की वह मात्र दिलचस्प सूचना होती है जबकि कथाकार की रचना-प्रक्रिया से गुजर कर वही घटना, यथार्थ में बदल कर सम्प्रेषित होती है, उसकी दृष्टि की रंजकता से जुड़कर वह साहित्यिक कृति का रूप धारण करती

है। यह बात दूसरी है कि घटना-कथन और अनुभव-सम्प्रेषण के संश्लिष्ट रूप में प्रतिफलित कृति में उनके अनुपात की विभिन्नता देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए हम एक ओर प्रज्ञप्तिवाचकता से प्रेरित और कहानी कहने की शैली से बँधी रचनाएँ देख सकते हैं यथा, देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता,' यशपाल की 'झूठा सच,' या शिवप्रसाद सिंह की 'अलग-अलग वैतरणी', और दूसरी तरफ वृत्तिवाचकता से अनुप्राणित और अनुभव-सम्प्रेषण की शैली से युक्त कृतियों को भी पा सकते हैं यथा, जैनेन्द्र की 'परख', अज्ञेय की 'शेखर : एक जीवनी' अथवा निर्मल वर्मा की 'वे दिन'। इस अन्तर को कुछ आलोचकों ने समकालीन लेखन और आधुनिक लेखन के अन्तर के रूप में भी देखा है। उनके अनुसार समकालीन लेखन वर्णन-प्रधान होता है और 'आज' के समय-सन्दर्भ में लिखी जाकर भी 'आज' की चेतना से सम्बद्ध नहीं होता, यथा वेल्स, गाल्सवर्दी और बेकन का लेखन। आधुनिक लेखन न केवल 'आज' के परिवेश से बँधा होता है वरन उसकी आन्तरिक चेतना और युग के तनाव का संवाहक भी होता है, यथा, ज्वायस, वर्जिनिया वुल्फ और लारेन्स की रचनाएँ। भाषा के स्तर पर इसकी विवेचना करते हुए कुछ विद्वानों का यह कथन है कि पहले वर्ग की कृतियाँ मिट्टी की भाषा की ओर उन्मुख होती हैं जिसमें वर्णन की जड़ता और स्थूलता रहती है जबकि दूसरे वर्ग की रचनाएँ पानी की भाषा को साधती हैं जिसमें अनुभवगत वैविध्य को संवहन करने के लिए भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग मिलता है।

हम यह भूल जाते हैं कि साहित्यिक विधाएँ अपने रूप मात्र के आधार पर नहीं परिभाषित की जातीं। हर विधा के मूल में उसके रूप के अतिरिक्त सम्प्रेष्य वस्तु की गुणात्मक प्रकृति रहती है। गुण और रूप जब आपस में टकराते हैं, तब विरोधाभास की स्थिति सामने आ जाती है। हम चाहें तो कविता में बोल सकते हैं और सूचना देते हुए काव्य के गुण से रचना को स्खलित भी कर सकते हैं। पर कविता के बाहरी रूप के निर्वाह के बावजूद भी एक दृष्टि से ऐसी रचना कविता के स्तर से नीचे गिर जाती है। इसी प्रकार उपन्यास या कहानी लिखते समय हम अनुभव सम्प्रेषण के नाम पर काव्यात्मक होकर गद्य के बाहरी रूप का निर्वाह करते हुए कविता भी लिख सकते हैं। यह ठीक है कि कथा-साहित्य एक साहित्यिक लेखन है और वार्ता के स्तर के व्यावसायिक लेखन से वह भिन्न रचना है पर उसके साथ यह भी सच है कि वह कविता की अनुभव-सिद्ध और सम्प्रेषण विधि से भिन्न रचना-प्रक्रिया की अपेक्षा रखता है, और इन अपेक्षाओं में कथ्य संरचना, पाठ निर्माण और दृष्टि चेतना की प्रकृति, कविता की प्रक्रिया से भिन्न होती है। इसलिए कथा साहित्य की संरचनात्मक व्यवस्था को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसे भाषिक प्रकार्यों के सन्दर्भ में देखें जो एक तरफ **पाठ निर्माण** का कारण होता है और दूसरी तरफ जो उसे **प्रोक्ति** का रूप देता है। पाठ और प्रोक्ति से संयुक्त होकर ही कथानक अपना रूप निर्माण कर सम्प्रेष्य कथ्य की आन्तरिक विशिष्टता को अन्तर्भुक्त करने में समर्थ होता है। यहाँ हम यह मानकर चल रहे हैं कि कोई

भी साहित्यिक कृति सम्प्रेष्य कथ्य के रूप में एक सन्देश (मैसेज) है जिसे अर्थ के रूप में रचनाकार पाठ-निर्माण और प्रोक्ति सन्दर्भ के माध्यम से भाषाबद्ध करता है और पाठक उस सन्देश को ग्रहण करने की प्रक्रिया में पाठ और प्रोक्ति की संरचना और बुनावट से टकराता है।

यह भी कहा जा सकता है कि पाठ का सम्बन्ध संदेश के प्रतिपाद्य की संरचना (थीम स्ट्रक्चर) और उसके प्रस्तुति विधान से रहता है जबकि प्रोक्ति का सम्बन्ध सन्देश के प्रति विषयी (रचनाकार) की दृष्टि और चेतना के साथ। एक प्रतिपाद्य के रूप में कथानक को कथा-कथन (स्टोरी टेलिंग) की संरचना के साथ जोड़ते हुए विवरण को सर्जनात्मक बनाता है और दूसरा कथाकार की दृष्टि का संवाहक बनकर जटिल अनुभवों को सम्प्रेषित करने का रास्ता खोलता है।

५.१. पाठ-निर्माण और संसक्ति

पाठ अपने भीतर न केवल प्रतिपाद्य विषय को समेटे रहता है वरन उसकी संरचना को भी नियंत्रित करता है। इसके सहारे एक ओर भाषा अपनी इकाइयों में सम्बन्ध जोड़कर साकल्य (होलनेस) को साधती है और दूसरी ओर परिस्थितियों से सम्बन्ध स्थापित कर प्रतिपाद्य विषय को तर्कपरक बनाती है। जिस प्रकार वाक्य, व्याकरण की महत्तम सार्थक इकाई है उसी प्रकार पाठ भी। भाषा की एक संक्रियात्मक इकाई है। इसी कारण इकाई के रूप में यह एक दोहे के रूप में भी सिद्ध मिलती है और एक महाकाव्य या उपन्यास के रूप में भी। पाठ मात्र वाक्यों की संसक्त शृंखला नहीं होता अपितु एक संदेश होता है जो अपनी आन्तरिक संरचना और अपने सन्दर्भ से जुड़कर किसी प्रयोजन को उद्घाटित करता है। वाक्य संसक्ति (कोहेजन) की दिशा को यह प्रयोजन ही निर्धारित करता है। कथा-प्रसंग में प्रयोजन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं अतः वाक्य या घटना संसक्ति भी भिन्न भिन्न हो सकती है।

नीचे एक-दो उदाहरणों द्वारा वाक्य-संसक्ति और प्रतिपाद्य संरचना को संक्षेप में समझने का प्रयत्न किया गया है।

पाठांश १ : १. नट कई तरह के होते हैं। २. इनमें करनट जरायमपेशा कहे जाते हैं। ३. इनकी कोई नैतिकता नहीं होती। ४. इनमें मर्द औरत को वेश्या बनाकर उसके द्वारा धन कमाते हैं। ५. ज्यादातर ये लोग चोरी आदि करते हैं और ढोल मढ़ना, हिरन की खाल बेचना इनका काम है। ६. इनकी औरतें डोमनियों की तरह नाचती हैं। ७. डोम जयरामपेशा नहीं हैं, पर उनको भंगी का-सा दर्जा दिया जाता है। ८. ऊंची जाति के लोग अक्सर डोमनियों से नाजायज ताल्लुक रखते हैं, पर डोमनियां यह अपने पति को नहीं मालूम होने देतीं। ९. करनटों में छूट है। १०. वहां कोई बुराई 'सेक्स' के आधार पर नहीं मानी जाती।

—रांगेय राघव : कब तक पुकारूँ ?

ऊपर के पाठांश में करनट नटों के बारे में तथ्यपरक कुछ सूचनाएँ दी गयी

हैं। वाक्यों में संसक्ति है जिसे वाक्य-क्रमों में एक निश्चित तर्क के साथ या तो जोड़ा गया है या सर्वनामों का प्रयोग कर पश्च-संकेतार्थ के सहारे बाँधा गया है। यही कारण है कि अगर १ से १० वाक्यों के इस पाठांश का क्रम बदल कर १०,९ ···२,१ कर पढ़ें, तो हमें सूचनार्थ में कोई संगति नहीं मिलती। अगर वाक्य संयोजन को ८,३,१,२,४,५,१०,६,७,९ के रूप में पढ़ें तो न केवल अर्थ-संगति टूटती है बल्कि अर्थविभ्रम की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है।

वाक्य १ स्थितिपरक वाक्य है, जिसका प्रतिपाद्य विषय 'नट' है। वाक्य २ का सर्वनाम 'इनमें' पहले वाक्य के इसी विषय (नट) को संकेतित कर उससे अपने को जोड़कर सूचना देता है यद्यपि सूचना का प्रतिपाद्य विषय यहाँ 'नट' न होकर उसकी एक उपजाति 'करनट' है। वाक्य ३,४ और ६ में प्रयुक्त 'इन' सर्वनाम इसी प्रतिपाद्य विषय 'करनट' को संकेतित करता है। वाक्य ६ से ८ तक की रचना में तुलना का तत्व लाकर डोमों के विरोध में खड़ा किया गया है। प्रतिपाद्य विषय करनटों के सेक्स संबंधी नैतिक आचरण से है जिसे पहले वाक्य ३ में यह कहकर बताया गया है कि उनमें कोई नैतिकता नहीं है क्योंकि (वाक्य ४) इनमें मर्द औरत को वेश्या बनाकर उसके द्वारा धन कमाते हैं। वाक्य ३ और ४ का सम्बन्ध कार्य-कारण है, भले ही उसके लिए किसी व्याकरणिक शब्द (इसलिए, इस कारण, फलतः, परिणामतः आदि) प्रयुक्त नहीं हैं। वाक्य ६ से ८ तक जिस तुलना का आधार रखा गया है, उससे एक मूल्यबोध भी सामने आता है। डोम जयरामपेशा नहीं हैं पर क्या उनकी औरतें इसीलिए नैतिक मूल्यों से बँधी हैं ? करनट जरायम पेशा हैं तो क्या इसीलिए वे अनैतिक हैं ? इसका उत्तर वाक्य १ और १० में मिलता है ? इन वाक्यों के संकेतार्थ इस ओर भी संकेत देते हैं कि करनटों में नैतिक मूल्यों की अपनी दृष्टि है, वहां कोई बुराई सेक्स के आधार पर नहीं मानी जाती।

इसमें सन्देह नहीं कि पाठांश १ की प्रकृति विवरण-प्रधान है। इसमें वाक्यों और सूचनाओं में संसक्ति है पर यह संसक्ति, प्रतिपाद्य विषय को आगे बढ़ाने के बजाय उसको खोलने का काम करती हैं। बिना गति की संसक्ति के कारण यह स्थितिपरक संरचना का उदाहरण है। प्रतिपाद्य विषय की पहचान वाक्य १ और २ के उद्देश्य के द्वारा ही हो जाती है जिसे बाद में सर्वनाम के पश्च-संकेतार्थ द्वारा दुहराया जाता रहा है। प्रतिपाद्य विषय (करनट के बारे में जानकारी) को मूल्यबोधसे जोड़ने के लिए तुलनात्मक रचना का भी सहारा लिया गया है।

पाठांश २ : १. गोधूलि से लौटती हुई गायों के गले में लटकाई हुई घंटियाँ बजने लगीं। २. गोकुल के पक्के और कच्चे घरों के द्वारों पर अगरु-धूम जलने लगा था और कहीं-कहीं से मंत्रोच्चारण की ध्वनि आ रही थी। ३. ब्राह्मण संध्योपासना की क्रियाओं में लगे हुए थे। ४. गोपों के घरों में गायों की सेवा और दुहने का काम हो रहा था। ५. स्त्रियों के भारी चूड़े आपस में टकरा कर शब्द कर उठते थे।

—रांगेय राघव : देवकी का बेटा

इन पांच वाक्यों (१-५) के पाठांश में हर वाक्य अपने में स्वतंत्र अर्थ रखता है। ऊपर से देखने पर इनमें कोई भी संसक्ति दिखाई नहीं देती। हर वाक्य का अपना प्रतिपाद्य विषय है—घंटियाँ (१), अगरु-धूम और मंत्रोच्चारण (२), ब्राह्मण (३), गायों की सेवा और उनका दुहना (४), और चूड़े (५)। पर प्रतिपाद्य के प्रयोजन को जब पाठक पकड़ लेता है तब ये अदृश्य किन्तु एक निश्चित कड़ी में पिरोये से लगते हैं। प्रयोजन है वातावरण की सृष्टि—गोधूलि की बेला और उस समय गोकुल गांव का वातावरण। वाक्य १ में गोधूलि के समय गायें लौटती हैं, इसकी सूचना है और इस सूचना को व्यंजित कर रही हैं गायों के गले में बजने वाली घंटियाँ। वाक्य २ से ५ तक में घरों के भीतर सक्रिय होकर उठने वाली कार्यविधियों की सृष्टि है। पहले एक निश्चित समय पर खास तरह के कार्यों की शुरुआत की सूचना हमें मिलती है—रंजक क्रिया 'लगना' के प्रयोग से। 'लगना' रंजक क्रिया, प्रारंभता सूचक है, जिसे हम वाक्य १ और २ में प्रयुक्त पाते हैं (१. घंटियाँ बजने लगीं, २. अगरु-धूम जलने लगा।) वाक्य-संरचना में भी समानान्तरता देखी जा सकती है जो पाठांश को एक खास लय के साथ बाँधती है। गाय और घंटियाँ, घर और अगरु-धूम एवं घर और मंत्रोच्चारण, मंत्रोच्चारण और ध्वनि, गाय और उनकी सेवा एवं गाय और उनका दुहना; स्त्रियां और उनके चूड़े, चूड़े और उनकी शब्दध्वनि आदि। पाठांश के वाक्य अकर्तृवाच्यपरक होने के साथ स्थितिबोधक हैं। घंटियाँ बजाई नहीं जा रही हैं, बल्कि बज रही हैं, अगरु-धूम कोई जला नहीं रहा है बल्कि जल रहा हैं, मंत्रोच्चारण करने की ओर संकेत नहीं है बल्कि उसके होने की ओर है, गायों की सेवा या दुहने का काम कोई नहीं कर रहा है बल्कि ये काम हो रहे हैं, स्त्रियाँ चूड़ों को टकराकर ध्वनि पैदा नहीं कर रही हैं बल्कि उनके आपस में टकराने से स्वयं ध्वनि निकल रही है। यह स्थितिबोधक संरचना वातावरण के स्वभावगत क्रियाकलाप को व्यंजित करती है, जैसे वह 'आज' का कोई विशेष वातावरण नहीं अपितु गोधूलि के समय गोकुल गाँव की (उस समय की) सामान्य प्रक्रिया थी।

प्रतिपाद्य केवल पाठांशों का नहीं होता। वह सम्पूर्ण पाठ का भी होता है। अगर सम्पूर्ण पाठ (उपन्यास या कहानी) एक इकाई है तो उसका भी एक प्रतिपाद्य होगा जो पाठ में फैले प्रसंग, कथा-घटना, चरित्र, विवरण और वातावरण को प्रच्छन्न रूप से संसक्त करने का काम करेगा। अतः कथानक-संरचना को समझने के लिए दो दिशाओं में अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है—(१) प्रतिपाद्य की खोज और निर्धारण और (२) प्रतिपाद्य विषय-वस्तु की प्रकृति का उद्घाटन। पहले को प्रतिपाद्य निर्धारण का क्षेत्र कह सकते हैं और दूसरे को प्रतिपाद्य गतिकी (थीम डाइनेमिक्स) का।

प्रतिपाद्य को प्रतीकात्मक रूप में भी व्यक्त करना संभव है। गोविन्द मिश्र की कहानी 'गिद्ध' में गिद्ध को प्रतीक बनाकर कथासूत्र की भूमिका रखी गयी है। कहानी का प्रारंभ ही इस प्रतीक के साथ होता है :

"उन्हें देखकर वह ठिठक गयी, डर की एक सुरसुरी उसे हिलाती हुई चली गयी, जैसे कि भूचाल का कोई छोटा-मोटा झटका आ गया हो।

सामने के बूढ़े दरख्त पर वे बैठे थे···गिद्ध, भूरे आसमान की पृष्ठभूमि में पैनेपन से उछले हुए, गाढ़े-गाढ़े धब्बों से।

आजकल जितना ही वह दूर भागती है, उतना ही वे उसे दिखाई दे जाते हैं—ऊँचे दरख्तों की फुनगियों पर बैठे हुए···अपने आप में सिकुड़े मांस के लोथड़ों-से।···सभी दिशाओं में लपलपाती हुई एक लालच भरी दृष्टि। देखने में एकदम निष्क्रिय, पर बेहद सक्रिय। वह उन्हें देखना नहीं चाहती, फिर भी नजर उधर ही चली जाती है।"

गिद्ध के रूप में प्रतीक, उनकी चेष्टाओं और क्रियाओं के रूप में प्रतीक। कहानी की पात्र—वह, एक लड़की—शादी के योग्य पर कमाऊ। गिद्ध के रूप में एक ओर हैं उसके हितैषी, संरक्षक, चौकीदार बीजी बाऊ जी। ये तो घर के भीतर बैठकर लालचभरी दृष्टि से उसकी कमाई को देखते हैं। घर के बाहर है नेता नत्थू सिंह, मंत्री के जान-पहचान का, देश के कामों में लगा हुआ। उसको फंसाकर, धोखे में उसके शरीर को नोच खाने वाला। ऊपर से शान्त पर भीतर से डंक मारने वाला। कहानी परिवार की परिस्थितियों, उसके अपने व्यक्तित्व, बाऊ जी-बीजी की आकांक्षाओं और नेता नत्थूलाल के डंक मारने की वृत्ति से टकराती और स्थिति-परिस्थितियों के बीच से खुलती-बढ़ती एक स्थितिगत मनोदशा को उभार कर फिर प्रतीक में अन्ततः बँध जाती है—

"लौटते हुए सामने वाले बूढ़े दरख्त के नीचे आप-से-आप रुकना हो गया।

ऊपर गिद्ध बैठे थे···डालें बोझ से दोहरी-तिहरी होकर किसी टेढ़े आकार पर आ थमी थीं। जाड़े की गुनगुनी धूप से वे अपने डैनों को सेंक रहे थे। चिपके हुए पंख···एक इस तरफ, एक उस तरफ। नहीं, दोनों तरफ तह-दर-तह लगी हुई पंखों की एक-एक गड्डी। एक तह खुलते ही अन्दर की सड़ी सफेदी झलक जाती है, नीचे लटका छुरी जैसा कांटा दिखाई दे जाता है···कृपाण जैसे मोटे-मोटे डंक।

भार के लिए एक ही काफी है। फिर उनके तो जाने कितनें हैं। ऊपर से उतरते बदबू के गुच्छे···एक के बाद एक। वही बदबू, जो उसके इर्द-गिर्द बराबर रहती है—घर में···और बाहर भी।"

उन्हें एकटक ऊपर घूरते हुए वह खड़ी थी।"

कथानक में प्रतीकों की अभिव्यक्ति प्रच्छन्न भी हो सकती है। कथानक की घटनाएँ स्वयं अपनी सार्थकता व्यंजित करने में समर्थ हैं। उदाहरण के लिए निर्मल वर्मा की बहुचर्चित कहानी 'परिन्दे' को ही लें। लतिका विगत जीवन की स्मृति को वर्तमान बनाकर जीती है। मृत गिरीश की याद उसके लिए अतीत का भाग नहीं। वह उसके मानस में, उसके व्यक्तित्व के भीतरी तह में संग-संग चलती है। इस तथ्य की ओर डा० मुकर्जी संकेत भी देते हैं—"कभी-कभी मैं सोचती हूँ मिस लतिका, किसी चीज़ का न जानना यदि गलत है, तो जानबूझकर न भूल पाना,

हमेशा जोंक की तरह उससे चिपके रहना—यह भी गलत है।" पर लतिका प्रेम की अपनी पहली स्मृति को बहुमूल्य धरोहर की तरह संभाल कर रखे रहती है। "जो वह याद करती है, वही भूलना भी चाहती है, लेकिन जब सचमुच भूलने लगती है, तब उसे भय लगता है कि जैसे कोई उसकी चीज़ को उसके हाथों से छीने लिए जा रहा है, ऐसा कुछ जो सदा के लिए उसके हाथों से खो जायेगा।" वैसे कहानी के पात्रों में डा० मुकर्जी अपनी मातृभूमि ब्रर्मा को लेकर होम-सिक भी हैं, पर अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद स्मृतियों से उबरने का प्रयत्न करते हैं। ह्यू बर्ट लतिका को प्रेमपत्र लिखने के बाद उस घटना की स्मृति के बोझ से दबे-दबे रहते हैं यद्यपि कि मिस लतिका के प्रति उनकी भावना सुकुमार रूप से बनी रहती है, बावजूद इसके कि वे गिरीश-प्रसंग को बाद में जान जाते हैं। कहानी मिस लतिका, डा० मुकर्जी, मिस्टर ह्यबर्ट और हास्टल तथा पहाड़ी जीवन के वातावरण एवं परिस्थितियों के टकराव के साथ आगे बढ़ती है, पर जूली के प्रसंग के साथ वह प्रतीकार्थ भी हो उठती है। प्रारंभ में हास्टल की एक छात्रा के रूप में जूली का प्रसंग आता है, जो नियम भंग कर दूसरे ब्लाक में आकर सखियों के साथ हँस-बोल रही है। लतिका, जूली को जाने के पहले मिलने को कहकर अपने पीछे कमरे का दरवाजा बन्द कर जाती है। बीच में फिर जूली का प्रसंग आता है—कुमाऊं रेजिमेन्ट के कैप्टन गिरीश नेगी और लतिका के प्रेम-प्रसंग के बाद। जूली का एक खत आया था। जूली भी आफिसर्स मेस में जाती है, खत वहीं से किसी का था। वह झूठ बोलती है कि खत उसके भाई का झाँसी से आया है। लतिका जानती है कि जूली झूठ बोल रही है। वह समझती है कि जूली वर्तमान के साथ खेल रही है। वह बिना पत्र दिये जूली को लौटा देती है—"जूली, तुम अभी छोटी हो···अभी जाओ···तुमसे छुट्टियों के बाद बातें करूंगी।" पर शीघ्र महसूस करती है जैसे अपने अभाव का बदला वह जूली से ले रही है। लतिका को जब पता चलता है कि ह्यू बर्ट की छाती में दर्द रहता है और यह दर्द कोई मामूली नहीं है क्योंकि वह उन्हें मृत्यु तक घसीट ले जा सकता है, तो वह कारीडोर में जमे कुहरे में सिहर उठती है। कहानी का अन्त फिर जूली के पत्र के साथ होता है जिसे लतिका, दबे पाँव जाकर जूली के तकिये के नीचे रख आती है। जूली तो अवान्तर से घटना-प्रसंग बनकर आती है जिससे जुड़कर लतिका का 'एक्शन' प्रतीकवत बन जाता है। विगत से वर्तमान में आने का प्रतीक, जीवन को एक नये सन्दर्भ में जीने का प्रतीक। कहानीकार अपनी तरफ से कुछ नहीं जोड़ता, कुछ नहीं कहता पर लतिका का ऐक्शन, घटना रूप में प्रतीक बनकर भीतरी अर्थ को व्यंजित कर देता है।

प्रतिपाद्य अपनी प्रयोजन-सिद्धि के आधार पर कथा में जब संयुक्त होते हैं तब कथा-संरचना में उनकी प्रकृति या तो मुक्त (फ्री) रहती है या बद्ध (बाउंड)। मुक्त प्रतिपाद्य वे होते हैं जो कहानी के बीज-तत्व के रूप में न आकर उसकी परिधि पर स्थित होते हैं। इनसे कहानी आगे नहीं बढ़ती और कथानक

पढ़कर सारांश रूप में कहानी कहते समय जिसके छूटने की संभावना बनी रहती है। इसके विपरीत बद्ध प्रतिपाद्य वे होते हैं जो कहानी के बीज-तत्व होने के कारण कहानी कहते समय छोड़े नहीं जा सकते और घटना-रूप में सिद्ध होने के कारण काल और स्थान की दृष्टि से कहानी को आगे बढ़ाते हैं।

जब कभी कहानी में प्रतिपाद्य को समेटा जाता है, उसी समय से वह अपने अस्तित्व के लिए 'मोटिफ़' की माँग करने लगता है। मोटिफ़ प्रतिपाद्य का वह अंश है जो उसकी घटनाओं को सार्थकता के साथ-साथ उसके सम्दर्भ को भी नियंत्रित करता है। इस नियंत्रण करने के प्रयत्न में वह स्थितियों के दो छोर को समेटता है—घटना-पूर्व की स्थिति और घटना-पश्च की स्थिति। 'परिन्दे' कहानी में घटना-पूर्व की स्थिति में जूली-प्रसंग लतिका की मानसिकता और जीवन को देखने की दृष्टि का एक आयाम खोलता है और घटना-पश्च की स्थिति में एक दूसरे आयाम को। प्रयोजन-सिद्धि के सन्दर्भ में जूली-प्रसंग के प्रतिपाद्य की प्रकृति मुक्त है क्योंकि वह कहानी को आगे नहीं बढ़ाती, केवल लतिका के व्यक्तित्व में आने वाले परिवर्तन पर एक खास कोण से हलका-सा प्रकाश डालती है।

संसक्ति के विविध आयाम : पाठ-सृजन के पीछे संसक्ति (कोहेजन) की शक्ति काम करती है। संसक्ति की यह शक्ति भाषिक विधान द्वारा ही प्रतिफलित होती है जिसे शैली चिह्नक के रूप में हम देखते हैं। प्रतिपाद्य के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि पाठ की बुनावट का अपना हेतु होता है और उस हेतु को संसक्ति प्रकार के अध्ययन से जाना जा सकता है। संसक्ति के अध्ययन के निम्नलिखित आयाम और स्तर देखे जा सकते हैं :

(क) **सन्दर्भपरक संसक्ति** (कांटेक्सचुअल कोहेज़न)—वातावरण सृष्टि, विवरण, वार्तालाप आदि ऐसे सन्दर्भ हैं जिनके अपने अभिलक्षणों के आधार पर वाक्य या पाठांश संसक्त हो सकते हैं।

(ख) **प्रतीकात्मक संसक्ति** (सिम्बालिक कोहेज़न)—बिम्ब, चरित्र या घटनाएँ ऊपर से कटी होकर भी अपनी प्रतीकात्मक अर्थयोजना एवं सार्थकता के आधार पर आपस में संसक्त हो सकते हैं। यह भी देखा जा सकता है कि कथानक में ये प्रतीक व्यक्त (एक्सप्लीसिट) भी हो सकते हैं और अव्यक्त या प्रच्छन्न (इम्पलीसिट) भी।

(ग) **संरचनात्मक संसक्ति** (स्ट्रक्चरल कोहेज़न)—जिस तरह से वाक्यांशों में संसक्ति का एक आधार उद्देश्य और विधेय होता है, उसी प्रकार पाठांश भी उद्देश्य और विधेय के रूप में एक दूसरे से संसक्त हो सकते हैं। अन्तर-वाक्य के सन्दर्भ में जिस प्रकार संयोजन की प्रकृति समानाधिकरणिक (कोआर्डिनेटिंग) या आश्रित (सबार्डिनेटिंग) होती है उसी प्रकार पाठांश भी समानाधिकरणिक या आश्रित रूप में संसक्त हो सकते हैं। यहाँ इस ओर भी संकेत देना उचित ही है कि दो उपवाक्यों को प्रयोजन के आधार पर भिन्न-भिन्न रूप में संयोजित और प्रतिफलित करना संभव है, यथा "मैंने कल एक बहुत सुन्दर दृश्य देखा।" वक्ता

की दृष्टि, विभिन्न वाक्यांशों पर सापेक्षिक बल, आदि की भिन्नता के आधार पर इसी वाक्य को हम ऐसे भी रूपान्तरित कर कह सकते हैं, "मैंने कल जो दृश्य देखा वह बहुत सुन्दर था।" अतः संरचनात्मक संसक्ति के अध्ययन के तीन आयाम हो सकते हैं।

(i) प्रक्रिया : रूपान्तरणपरक
(ii) विवरण : समानाधिकरणिक, आश्रित आदि
(iii) प्रकार्य : मूलबन्ध, उपबन्ध (एडजंक्ट) आदि।

(घ) **संकेतार्थक संसक्ति** (रिफरेंशियल कोहेज़न)—पाठांश संकेतार्थ के आधार पर उसी प्रकार संसक्त हो सकते हैं जैसे दो वाक्य-निर्देशी (डेइक्टिक) या सर्वनामों के आधार पर एक-दूसरे से जुड़ते हैं। इस धरातल पर संसक्ति के दो उपकरण हैं—

(i) निर्देशी तत्व (डेइक्सिस)
(ii) सार्वनामिक तत्व (प्रोनोमिनल)

(ङ) **शाब्दिक संसक्ति** (लेक्सिकल कोहेज़न)—शब्दों एवं उनके सार्थक प्रयोगों के आधार पर भी पाठांश एक-दूसरे से संबद्ध होते हैं। इनके सम्बन्धों के निम्न-लिखित प्रमुख आधार हैं :

(i) पुनरावृत्ति (रेपिटीशन)
(ii) पर्याय/विलोम (सिनोनिम/एंटोनिम)
(iii) सहवर्गीयता (को-मेम्बरशिप)

५. २. प्रोक्ति और दृष्टिशैली

पहले यह संकेत दिया जा चुका है कि साहित्यिक कृति एक संदेश है जिसे वक्ता/लेखक अपने श्रोता/पाठक तक सम्प्रेषित करता है। कथा-साहित्य में संदेश अपनी प्रकृति में घटना या तथ्य मूलक होता है। पर जिस संदेश को वास्तविक बनाकर लेखक सम्प्रेष्य बनाता है वह तथ्यपरक होकर भी तथ्यवाद से जुड़ा नहीं होता। यही कारण है कि शुद्ध घटना (इवेंट) की जो सच्चाई है उसकी प्रकृति व्यावसायिक लेखन यथा अखबारी रिपोर्ट में एक प्रकार की होती है और सर्जनात्मक लेखन यथा कथा-साहित्य में दूसरे प्रकार की। सर्जनात्मक लेखन में घटनाएँ लेखक की अपनी दृष्टि से देखी-पहचानी होती हैं और साथ ही सम्प्रेषण की अपनी आवश्यकता से बँधी रहती हैं। यही कारण है कि कथा-साहित्य में वर्णित घटनाएँ मात्र शुद्ध घटनाएँ नहीं होतीं वरन लेखक के अनुभव-संसार और घटना के प्रति उसकी दृष्टि-संवेदना की वे संवाहक भी होती हैं। इसीलिए साहित्यिक कृतियों में कथा-कथन के दौरान आनेवाली घटनाओं की प्रकृति तथ्यवाद से ऊपर उठकर यथार्थवाद बन जाती हैं।

घटनाएँ साहित्यिक कृति में लेखक के अनुभव संसार से गुजरकर और साथ ही उसकी दृष्टि संवेदना की संवाहक बनकर आती हैं। इसलिए हर कहानी कथन

के बीच से उसके कथाकार की आवाज सुनी और पहचानी जा सकती है। प्रोक्ति के रूप में कथासाहित्य को देखते समय यह जरूरी हो जाता है कि हम देखें कि भौतिक घटना या घटनाक्रम को भाषिक रूप में बाँधते समय कहानीकार स्वयं को कहाँ तक उसमें बाँधता है—वह कहाँ तक 'वक्ता' के रूप में अपने विश्वास, दृष्टिकोण, मूल्य आदि को सम्प्रेष्य बनाता है और कहाँ तक और किस प्रकार अपने और श्रोता (पाठक) के बीच सम्बन्ध स्थापना करने की संभावना उसमें भरता है। इसीलिए प्रोक्ति को जब इकाई मानकर चला जाता है तब भाषा के तीन प्रयोजन सामने आते हैं—घटना-विवरण के रूप में संकेतपरक प्रयोजन जिस की प्रकृति विषयात्मक होती है, कथाकार के अनुभव-संसार के रूप में अभिव्यक्ति-परक प्रयोजन जिसकी प्रकृति भावात्मक होती है और प्रच्छन्न पाठक को सम्बोधित रूप में निदेशपरक प्रयोजन जिसकी प्रकृति अनुभावात्मक एवं निदेशात्मक होती है।

(क) *दृश्य अक्ष* : कथाकार जब घटनाओं को अपने अनुभव संसार से जोड़ कर पाठक के लिए सम्प्रेष्य बनाता है, तब अभिव्यक्त घटनाएँ भाषा का आधार पाकर कथाकार की दृष्टि से स्वयं अभिविन्यस्त हो उठती हैं। अभिविन्यास (ओरिएण्टेशन) का एक प्रमुख पक्ष घटना को देखने की उसकी उस दृष्टि से संबंधित रहता है जो घटना के लिए 'समय' या 'स्थान' की भूमिका का निर्माण करता है। अभिविन्यास का यह पक्ष घटना को दृश्यमान रूप देता है और पाठक के लिए काल और स्थान सम्बन्धी उस अक्ष का सन्दर्भ पैदा करता है जहाँ पर खड़े होकर वह घटना को दृश्य रूप में देख सके। दृश्य-कला के सन्दर्भ में प्रायः हम उस दृश्य-अक्ष की बात करते हैं जिस पर खड़े होकर एक खास कोण से हमें चित्रित कलावस्तु को देखना अपेक्षित रहता है। कथा-साहित्य भी एक विशेष प्रकार की प्रतिरूपात्मक कला है। इसलिए 'काल' और 'स्थान' सम्बन्धी दृश्य-अक्ष की अनिवार्यता यहाँ भी बनी रहती है।

चित्रकला से कथासाहित्य इस आधार पर भिन्न है कि चित्रकला में दृश्य-फलक के भीतर से जिस दृश्य-अक्ष की हमें सूचना मिलती है, उसका माध्यम रंग सम्बन्धी हमारी अवधारणा रहती है जबकि साहित्य में उसका माध्यम भाषा और भाषाबोध होता है। भाषा के भीतर आकर काल और स्थान, मात्र काल और स्थान ही नहीं रह जाते वरन् वह कालबोध और स्थानबोध बन जाते हैं। उदाहरण के लिए इन दो वाक्यों पर ध्यान दें—(१) मैंने अब सब बातें समझ ली हैं। और (२) मैंने तब सब बातें समझ ली थीं। समझने की बात दोनों ही स्थितियों में पूरी हो चुकी है पर वाक्य (१) में 'अब' और वर्तमानकालिक क्रियारूप 'है' से जुड़कर समझने की घटना वक्ता की सम्प्रति काल चेतना से जुड़ी है जबकि वाक्य (२) में 'तब' और भूतकालिक क्रिया रूप 'थी' से जुड़कर 'पूर्ण भूत' बनकर वर्तमान से कटकर ही सामने आती है। स्थान सम्बन्धी चेतना के लिए हम निम्न-लिखित वाक्यों को देख सकते हैं—(३) मैं यहाँ चला आया। और (४) मैं वहाँ

चला गया। स्पष्ट है वाक्य (३) में वक्ता अपने कथन के समय वहाँ जहाँ है से वह बोल रहा है, जिसका संकेत 'यहाँ' और रंजक क्रिया 'आना' से है मिलता जबकि वाक्य (४) में वह वहाँ नहीं है, जिसकी सूचना हमें 'वहाँ' और रंजक क्रिया 'जाना' से मिलती है।

काल और स्थान सम्बन्धी कथाकार की चेतना का पता हमें पाठ की संरचना और बुनावट से मिल जाता है। आख्यानक के रूप में साहित्यकार कालचेतना के सन्दर्भ में वर्ण्यवस्तु के नज़दीक भी रह सकता है और उससे बहुत दूर भी। ऐतिहासिक उपन्यासों में वह अपने और अपने पाठकों तथा वर्ण्यवस्तु के बीच समय के एक लम्बे अन्तराल के बोध का निर्माण करता है। वह घटनाओं को देखने के लिए काल का एक ऐसा अक्ष निर्दिष्ट करता है कि जिससे पाठक और घटनाओं के बीच समय सम्बन्धी एक लम्बी और फैली हुई दूरी बनी रहे।

"उन दिनों देश का अधिकांश भाग जंगलों से घिरा हुआ था। इन जंगलों में जहां अनेक हिंसक जन्तु फैले हुए थे, वहां ज्ञान के साथ कुछ तपस्वी भी यत्र-तत्र सारा समय लगा देते थे लेकिन कुछ ऐसे भी थे जो अध्ययन-अध्यापन किया करते थे। उनके यहां जिज्ञासु विद्यार्थियों की उपस्थिति बराबर बनी रहती थी। ये ऋषि कहलाते थे। वे गृहस्थ रूप में रहते थे, उनके अपने बाल-बच्चों के अतिरिक्त गायें भी हुआ करती थीं और किसी-किसी के यहाँ बकरियाँ भी रहती थीं। बकरियों को 'अजा' कहा जाता था। उनके दूध से जो घी बनता था उसे 'आज्य' कहा जाता था। ऋषियों के यहाँ यज्ञ आदि हमेशा हुआ करते थे और आज्य का हवन आवश्यक माना जाता था। बाद में गाय के घी को भी 'आज्य' कहा जाने लगा।" —**हजारीप्रसाद द्विवेदी : अनामदास का पोथा**

ऊपर काल सम्बन्धी चेतना के आधार पर वर्ण्य-वस्तु और पाठकों के बीच की दूरी का निर्माण कई तत्वों के आधार पर किया गया है। पहली ही उक्ति—'उन दिनों' हमें आज-कल के समय-बोध से भिन्न समय-सन्दर्भ को ग्रहण करने का संकेत देता है। भूतकालिक सहायक क्रिया 'था' के निरन्तर प्रयोग और आज से भिन्न रीति-रिवाज के सहारे जिस वातावरण का निर्माण किया गया है वह वर्ण्य-वस्तु को पूर्णकालिक वृत्ति से जोड़ता है। संज्ञापद, यथा बकरियों के लिए 'अजा' और उसके दूध से बने घी के लिए 'आज्य' का प्रयोग हमें समय को पीछे ढकेलने के लिए तो बाध्य करता ही है, अर्थ-विस्तार का विवरण देते हुए यह कहना कि बाद में चलकर गाय के घी को भी आज्य कहा जाने लगा, उस समय बोध को एक गहराई भी देता प्रतीत होता है। वाक्यों को वक्तव्य कथन का रूप देकर—यथा, 'ये ऋषि कहलाते थे', 'बकरियों को 'अजा' कहा जाता था' आदि, काल की दूरी को एक वजन देता है जिसकी अनुभूति से पाठक तटस्थ नहीं रह पाता।

इसके विपरीत एक दूसरे पाठांश पर ध्यान दें—"गाड़ी जब तक प्रतापगढ़ से नहीं चली, तब तक भुवन ने नहीं जाना कि उसे अपने बारे में सोचने को

की कुछ जरूरत है; और गाड़ी चलने पर भी ठीक इस रूप में ही उसने यह बात जानी हो, ऐसा भी नहीं; वह केवल हक्का-बक्का-सा चलती गाड़ी का हैण्डिल पकड़े खड़ा रह गया—विस्मय से अपने मुक्त दूसरे हाथ की ओर देखता हुआ, मानो वह उसका नहीं, कोई पराया हाथ हो, जो किसी रहस्यमय क्रिया से उसके शरीर के साथ लग गया हो और अब अपने और पराये के सन्धि-स्थल—उसकी कुहनी पर चुनचुनाहट हो रही हो।

वह सवार ही चलती गाड़ी पर हुआ था; उसके प्लेटफार्म पर खड़े रेखा से बातें करते-करते कब गाड़ी चल पड़ी थी, यह उसे मालूम नहीं हुआ था, और अगर रेखा ही सहसा उसकी कुहनी पकड़कर मुस्कराकर उसे ठेलती हुई न कहती—'अच्छा जल्दी से सवार हो जाइये, आपकी गाड़ी जा रही है', तो वह जरूर गाड़ी से रह जाता। —**अज्ञेय : नदी के द्वीप**

ऊपर के पाठांश के पहले पैराग्राफ में पक्ष (एस्पेक्ट) तो पूर्ण है पर काल को भूत रूप में नहीं रखा गया है। गाड़ी जब···चली, 'वह···खड़ा रह गया'। आदि। वाक्य संरचना इस बात का बोध तो कराती है कि वर्णित घटना भौतिक समय के धरातल पर विगत है पर भूतकालिक सहायक क्रिया के अभाव में पाठक की कालचेतना को वर्तमानकाल से पूरी तरह असम्पृक्त नहीं करती। विध्यर्थक वाक्य रूपों का बार-बार प्रयोग करते हुए भूतकाल की चेतना को बहुत हल्का बनाया गया है जो अन्त में जाकर वर्तमान बोध से जा बँधा है। यह तथ्य काल-सूचक अव्यय 'अब' और विध्यर्थक क्रिया संरचना— 'उसकी कुहनी पर चुन-चुनाहट हो रही हो' द्वारा संकेतित है। दूसरे पैराग्राफ में पूर्णभूतकाल का चिह्नक 'था' का निश्चय ही तीन बार प्रयोग हुआ है। पर ये प्रयोग एक ओर पहले पैराग्राफ के समयबोध और अपने आगे आने वाली संरचना—'रेखा ही···उसे ठेलती हुई न कहती'···के सन्दर्भ से जुड़कर यह स्पष्ट कर देते हैं कि ये आख्यानक कहने की विधि के अंग हैं। आख्यानक के अंग के रूप में आने वाले भूतकालिक चिह्नक सामान्यतः अतीत की दूरी और गहराई पैदा नहीं करते और न पाठक की 'अब' की चेतना से ही बहुत दूर ले जाते हैं। वे भूतकाल के बलार्थक अंग न होकर 'रिपोर्ट' के रूप में घटना कहने के मात्र सूचक चिह्न के रूप में आते हैं।

(ख) *दृष्टि अक्ष :* प्रत्येक साहित्यिक रचना की वर्ण्य-वस्तु के भीतर से उसके सर्जक की दृष्टि अनगूँज आवाज़ बनकर पाठक को सुनाई पड़ती है। कुछ रचनाओं में यह आवाज़ काफ़ी मुखर होती है और कुछ में दबी-दबी सी। शैली-विज्ञान यह मानता है कि इस आवाज को काव्यवस्तु के भीतरी संसार के अन्दर रहकर सुना जा सकता है। प्रायः यह कहा जाता है कि काव्य वस्तु दृष्टि-सापेक्ष्य होती है, उसमें एक अन्तर्निहित मूल्यविधान होता है और भाषा में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो दृष्टि या मूल्य को अपने भीतर समेट सके। इस बात पर बल देने की आवश्यकता है कि वक्ता के जाने-अनजाने ही उसके द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा विषयवस्तु के प्रति उसके दृष्टिकोण का हमें पता दे देती है। भाषा

एक ऐसा सशक्त माध्यम है जो बात को भीतर से खोलने के लिए रास्ता बनाती चलती है। बोलने-लिखने के समय जिन शब्दों का हम चयन करते हैं, जिस संरचना को अपनाते हैं और भाषिक जिन व्याकरणिक शब्दों द्वारा वाक्यों को एक दूसरे से जोड़ते हैं, वे सभी सार्थक होते हैं और उनकी सार्थकता की प्रकृति व्यक्तिगत न होकर सामाजिक और संस्थागत होती है। भाषा की इस सामाजिक और संस्थागत प्रकृति से जूझते हुए ही साहित्यकार अपने कथ्य को सम्प्रेषणीय बनाता है। इस जूझने की प्रक्रिया के साथ ही वह काव्य-वस्तु का निर्माण करता है। इसलिए स्वाभाविक है कि भाषा में बँधकर 'कथ्य' एक खास कोण के साथ उभरे और 'काव्यवस्तु' एक विशेष दृष्टि का परिचय दे।

उदाहरण के लिए हम किसी स्त्री पात्र के लिए विकल्प से जब 'अबला' या 'रमणी' शब्द का प्रयोग करते हैं तब क्या उसके प्रति अपने दृष्टिकोट का संकेत नहीं देते ? एक ही घटना को हम एक से अधिक ढंग से व्यक्त करते हैं जैसे, (१) दूसरे के लिए बनाये जाल में मोहन अपने को फंसाता चला गया, और (२) दूसरे के लिए बनाये जाल में मोहन स्वयं फंसता चला गया। अगर इन दोनों वाक्यों के अर्थ पर ध्यान दें, तो पाठक की मोहन के प्रति सहानुभूति का आधार वाक्य (२) में अधिक मिलेगा। पहले वाक्य में अपने दुख का कारण मोहन स्वयं है क्योंकि वाक्य-संरचना की प्रकृति यह ध्वनित करती है कि जाल में फँसने का उत्तरदायित्व स्वयं मोहन पर है। इस कथन से साफ है कि मोहन ने जानबूझकर अपने को फँसाया है। इसके विपरीत जब हम दूसरे वाक्य को देखते हैं तो उसकी संरचना यह व्यंजित करती है कि परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी थीं कि मोहन स्वयं उसमें उलझता चला गया। वक्ता जब इन दो वाक्यों में से किसी एक वाक्य का चुनाव करता है तब ज्ञात-अज्ञात रूप से उसके मन की वृत्तियाँ उसके चुनाव के कारण पर प्रकाश डालती हैं।

काव्यकृति, भाषाबद्ध होती है। वह वाक्यों के दायरे में बँधकर ही अपनी काव्यवस्तु को अभिव्यक्ति देती है। पर काव्यवस्तु एक समन्बित इकाई है, अतः उसके भिन्न-भिन्न वाक्यों के भीतर एक आन्तरिक संगति भी बनी रहती है। उसका एक कारण यह भी है कि काव्यकृति में वृत्ति (या कहें वृत्तियाँ) संधृत (सस्टेंड) रहती हैं। ये संधृत वृत्तियाँ रचना के हर घटक को एक खास दृष्टि और मूल्य से बाँधती चलती हैं। अपने योग रूप में इसीलिए वह रचनाकार की 'दृष्टिशैली' का भी पता देने में सक्षम हैं।

दृष्टिशैली, काव्यकृति के रचनाविधान को भी प्रभावित करने में समर्थ है। उदाहरण के लिए तुलसीकृत 'मानस' के संरचनात्मक विधान को ही लें। काव्यकृति में अन्तर्निहित 'सन्देश' को यहाँ कम से कम तीन स्तरों पर नियोजित कर बाँधने का प्रयास किया गया है। सबसे बाहरी स्तर पर जो त्रिकोण बनता है उस के एक छोर पर वक्ता के रूप में स्वयं तुलसी हैं जो दूसरे छोर पर स्थित श्रोता (पाठक) के साथ सन्देश को लेकर अव्यवहित (इमिडियेट रिलेशन) भाव से

खड़े मिलते हैं। अपनी इस भूमिका में तुलसी एक संतउपदेशक हैं जिन्हें कविता के भीतर से नीतिवाक्य बोलते और धार्मिक गीत गाते सुना जा सकता है। बीच के दूसरे स्तर पर जो त्रिकोण बनता है उसके संदेश की प्रकृति, पहले त्रिकोण के संदेश से सामंजस्य रखती है पर वक्ता के रूप में तीन पात्र आते हैं (याज्ञवल्क्य, शिव और काकभुसुण्डि) और श्रोता के रूप में भी क्रमशः तीन पात्र (भारद्वाज, पार्वती और गरुण)। इन तीन वक्ताओं के रूप में तुलसी अपने पाठकों के साथ व्युत्पन्न अव्यवहित भाव के साथ जुड़े हैं क्योंकि ये वक्ता अपने श्रोताओं—पार्वती या गरुण, के उन्हीं प्रश्नों का उत्तर देते हुए कथा कहते हैं जिन्हें तुलसी समझते हैं कि एक सामान्य पाठक के मन में शंका भाव से उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस रूप में तुलसी पुराण शैली में आख्यान प्रस्तुत करने वाले एक व्यासकथावाचक के रूप में अपने दायित्व का निर्वाह करते दीखते हैं। स्तर की निचली सतह पर तुलसी एक साहित्यकार की भूमिका में आते हैं जहाँ वे एक सर्जक के रूप में कथानक के वास्तविक पात्रों के भीतर अपने को रचते हुए संदेश को एक व्यवहित और मध्यस्थ (मीडिएट रिलेशन) सम्बन्धों के साथ पाठक के लिए सम्प्रेष्य बनाते हैं। इस भूमिका में वे साहित्यकार-सर्जक हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि **कथाकृति भी मूल रूप में एक भाषिक पाठ है जिसका सम्बन्ध एक ओर संदेश के प्रतिपाद्य की संरचना और उसके प्रस्तुति विधान से रहता है और दूसरी तरफ जिसका सम्बन्ध प्रोक्ति से रहता है जो विषयी की दृष्टि और चेतना से जोड़कर संदेश को तथ्यवाद से ऊपर उठाकर यथार्थपरक बनाती है। संरचनात्मक शैलीविज्ञान संसक्ति सिद्धान्त के आधार पर पाठविश्लेषण करते हुए एक ओर प्रतिपाद्य की संरचना और बुनावट पर प्रकाश डालता है और दूसरी ओर दृश्य और दृष्टि अक्ष के संदर्भों का विश्लेषण करते हुए प्रतिपाद्य के प्रति कथाकार के अभिविन्यास को उद्घाटित करता है।**

६. संरचनात्मक शैलीविज्ञान की सर्जनात्मकता

पहले संकेत दिया जा चुका है कि शैलीविज्ञान अपने अध्ययन के सन्दर्भ में तीन स्तरों की संकल्पना को सामने लाता है—(१) कला सामग्री के अध्ययन का स्तर, (२) कला माध्यम के अध्ययन का स्तर और (३) कला प्रतीक के अध्ययन का स्तर। कला सामग्री के अध्ययन का स्तर शुद्ध भाषावैज्ञानिक होता है क्योंकि उसकी विश्लेष्य सामग्री का स्तर वाक्य तक सीमित रहता है। वाक्य की सीमा पर ठहर जाने के कारण वह संकेतार्थ भाग को प्रकाशित करने में समर्थ है। यही कारण है कि कलासामग्री के अध्ययन का स्तर वस्तुतः वाक्य प्रतीकों के अध्ययन का स्तर है। कलामाध्यम के स्तर पर जो अध्ययन होता है उसके स्तर का सम्बन्ध वाक्य से ऊपर की इकाई यथा प्रोक्ति या पाठ से रहता है क्योंकि इसी की सीमा के भीतर रहकर साहित्य की मूर्तियाँ गढ़ी जाती हैं। साहित्य की जिन मूर्तियों का सृजन होता है वे अपने में साध्य नहीं हुआ करतीं। वे तो सम्पृक्तार्थ के सम्प्रेषण

के साधन हैं। चूंकि एक ही कृति में बिम्ब, चरित्र, घटना आदि के रूप में अनेक साहित्यिक मूर्तियाँ गढ़ी जाती हैं, अतः अध्ययन के इस स्तर को कला में प्रतीक का स्तर भी कहा जा सकता है। यह विश्लेष्य काव्यकृति के अध्ययन का दूसरा स्तर है। तीसरे स्तर पर शैलीविज्ञान काव्यकृति को एक सम्पूर्ण संश्लिष्ट इकाई के रूप में ग्रहण करता है जिसका सम्बन्ध कला की अभिव्यंजक शक्ति के साथ बना रहता है। यह स्तर कलादृष्टि की सम्पूर्णता की अपेक्षा रखता है।

प्रत्येक स्तर की अपनी गुणात्मक विशिष्टता होती है जिसे उसके प्रयोजन और प्रकार्य के सन्दर्भ में परिभाषित करना संभव है। स्तरविशेष से सम्बद्ध महत्तम इकाई में भी स्तर के सभी गुण निहित होते हैं। भाषावैज्ञनिक अध्ययन के सन्दर्भ में हम यह कहते हैं कि भाषा का एक स्तर स्वनिमविज्ञान (फोनोलॉजी) का है, दूसरा स्तर रूपिम विज्ञान (मॉर्फोलॉजी) का है। स्वनिमविज्ञान के स्तर पर ध्वनि सम्बन्धी जो गुणात्मक विशिष्टताएँ देखने को मिलती हैं उनके प्रयोजन और प्रकार्य के सन्दर्भ में ही हम उस स्तर की महत्तम इकाई 'स्वनिम' (फ़ोनीम) को परिभाषित करते हैं। इसी प्रकार रूपिमविज्ञान के स्तर पर रूप सम्बंधी जो गुणात्मक विशिष्टताएँ हैं उनके प्रयोजन और प्रकार्य के परिप्रेक्ष्य में ही उस स्तर की महत्तम इकाई रूपिम (मॉर्फ़ीम) को ग्रहण करते हैं।

शैलीविज्ञान, काव्यकृति को न केवल कलाप्रतीक मानता है वरन उसके अध्ययन-विश्लेषण के लिए प्रतीक व्यवस्था के विभिन्न स्तरों की अवधारणा को भी सामने लाता है। उसके अनुसार प्रतीकगत व्यवस्था के सन्दर्भ में मुख्यतः तीन स्तर देखे जा सकते हैं—(१) वाक्य-प्रतीक का स्तर, (२) कला में प्रतीक का स्तर और (३) कलाप्रतीक का स्तर। इन तीन स्तरों का संबंध गुणात्मक रीति से कलासामग्री, कला माध्यम और कला वस्तु के साथ क्रमशः जुड़ा हुआ है।

वाक्य-प्रतीक के स्तर की महत्तम इकाई 'वाक्य' है जिसका मूल प्रयोजन संकेतार्थ को व्यक्त करना होता है और जिसको समझने के लिए भाषापरक क्षमता की आवश्यकता रहती है। कला में प्रतीक की महत्तम इकाई प्रोक्ति है। प्रोक्ति की सीमा में बँधकर ही भाषिक इकाइयाँ सम्पृक्तार्थ को व्यंजित करती हैं। वस्तुतः सम्पृक्तार्थ को ग्रहण करने के लिए व्यक्ति के पास सम्प्रेषण सम्बन्धी क्षमता का होना आवश्यक है। कविता में बोलना एक बात है और काव्य-संवेदना को सम्प्रेषित करना उससे अलग एक दूसरी ही बात है। जो लोग (साहित्यकार) कविता में बोलते हैं वे भाषा-चातुर्य के बावजूद भी अपने कथन को संकेतार्थ के दायरे में बाँधकर कुछ कहना चाहते हैं। इसके विपरीत जिन लोगों का लक्ष्य सम्प्रेषण है वे सम्पृक्तार्थ को उजागर करने के लिए भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग की ओर प्रवृत्त होते हैं। कला प्रतीक के स्तर की महत्तम इकाई काव्यवस्तु होती है। अपने प्रकार्य में काव्यवस्तु अभिव्यंजक होती है। इसके अवग्रहण के लिए सौंदर्यचेता वृत्तियों की आवश्यकता होती है। जो लोग किसी रचना की विषय-वस्तु में ही उलझकर रह जाते हैं वे वस्तुतः अर्थ के 'क्या' पक्ष की स्थूलता तक ही

पहुँच पाते हैं। आवश्यकता अभिव्यंजना के उस पक्ष को भी अध्ययन के भीतर समेटने की है जो विषयवस्तु को काव्यवस्तु में रूपान्तरित करता है और जिसका सम्बन्ध अर्थ के 'कैसे' पक्ष से जुड़ा होता है। अर्थ के 'कैसे' पक्ष की अपनी विशिष्टता ही उन शैली तत्वों को जन्म देती है जो काव्यार्थ के संवाहक तत्त्व होते हैं।

आकारहीन और तरल अनुभवखण्ड को प्रतीकीकरण के माध्यम से व्यक्त करने की क्षमता ही मनुष्य को अन्य जीव-जन्तुओं से अलग करती है। मानव मन को इसीलिए सर्जनात्मक भी कहा गया है। यह प्रतीकीकरण प्रक्रिया सामान्य होकर 'विषयवस्तु' का निर्माण भी करती है और कलात्मक संवेगों (सौन्दर्य) के हेतु से संयुक्त होकर कलावस्तु का सृजन भी। यह एक ओर प्रतीकों के रूप में 'शब्द' और 'वाक्य' को जन्म देती है तो दूसरी ओर प्रोक्ति और काव्यवस्तु को भी। शैलीविज्ञान यह मानकर चलता है कि साहित्य के सन्दर्भ में प्रतीकीकरण अनिवार्यतः भाषिक होता है पर हर भाषिक प्रतीकीकरण काव्यप्रतीक को जन्म देने में समर्थ नहीं। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए वह काव्यकृति के अध्ययन-विश्लेषण के सन्दर्भ में स्तर-भेद की संकल्पना को सामने लाता है जिसे निम्न-लिखित तालिका द्वारा समझा जा सकता है :

	स्तर	इकाई	क्षमता	प्रकार्य	
विश्लेषण	स्तर-३ कलाप्रतीक	काव्यवस्तु	सौन्दर्यपरक	काव्यार्थ	संश्लेषण
	स्तर-२ कला में प्रतीक	प्रोक्ति	सम्प्रेषणपरक	सम्पृक्तार्थ	
	स्तर-१ वाक्य प्रतीक	वाक्य	भाषापरक	संकेतार्थ	

शैलीविज्ञान का सिद्धान्त स्तरों को एक ओर जहाँ 'विभेदक अभिलक्षण के पुंज' के रूप में परिभाषित करता है वहीं संरचना के धरातल पर उसको उस स्तर की महत्तम इकाइयों की संरचना के रूप में भी निर्धारित करता है। इनदोनों पक्षों—प्रयोजन और संरचना को अपने सिद्धान्त में समेटते हुए वह यह कहना चाहता है कि विभिन्न स्तरों पर सिद्ध इकाइयों की अपनी संरचनात्मक विशिष्टताएँ होती हैं, और उनके अपने प्रयोजनगत प्रकार्य होते हैं : पर यह संभव है कि भौतिक (स्थूल) रूप में रचनागत इकाई तो एक ही हो पर संरचनात्मक प्रयोजनों के सन्दर्भ में वह विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूप में सिद्ध हो। उदाहरण के लिए अज्ञेय की कविता 'जीवन मर्म' को ही लें :

झरना : झरता पत्ता
हरी डाल से
अटक गया।

रचनागत इकाई के रूप में उक्त पंक्तियाँ एक इकाई को व्यक्त करती हैं पर इसे

हम विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूप में सिद्ध देख सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि वाक्य-प्रतीक (काव्य-सामग्री) के स्तर पर यह एक ऐसा वाक्य है जिसमें दो उपवाक्य हैं—'झरना/अटक गया' और 'झरता पत्ता/हरी डाल से/अटक गया'। कोलन के प्रयोग द्वारा यह संकेत मिलता है कि दोनों उपवाक्य समानाधिकरणिक हैं अतः इन दोनों उपवाक्यों के कर्त्ता का सम्बन्ध एक ही क्रिया से बना हुआ है। उससे यह भी सूचना मिलती है कि दूसरा उपवाक्य, पहले उपवाक्य के दृष्टान्त के रूप में प्रयुक्त हुआ है। संकेतार्थ के रूप में पहला उपवाक्य यह ध्वनित करता है कि 'झरना (जिसकी मूल प्रकृति ही झर-झर कर अव्यवहित भाव से प्रवाहित होना है) 'अटक गया', पर उससे यह व्यक्त नहीं होता कि वह क्यों अपनी प्रकृति के विरुद्ध जाकर अटक गया। संरचनात्मक धरातल पर इस 'क्यों' का उत्तर कोलन के बाद प्रयुक्त उपवाक्य में मिलना चाहिए। पर दूसरे उपवाक्य की संरचना यह तो बताती है कि पत्ता, कहां अटक गया, पर क्यों और कैसे अटक गया को व्यक्त नहीं करती।

कला में प्रतीक के स्तर पर जब अध्ययन-विश्लेषण को लाया जाता है तब यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि इसमें दो प्रतीकों का मुख्यतः प्रयोग हुआ है—झरना और पत्ता। झरना के सम्पृक्तार्थ के समानान्तर पत्ता को लाने के लिए 'झरता' विशेषण को भी उपयोग में लाया गया है जिससे क्रिया की अव्यावहत प्रक्रिया को सम्प्रेषित किया जा सके। इसी प्रकार कहाँ के संज्ञापद 'डाल' के विशेषण में हरे रंग को प्रतीक बनाकर उसकी जीवन्तता को सम्प्रेष्य बनाया गया है। मुख्य प्रतीक 'झरना' और दृष्टान्तपरक प्रतीक 'झरता पत्ता' के संयोजन तथा डाल के हरेपन से जीवन्तता और (पीले पड़कर) पत्तों को झर-झर कर गिरने की स्थिति-संश्लेष के माध्यम से काव्यकृति में दो बिम्बों को संश्लिष्ट किया गया है। अपनी प्रतीक व्यवस्था में 'पीलापन' अगर रसहीन और सूखे जीवन की ओर संकेत करता है तो 'हरापन' जीवन की ताजगी, संवेदनशीलता और साथ ही कच्चेपन (अपरिपक्वता) का। विश्लेषण का यह स्तर यह तो बता देता है कि पत्ता (झरना) क्यों और कैसे अटक गया क्योंकि कला में प्रतीकों की संयोजन-व्यवस्था इस तथ्य की ओर संकेत देती है कि अगर वस्तु (डाल) जीवन्त है तो वह असमय घटित को बाँधने में समर्थ है, पर अध्ययन का यह सन्दर्भ कला-प्रतीक की अर्थ-संभावना के वैविध्य को खोल पाने में न तो समर्थ है और न उस अनुभव को ही व्यंजित कर पाने में सशक्त है जो काव्य संवेदना को बहुआयामी और अनेकार्थी बनाता है। यह कला प्रतीक का स्तर है जहाँ 'झरना' और 'झरता पत्ता' संबंधी दृष्टान्तपरक बिम्ब अपनी अन्तरंग योजना के आधार पर एक ओर उन्हें समय के अविरल प्रवाह से जोड़ते हैं और दूसरी ओर घटनाओं की अटूट शृंखला से। इसी स्तर पर दो उपवाक्यों और दो दृश्य-बिम्बों की संरचनात्मक विशेषताओं के आधार पर कविता जीवन-मर्म के संश्लिष्ट कथ्य को उद्भासित करती है।

संरचनात्मक शैलीविज्ञान की सर्जनात्मकता के दो सन्दर्भ हैं। अपने पहले सन्दर्भ में वह काव्यवस्तु के परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूपों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए कविता के मर्म को उद्घाटित करता है। अपने दूसरे सन्दर्भ में वह काव्य-कृति का विश्लेषण करने के उपरान्त वाक्य प्रतीक और कला के प्रतीकों का संश्लेषण करते हुए काव्य-वस्तु का पुनःसृजन करता है।

यह ध्यान देने की बात है कि काव्य-वस्तु की सिद्धि के दो धरातल हैं—परोक्ष और दृष्टान्तपरक। परोक्ष धरातल पर काव्यवस्तु संभाव्य स्थिति में रहती है। यह धरातल कला की उस गहरी चेतना से जुड़ा रहता है जो भौतिक उपादानों 'में' नहीं वरन् उसके 'पार' जाकर सिद्ध रहती है। परोक्ष को प्रत्यक्ष बनाने की प्रक्रिया में कलाकार संभाव्य परोक्ष को दृष्टान्तपक/प्रत्यक्ष बनाता है। यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष स्तर पर काव्य वस्तु परोक्ष स्तर की संभाव्य संरचना का एक दृष्टान्त मात्र होती है। शैलीविज्ञान के अनुसार काव्यकृति, प्रतीकीकरण की उस प्रक्रिया का परिणाम होती है जहाँ काव्यवस्तु एक ऐसी व्यवस्थित और सजीव संघटनात्मक भाषिक कला प्रतीक के रूप में सिद्ध रहती है जिसमें परोक्ष और प्रत्यक्ष स्तर के बीच पाई जाने वाली द्वंद्वात्मक स्थिति में आन्तरिक तनाव (सन्तुलन) बना रहता है। संरचनात्मक शैलीविज्ञान की सर्जनात्मकता का एक आयाम यह है कि वह प्रत्यक्ष (टोकन) के आधार पर परोक्ष (टाइप) कला रूप को उद्भासित करता है और साथ ही परोक्ष को अप्रत्यक्ष बनाने वाले शैलीगत तत्वों के आधार पर काव्यवस्तु को ऐन्द्रिक बनाता है।

संरचनात्मक-शैलीविज्ञान की सर्जनात्मकता का दूसरा आयाम उसकी आलोचना प्रणाली में है जिसके आधार पर वह विश्लेष्य काव्यवस्तु का पुनः सृजन करता है। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि शैलीविज्ञान के नाम पर आलोचना की विश्लेषण पद्धति का ही अब तक सहारा लिया गया। किसी इकाई को समझने के लिए यह आवश्यक माना गया कि उसका खण्ड-खण्ड कर उसके संघटकों का पता लगाया जाए। अपने विकास के पहले चरण में शैलीविज्ञान ने भी काव्यकृति को पहले एक स्वायत्त और संश्लिष्ट इकाई के रूप में देखा पर उसको समझने के लिए काव्य-वस्तु के रूप में सिद्ध कला प्रतीक का विश्लेषण करते हुए उसको अन्ततः वाक्य-प्रतीक के समुच्चय के रूप में सामने उभारा। इस प्रक्रिया में वह भूल गया कि वाक्य-प्रतीकों का पूर्ण समुच्चय, कला के प्रतीकों का स्तर नहीं ले सकता क्योंकि 'प्रोक्ति' या 'पाठ', वाक्यों का मात्र जमघट न होकर उनकी संरचनात्मक (या दूसरे अर्थ में कहें तो सर्जनात्मक) रूपान्तरण होता है। इसी प्रकार कला प्रतीक के रूप में काव्य-वस्तु मात्र कृति में प्रयुक्त सभी कला प्रतीकों के जोड़ से कुछ अधिक हुआ करता है। यही कारण है कि संरचनात्मक शैलीविज्ञान अब विश्लेषण से उपलब्ध संघटकों के संश्लेषण का रास्ता अपनाते हुए एक स्तर की इकाइयों का अब दूसरे स्तर की इकाइयों में सर्जनात्मक रूपान्तरण करता है। सर्जनात्मक रूपान्तरण के इस रास्ते पर चलकर वह अब वाक्य-प्रतीक और कला में प्रतीकों के स्तरों को पार करता हुआ कला-प्रतीक का पुनःसृजन करता है।

६. १. कलावस्तुमीमांसा : आस्वाद्यवस्तुमीमांसा

कला प्रतीक के रूप में सिद्ध कला वस्तु (आर्ट आब्जेक्ट) की प्रकृति वस्तुगत (आब्जेक्टिव) होती है। साहित्य के सन्दर्भ में इसीलिए काव्य-वस्तु को शैली-विज्ञान वस्तुपरक स्वीकार करता है। यह सच है कि काव्य-वस्तु के मूल में मानव जीवन का कोई अनुभवखण्ड होता है और मानव मन की तरल संवेदना ही कलात्मक संवेग का काम करती है। पर काव्यवस्तु के रूप में प्रतीकबद्ध होने का अर्थ ही है तरल ऐन्द्रिक संवेगों का वस्तुरूप में रूपान्तरण। अतः हम कह सकते हैं कि काव्यवस्तु वह प्रतीक है जो आभ्यन्तर अनुभूतियों के दबाव से उत्पन्न तो होता है पर अपनी प्रकृति में वस्तुरूप होता है।

एक बात और ध्यान देने की है। काव्य वस्तु में यद्यपि किंपरोक्ष और प्रत्यक्ष उपादानों में तनाव बना रहता है पर मूलतः वह अपनी प्रकृति में एक 'संभावना' (पोटेंशियल) ही है। जिस प्रकार भाषा की प्रकार्यात्मक इकाइयाँ—स्वनिम, रूपिम आदि भेदक (डिस्टिक्टिव) अभिलक्षणों के पुंज के रूप में सिद्ध मिलती हैं उसी प्रकार काव्यवस्तु को भी मूलतः भेदक अभिलक्षणों का ही पुंज समझना चाहिए। इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार स्वनिम, रूपिम के कई लक्षण अपने प्रकार्यात्मक (फ़ंक्शनल) स्तर पर अनिर्दिष्ट रहते हैं और किसी परिवेश या वातावरण के सन्दर्भ में निर्दिष्ट होकर 'संभाव्य' को 'ठोस' रूप देते हुए सहस्वन (एलोफ़ोन) या सहरूप (एलोमॉर्फ) के रूप में सिद्ध मिलते हैं, उसी प्रकार काव्यवस्तु के कई तत्व (संघटक) अपने प्रकार्यात्मक स्तर पर अनिर्दिष्ट रहते हैं। वे भी मूर्तमान होने के लिए किसी परिवेश या वातावरण की अपेक्षा रखते हैं।

यहीं पर काव्यवस्तु की व्याख्या या आस्वाद का प्रश्न आता है। आलोचक संभाव्य पर वस्तुगत काव्यवस्तु के अनिर्दिष्ट तत्वों की व्याख्या करते हुए एक ओर उसे और सटीक बनाता है और पाठक (रसिक) उसको आस्वाद्य वस्तु (एस्थेटिक आब्जेक्ट) के रूप में ग्रहण करते हुए उसे और मूर्तमान बनाता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि आस्वाद्य-वस्तु पाठक की चेतना में जाकर प्रतिफलित होती है। वस्तुतः कला-वस्तु (आर्ट आब्जेक्ट) के रूप में काव्य वस्तु के अनिर्दिष्ट तत्व ही व्याख्या सापेक्ष्य होते हैं, वे ही निर्दिष्ट होकर काव्यवस्तु के संभाव्य वस्तुरूप को मूर्तमान भावरूप में परिवर्तित करते हैं। वस्तुपरक काव्यवस्तु को भावपरक आस्वाद्यवस्तु में ढालने की प्रक्रिया इसीलिए पाठक से सह-सर्जनात्मक (को-क्रिएटिव) क्रिया की अपेक्षा रखती है। यह पाठक की सह-सर्जनात्मक क्रिया ही है जो संभाव्य को अवग्रहणार्थ मूर्तमान बना देती है।

ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है कि कला प्रतीक के स्तर पर काव्यवस्तु के दो भेद होते हैं जिन्हें निम्नलिखित रूप में तालिका में दिखलाना संभव है :

स्तर	इकाई	क्षमता	प्रकार्य
(क) आस्वाद्य वस्तु	काव्यवस्तु २ (भागवत)	आस्वाद्यपरक	रसपरक
कला प्रतीक			
(ख) कला वस्तु	काव्यवस्तु १ (वस्तुगत)	सौन्दर्यपरक	काव्यार्थपरक

कलाप्रतीक के सन्दर्भ में कलावस्तु प्रतीक और आस्वाद्यवस्तुप्रतीक का अन्तर बहुत महत्व का है। कलावस्तु प्रतीक अपनी प्रकृति में वस्तुगत होने के कारण अविकल्पवत (इनवैरिएंट) होता है जबकि पाठक (आस्वादक) और काव्यवस्तु के संयोग से निष्पन्न आस्वाद्यवस्तु प्रतीक विकल्पवता सहरूप में एक ही काव्यवस्तु प्रतीक के कई आस्वाद्यवस्तु प्रतीक संभव हैं क्योंकि आस्वादपरक व्याख्या पाठक (रसिक) की आस्वादधारणा पर निर्भर होती है। यही कारण है कि कालिदास रचित 'शकुंतला', तुलसी कृत 'रामचरितमानस' या शेक्सपीयर लिखित 'हेमलेट' काव्यवस्तु प्रतीक के स्तर पर एक होकर भी आस्वाद्यस्तु प्रतीक के स्तर पर विभिन्न युगों में विभिन्न रूप में ग्रहण किये गये और आज भी विभिन्न पाठकों के मानस में विभिन्न रूप में मूर्तमान मिलते हैं।

संरचनात्मक शैलीविज्ञान कला प्रतीक के स्तर पर काव्यवस्तु के दो रूप वस्तुगत (कलावस्तु प्रतीक) और भावगत (आस्वाद्यवस्तु प्रतीक) को स्वीकार करते हुए अपनी सीमा-रेखा को कलावस्तु प्रतीक की मीमांसा तक खींचता है और आस्वाद्यवस्तुमीमांसा के क्षेत्र को बहिर्निष्ठ आलोचना का क्षेत्र मानते हुए उसे अपने अध्ययन क्षेत्र से इतर की वस्तु स्वीकार करता है।

खण्ड २

शैलीवैज्ञानिक चिन्तन : विविध सन्दर्भ

साहित्य विश्लेषण का संघटनात्मक दृष्टिकोण

"दि लिटरेचर फ़ैशन्ड आउट ऑफ दि फ़ार्म एण्ड सब्स्टैन्स ऑफ ए लैंग्वेज हैज दि कलर एण्ड दि टेक्सचर ऑफ इट्स मैट्रिक्स ।"

इ० सेपीर० : लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर

आज देश-विदेश में साहित्यिक आलोचना को अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक बनाने की मांग की जा रही है। और जब किसी दृष्टिकोण-विशेष पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाने लगता है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि सबसे पहले हम यह समझ लें कि उस दृष्टिकोण-विशेष को अपनाने के आग्रह के पीछे कौन-सी प्रेरक शक्तियाँ काम कर रही हैं, उसके पीछे कौन-सा दर्शन है? ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में ऐसी क्या नई उपलब्धि सामने आई है, जो मोड़ देने के लिए एक आवश्यकता के रूप में महसूस की जाने लगी है। संक्षेप में कहें, तो यह सवाल सहज में उठाया जा सकता है कि साहित्य के क्षेत्र में आलोचना और उस आलोचना का 'वैज्ञानिक' तत्त्व है क्या? क्या आज तक की आलोचना अवैज्ञानिक रही है? साहित्य एवं कला के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाला फ्रायड का 'कामवृत्ति-दमन का सिद्धांत' तथा 'स्वप्न-सिद्धांत' के विचार पर आश्रित प्रकृत इच्छाओं की 'स्थानापन्न तृप्ति' की साधन-स्वरूप कला का विवेचन अवैज्ञानिक है? विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान पर आधारित तथा व्यक्ति की रचनात्मक वृत्ति से प्रेरित सामूहिक अज्ञात मन में बीज रूप में अंकुरित प्रतिभा (आर्केटाइप) सम्बन्धी (युंग) का सिद्धांत, जो साहित्यकार की मानसिक स्थिति का तर्कसंगत विवेचन करता है, आज अवैज्ञानिक मान लिया जाए? और नहीं तो क्या रिचर्ड्स की 'मूल्यवादी आलोचना पद्धति' जो वैज्ञानिकता का दावा करती है अथवा काडवेल की आलोचना की 'मार्क्सवादी प्रणाली' जो अपनी पद्धति को कारण-कार्य की बुद्धिजन्य संगति से पुष्ट करती चलती है, आज वैज्ञानिक आलोचना की सीमा के बाहर के सिद्धांत हैं? क्या साहित्य की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति का इलियट का सिद्धांत, जो माध्यम के तटस्थ विश्लेषण का आग्रह करता है, आज वैज्ञानिक नहीं?

मेरी अपनी मान्यता है कि आलोचना का न केवल रसवादी भारतीय सिद्धांत वैज्ञानिक आलोचना की परिधि के भीतर नहीं आता, वरन रिचर्ड्स, इलियट, काडवेल आदि पाश्चात्य विद्वानों के साहित्य-सिद्धांत भी एक निश्चित दृष्टि से वैज्ञानिक नहीं। (कम-से-कम उस अर्थ में जिसे आज का विज्ञान स्वीकार करता है।)

इसमें सन्देह नहीं कि हर युग की अपनी परिस्थितियों के अनुरूप सांस्कृतिक चेतना होती है, चिन्तन-परिवेश का एक ऐसा दायरा होता है जिसके भीतर रहकर ही व्यक्ति प्रायः सोचता-समझता है। चिन्तन-परिवेश का यह दायरा वस्तुतः किसी

निश्चित दर्शन की माँग करता है। साहित्यिक आलोचना के अब तक प्राप्त विविध रूप अपने युग के किसी-न-किसी दर्शन अथवा वैज्ञानिक चिन्तन पद्धति से प्रभावित होते रहे हैं। यही कारण है कि विचारधारा और चिन्तन-पद्धति की अपनी सीमाएँ, साहित्यिक आलोचना की सीमाएँ भी निर्धारित करती रही हैं। दूसरी बात यह भी रही है कि साहित्यिक आलोचना के पीछे जो चिन्तन-पद्धति अपना काम करती रही है उनका स्रोत ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से रहा है। वे कभी साहित्यकार के 'मन' का विश्लेषण करने के लिए मनोविज्ञान का सहारा लेते रहे हैं, कभी साहित्य की सामाजिक उपादेयता सिद्ध करने के लिए उसका समाजशास्त्रीय विवेचन करते रहे हैं अथवा 'रस' की अनिर्वचनीयता को स्पष्ट करने के लिए अन्य अनेक दार्शनिक सिद्धांतों का सहारा लेने के पक्ष में रहे हैं। फल यह रहा है कि साहित्यिक आलोचना के नाम पर फैलाव अधिक आया है, साहित्य के विविध पक्षों पर आंशिक विवेचना अधिक हुई है पर आलोचना जैसे अपने स्थान पर वहीं स्थिर खड़ी है जहाँ आज से कुछ वर्षों पहले स्थित थी। जहाँ विज्ञान के क्षेत्र में विकास के कुछ निश्चित चरण निर्देशित किए जा सकते हैं और किसी मान्यता-विशेष के विकास के कुछ स्पष्ट स्तर बतलाए जा सकते हैं, वहाँ साहित्यिक आलोचना का इस संदर्भ में विकास संदिग्ध ही माना जाएगा। उदाहरण के लिए अगर 'गति के नियम' को गैलेलियो ने एक मोड़ दिया, न्यूटन ने दूसरा और आइन्स्टीन ने तीसरा, तो एक ही सिद्धांत अपना विकास पाकर अपने को और भी वैज्ञानिक बनाता गया, उस दिशा में ज्ञान पुष्ट से पुष्टतर होता गया। ऐसी स्थिति में समय के स्तर पर भौतिक विज्ञान एक सीधी रेखा (लिनियर मूवमेन्ट) में अपना इतिहास बनाता रहा है जबकि ऐसा इतिहास हमें साहित्यिक आलोचना का नहीं मिलता। और अगर कुछ बल देने पर यह मान भी लिया जाए कि साहित्यिक आलोचना का भी इतिहास है तो निश्चित रूप से यह भी कहा जा सकता है कि उसकी गति ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की तुलना में इस तरह मन्द है कि उससे परिचित एक प्रबुद्ध पाठक के लिए वह स्थिर ही जान पड़ती है।

कहीं मेरी बात को गलत ढंग से न ले लिया जाए, इसके लिए यहाँ मैं एक-दो तथ्यों को और भी स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ। जब मैं साहित्य-सम्बन्धी आलोचना की बात उठाता हूँ तो मेरा तात्पर्य केवल 'साहित्यिक मूल्यों' तक सीमित नहीं। कोई भी सिद्धांत एक ओर जब मूल्यों का निर्माण करता है तो दूसरी ओर एक निश्चित प्रणाली (मेथड) का भी विकास करता है। साहित्यिक-सिद्धांत की चर्चा जब आलोचना के संदर्भ में उठाई जाती है तब उसे केवल 'मूल्यों' तक सीमित रखना वस्तुतः उसकी व्यावहारिकता से इन्कार करना है। और इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यिक-आलोचना, साहित्य-सिद्धांत के साथ अपने व्यावहारिक पक्ष को भी लेकर हमारे सामने आती है अर्थात उसका सीधा सम्बन्ध 'प्रणाली' से भी है। आलोचना-सिद्धांत के स्तर पर साहित्यिक मूल्यों का इतिहास दिखाया जा सकता है पर ऐसा इतिहास एक खास दृष्टि के सहारे लिखा जाना संभव है जो तटस्थ हो

ही नहीं सकता।[1] जहां तक आलोचना के दूसरे उपकरण अर्थात् प्रणाली का प्रश्न है, साहित्यिक आलोचना के सन्दर्भ में उसका क्रमवद्ध विकास देखने को नहीं मिलता, अतः इतिहास के रूप में उसे लिखा जा भी नहीं सकता। डेविड डेइचेस जब आलोचना की प्रणाली को अपनी पुस्तक का आधार बनाते हैं तब वे साहित्यिक आलोचना का इतिहास लिखने में अपने को असमर्थ पाते हैं।[2] वस्तुतः यह अक्षमता लेखक की नहीं वरन उसका सम्बन्ध तो स्वयं प्रतिपाद्य विषय अर्थात आलोचना की प्रणाली से है। ध्यान देने की बात है कि विज्ञान के क्षेत्र में इतिहास वस्तुतः सिद्धांत के साथ-साथ उसकी प्रणाली का भी इतिहास रहा है।

सच तो यह है कि वैज्ञानिक आलोचना के नाम पर जो भी साहित्य के क्षेत्र में लिखा गया उसका सम्बन्ध विज्ञान के अन्य क्षेत्रों से लिये गए कुछेक प्रत्यय(कांसेप्ट) के प्रयोगमात्र तक सीमित रहा है। आधुनिक विज्ञान के पीछे प्रेरणास्वरूप कार्य करने वाली चिन्तन-पद्धति अथवा उस चिन्तन को व्यावहारिक स्तर पर उतारकर कार्यान्वित करने वाली कार्य-प्रणाली से आलोचकों का सम्बन्ध दूर का भी नहीं रहा है। उन्होंने अपने युग में प्रचलित मान्य वैज्ञानिक धारणाओं के व्यापक धरातल पर जाकर साहित्य के विश्लेषण का प्रयास नहीं किया, वरन उन धारणाओं को लेकर मानविकी के अन्य क्षेत्रों में जो प्रयोग हुए, उसके निष्कर्षों पर अधिक बल दिया। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि क्षेत्रों की प्रचलित मान्यताएं ही उनके लिए आदर्श बनीं, जबकि ये क्षेत्र न तो पूरी तरह से अपने युग की वैज्ञानिक धारणाओं को ठीक से अपना सके थे, और न अपने क्षेत्र में उस कार्य-पद्धति या टेकनीक को ही विकसित कर पाए थे, जो हमें भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र आदि विज्ञान के अन्य विकसित क्षेत्रों में देखने को मिलती हैं। परिणाम भी स्पष्ट है। साहित्यिक आलोचना की वैज्ञानिकता, मानविकी के स्तर पर रही, बल्कि कहना चाहिए कि सीधे वैज्ञानिक धारणाओं से सम्बन्ध न रहने के कारण उससे भी निम्न श्रेणी की ही बनी रही।

आलोचना स्वयं में एक 'अनुशासन' है; वह एक 'टेकनीक' है जो अपनी सिद्धि के लिए एक निश्चित कार्य-प्रणाली का विकास करती है। वस्तुतः आलोचना को वैज्ञानिक बनाने का अर्थ इस कार्य-प्रणाली को वैज्ञानिक बनाना है। प्रश्न किसी साहित्यिक मान्यता को लेकर आज नहीं रह गया है और न अब साहित्य की सामाजिक, मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक पृष्ठभूमि ढूंढ़ने में ही आलोचना की उपलब्धि रह गई है। यह मैं नहीं कहता कि ऐसे अध्ययन का अपना कोई महत्त्व नहीं है। सभी अपने स्थान पर किसी-न-किसी पक्ष का उद्घाटन करते हैं, सृजनात्मक प्रक्रिया, सामाजिक परिवेश, पाठकों पर कृति के प्रभाव आदि पक्षों

१. विलियम के. विम्सेट एंड सी. ब्रुक्स—लिटरेरी क्रिटिसिज्म—ए शार्ट हिस्ट्री, आक्सफोर्ड बुक कार्पोरेशन, कलकत्ता-दिल्ली (१९५९) पृ० ७।
२. डेविड डेइचिस—क्रिटिकल एप्रोचेज टु लिटरेचर, लॉन्गमैन्स (१९५७) पृ० ८।

पर प्रकाश डालते हैं पर मुख्य सवाल तो पहले आलोचना की टेकनीक की वैज्ञानिकता का है जिसको आलोचक अपनाता है। साहित्य आज ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों को स्पर्श करता है तो उन तन्तुओं का अध्ययन जो साहित्येतर क्षेत्रों से उनका सम्बन्ध जोड़ते हैं, अपने ढंग से अपने में उपलब्धि हो सकता है पर सवाल तो पहले स्वयं साहित्य के क्षेत्र की अपनी सीमा-रेखा के भीतर किसी कृति के सही विश्लेषण का है, स्वयं रचना के संघटनात्मक तत्त्वों पर प्रकाश डालने का है। अतः आलोचना की टेकनीक और उस टेकनीक की वैज्ञानिकता की जब बात उठती है तो उसका मतलब मुख्यतः साहित्य से है, उस कृति-विशेष से है जिसका अध्ययन आलोचक का साध्य रहता है और उस अध्ययन के लिए अपनायी गई उस कार्य-प्रणाली से है जिसके सहारे वह सहित्यिक विशिष्टताओं पर प्रकाश डालता है।

यहीं पर इसका भी संकेत दे देना उचित होगा कि २०वीं शती के प्रारम्भ तक विज्ञान का भी दर्शन रहा है, उसको भी एक सिद्धांत के रूप में समझा जाता रहा है। गैलेलियो, न्यूटन, डार्विन आदि के विचार को एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में भी मान्यता मिलती रही है और उसने अपने युग की दार्शनिक विचार-धारा को बहुत दूर तक प्रभावित भी किया है। हर युग में प्रचलित विभिन्न सिद्धान्तों के मूल में एक आधारभूत समष्टिगत दर्शन भी एक प्रच्छन्न धारा के रूप में उनके अन्तस्तल में प्रवाहित होता रहा है। पर दर्शन, ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों द्वारा निकाले गए मूल सूत्रों में एक अन्विति स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी सम्पादित करता रहा है। पर आज की परिस्थिति भिन्न है। आज विशेषीकरण का युग है जहाँ ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र अपना विकास अपने ढंग से कर रहा है। आज एक क्षेत्र अगर विकसित होकर सिद्धान्त-स्थापना में दस कदम आगे बढ़ गया है तो दूसरा अभी दो कदम भी नहीं चल पाया है। (उदाहरण के लिए भौतिक-शास्त्र और जीव-शास्त्र की उपलब्धियों का तुलनात्मक अध्ययन कर देखिए।) अतः उस समष्टिगत दर्शन की बात ही नहीं उठ पाती जो ज्ञान के विभिन्न अंगों में अन्विति स्थापित करने में समर्थ होता आया था। यही कारण है कि आज के युग में दर्शन का स्थान 'प्रणाली' ने ले लिया है। आज का वैज्ञानिक अब स्पष्ट स्वर में कहता है कि "आज विज्ञान को एक सिद्धान्त के रूप में नहीं वरन एक कार्य-प्रणाली के रूप में पढ़ाना है।"[१] आज एक स्वर से वैज्ञानिकों ने स्वीकार कर लिया है कि विज्ञान के नये सिद्धान्त और टेक्नॉलोजी की नयी खोज से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बात वह नया दृष्टिकोण और कार्य-प्रणाली है जिसे वैज्ञानिक कहा जाता है।[२] वैज्ञानिकता का अर्थ कोई वैज्ञानिक विषयवस्तु नहीं

१. जे० राबर्ट ओपेनहीमर—"फिजिक्स इन दि कांटेम्पोरेरी वर्ल्ड" संकलित 'ग्रेट एस्सेज इन साइन्स' सं० एम० गार्डनर, न्यूयार्क (१९६१) पृ० २००।

२. ए० एन० व्हाइटहेड—'दि ओरिजिन ऑफ माडर्न साइन्स' संकलित 'फिलासफी इन दि ट्वेन्टियेथ सेन्चुरी' खण्ड २, सं० डब्लू, बैरेट एण्ड ह० डी० एइकेन, न्यूयर्क (१९६२) पृ० ८२३।

वरन विषयवस्तु पर बात करने की रीति है, फलित ज्योतिष (एस्ट्रॉलोजी) की तुलना में खगोल-विद्या (एस्ट्रॉनोमी) इसलिए वैज्ञानिक नहीं कि उसकी विषय-वस्तु भिन्न है अपितु वह इसलिए वैज्ञानिक है कि वह एक ही विषयवस्तु पर एक भिन्न उक्ति देता है, एक अलग ढंग से उसका विश्लेषण करता है।[१]

साहित्यिक आलोचना को वैज्ञानिक बनाने से मेरा तात्पर्य आलोचना के सन्दर्भ में वस्तुतः उसी कार्य-प्रणाली और उसी युक्ति से है जो आज विज्ञान के क्षेत्र में मान्य है, जिसे आज वैज्ञानिक कहा जाता है।

: २ :

प्रश्न उठाया जा सकता है कि विज्ञान के क्षेत्र में अपनाई जाने वाली कार्य-प्रणाली क्या मनुष्यों की अपनी कार्य-विधि, उसके सामाजिक व्यवहार एवं आन्तरिक क्रिया-कलापों पर भी लागू की जा सकती है। क्या भौतिक जगत के अध्ययन के निमित्त विकसित प्रणाली को समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान, इतिहास अथवा साहित्य के क्षेत्रों में सफलतापूर्वक प्रयोग में लाया जा सकता है? क्या निष्प्राण भौतिक जगत जहाँ विकल्प और चुनाव का प्रश्न नहीं, जहाँ गति स्व-निर्देशित एवं स्व-संयोजित प्राकृतिक नियमों के अनुसार संचालित होती है और मनुष्य का आन्तरिक जगत, जहाँ व्यक्ति की इच्छाएँ विकल्प को अपना आधार बनाती हैं, जहाँ मनुष्य के आपसी संबंध स्थिति को और भी जटिल बना देते हैं—एक हैं? अगर वे एक नहीं तो क्या विषयवस्तु की विभिन्नता, उनके अध्ययन के लिए विभिन्न प्रणाली की माँग नहीं करती?

इस संदर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार टायन्बी का मत ध्यान देने योग्य है। उनके अनुसार हमारे पास विचार-सामग्री और उसके साथ मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों को अभिव्यक्त करने की तीन पद्धतियाँ हैं। पहली पद्धति है विशिष्ट 'तथ्यों' के निरीक्षण और 'रेकार्ड' की; दूसरी पद्धति है तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से सामान्य नियमों के निरूपण एवं स्पष्टीकरण की; और तीसरी पद्धति है कलात्मक सृजन और उस अभिव्यक्ति की जिसे हम 'फिक्शन' कहते हैं। इतिहास, नृतत्व-शास्त्र और साहित्य, वस्तुतः तीन विभिन्न क्षेत्र हैं जहाँ अध्ययन की ये तीन स्पष्ट पद्धतियाँ क्रमशः लागू की जाती हैं। अतः टायन्बी के अनुसार जीवन और जगत के विभिन्न पक्ष जो विभिन्न ढंग से हमारे सामने आते हैं उनके अध्ययन के भी उसके अनुरूप विभिन्न टेकनीक हैं क्योंकि उनकी कार्यप्रणाली एक हो ही नहीं सकती। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए वे इन विभिन्न पद्धतियों (टेकनीक) का संबंध तथ्य-सम्बन्धी आँकड़ों को सुचारु रूप से ग्रहण एवं अध्ययन करने की पारि-

१. सोल सपोर्टा—"दि एप्लिकेशन ऑफ लिंग्विस्टिक्स टु दि स्टडी ऑफ पोयेटिक लैंगुएज" संकलित 'स्टाइल इन लैंगुएज' सं० थामस० ए० सिबियोक, न्यूयार्क-लंडन (१९६०) पृ० ८५।

मात्रिक (क्वान्टिटीज़) क्षमता के साथ जोड़ने का भी प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए जहाँ 'डेटा' परिमाण में अत्यन्त सीमित हों, वहाँ उनको 'रेकॉर्ड' मात्र करना ही संभव है, पर जहाँ वे परिमाण में इतने अधिक हों कि उन्हें क्रमबद्ध अंकित करना संभव नहीं पर वे संख्या में इतने अधिक नहीं होते कि उनका सर्वेक्षण करना संभव हो, वहाँ तुलनात्मक पद्धति के माध्यम से सामान्य नियमों का निरूपण एवं व्याख्या संभव है। लेकिन जब 'डेटा' संख्यातीत हों, जिनको न तो कमबद्ध करना संभव है और न सर्वेक्षण ही, वहाँ कलात्मक सृजन का ही एकमात्र टेकनीक अपनाया जा सकता है। अतः टायन्बी के अनुसार विभिन्न टेकनीक आपस में 'डेटा' को विभिन्न परिमाणों में देखने-समझने और उसको कार्यरूप में बदलने की आन्तरिक क्षमता के आधार पर एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं।[1]

नृतत्व-शास्त्री, वैज्ञानिक टेकनीक अपना सकता है, वह सामान्य नियमों का निरूपण-निर्देशन कर सकता है, सामाजिक व्यवहार में 'पैटर्न' की स्थापना कर सकता है और वह इसलिए कि आज कम-से कम ६५० आदिम समाजों से हमारा परिचय है। इसके विपरीत इतिहासकार उससे अधिक कुछ कर ही नहीं सकता जितना आज कर रहा है अर्थात तथ्यों के अंकन और उसकी व्याख्या से ऊपर उठकर सामान्य नियमों का निर्देश उसकी सीमा-क्षमता के बाहर है। और इसका कारण ? टायन्बी के अनुसार सभ्य समाज की सीमित संख्या है। हम आज २०-२१ से अधिक सभ्य समाज की सामाजिक व्यवस्था से परिचित ही नहीं। साहित्यकार के लिए भी उस वैज्ञानिक टेकनीक को अपनाना संभव नहीं जिसके लिए नृतत्व-शास्त्री को प्रशंसा की दृष्टि से देखा जाता है। पर इसका कारण तथ्यों का सीमित होना न होकर ठीक उसके विपरीत मानवीय सम्बन्धों का संख्यातीत होना है। उपन्यास और नाटक साहित्यिक विधा इसलिए हैं क्योंकि वे व्यक्तिगत सम्बन्धों को अपने प्रतिपाद्य विषय-वस्तु का मूलाधार बनाते हैं। अतः टायन्बी के अनुसार इतिहास और साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण की पद्धति में लचीलापन और अन-स्थिरता (फ़्लक्चुएशन्स) का आना न केवल स्वाभाविक है पर एक अनिवार्य स्थिति भी है क्योंकि उनका प्रतिपाद्य विषय ही ऐसा है।

ठीक इसके विपरीत प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक येल्मस्लेव विभिन्न टेकनीकों में किसी एक के चुनाव को विषय-वस्तु के परिमाण एवं गुण के आधार पर स्वीकार करने के सिद्धांत के विरुद्ध हैं। टेकनीक के चुनाव का प्रश्न, विषय-वस्तु से सम्बन्धित न होकर उस विषय पर शोध करने वाले विद्वानों की व्यक्तिगत अभिरुचि से प्रायः जुड़ा होता है।[2] अगर टेकनीक वैज्ञानिक है तो वह व्यक्तिगत अभिरुचि के प्रश्न के

१. ए. टायन्बी—ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री, खण्ड १, आक्सफोर्ड (१९४५) पृ० ४५२।
२. एल. येल्मस्लेव एण्ड एच. जे. उल्डाल—आउटलाइन आफ ग्लासेमेटिक्स, खण्ड १, कोपेन-हेग (१९५७) पृ० ७।

बाहर होगी और उसकी प्रणाली निश्चित ही एक होगी। परिमाण में संख्यातीत और सीमित तथ्यों के आधार पर निर्मित सिद्धान्त का प्रश्न तो मात्र सम्भावना (प्रोबेबिलिटी) की डिग्री का प्रश्न है न कि विषयवस्तु के गुणात्मक भेद का। येल्मस्लेव के मतानुसार सारी समस्या 'फलन' (फ़ंक्शन) के प्रत्यय को ठीक से समझने की है जो आधुनिक विज्ञान का मूल सिद्धांत है। अरस्तू ने वस्तुओं के त्रिगुणात्मक पक्षों की ओर संकेत दिया है—१. वस्तु की सत्ता है, २. उसके कुछ गुण हैं, और ३. वह कुछ कार्य सम्पादित करता है। इस विभाजन के आधार पर रसेल ने वाक्यों का विभाजन तीन खण्डों में किया है—विशेष्य, विशेषण और क्रिया। पर आधुनिक विज्ञान ने इस त्रिगुणात्मक विभाजन को आज समाप्त कर दिया है। उदाहरण के लिए गुण और क्रिया के भेद को ही लें। नीलापन गुण है अथवा क्रिया ? प्राचीन मान्यता के अनुसार यह गुण-भेद के अंतर्गत माना जाएगा। लेकिन विज्ञान की खोज के अनुसार तो उसे एक निश्चित लम्बाई की विद्युत-तरंगों की क्रिया के रूप में ही समझना संभव है। गुण-क्रिया आज आपस में एक-दूसरे की सीमा में अन्तर्भुक्त हो गए हैं। क्रिया के अतिरिक्त गुण की सत्ता नहीं और गुण-क्रिया को अलग कर हम वस्तु के अस्तित्व का बोध ही नहीं कर सकते। अतः तीनों पक्षों का समाहार आज एक प्रत्यय में हो गया है और वह है 'फलन' का प्रत्यय जिसका चरम-विकास हमें गणित में देखने को मिलता है। सामान्य-विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में अपनायी गई टेकनीक का अन्तर वस्तुतः 'फलन' के इस प्रत्यय को अपनाने और न अपनाने का अन्तर है। सामाजिक विज्ञान वस्तुतः वस्तुओं को विशेष्य तक सीमित कर उसी को एक 'इकाई' मान लेता है और उसके आगे नहीं जाता, जबकि सामान्य-विज्ञान 'फलन' के प्रत्यय-बोध को अपनाने के कारण 'वस्तुओं' के पार जाकर उसका विश्लेषण करता है, उसके लिए वस्तु अंतिम इकाई नहीं।

टायन्बी ने टेकनीक के सम्बन्ध में साहित्य की भी चर्चा उठाई है। उसने अरस्तू के साहित्य-सिद्धांत की आलोचना करते हुए यह निर्णय दिया है कि अरस्तू ने कविता की सामान्यीकृत पद्धति और इतिहास की व्यक्तिपरक अध्ययन-प्रणाली को ठीक से नहीं समझा था क्योंकि उसे उपन्यास-नाटक में प्रयुक्त व्यक्तिगत सम्बन्धों की रूप-प्रकृति और कविता-विज्ञान की सामान्यीकृत रचना का अन्तर स्पष्ट नहीं था।

लेकिन प्रश्न है क्या उपन्यासकार व्यक्तिगत संबंधों को व्यक्तिगत रूप में ही अभिव्यक्त करता है ? क्या वहाँ सामान्यीकरण की प्रक्रिया काम नहीं करती ? क्या उपन्यासकार किसी घटना के सम्भावित पक्ष और वास्तविक जगत में घटने वाली घटनाओं के भेद को आमने-सामने नहीं रखता ? साहित्य की विवेचना करते समय प्रसिद्ध रूसी आलोचक बेलिन्स्की ने एक स्थान पर लिखा है—"कला सम्भावित यथार्थ का रचनात्मक रूपांतर है।" जो यथार्थ नहीं हो सकता, वह कला में स्थान पाने योग्य नहीं। कला तो यथार्थ की अभिव्यक्ति है। पर यथार्थ के साथ जुड़ा

हुआ 'सम्भावित' शब्द इस तथ्य का बोधक है कि कला, वास्तविक जगत की यथातथ्य अनुकृति की माँग नहीं करती। कला के क्षेत्र में कल्पना का प्रयोग वर्जित नहीं, पर कल्पना की कार्य-सिद्धि का क्षेत्र भी निश्चित एवं सीमित है। कल्पना के माध्यम से कलाकार उन समस्त तथ्यों के अंकन एवं 'नये' जगत के निर्माण के लिए स्वतंत्र है जो यथार्थ के रूप में अपना अलग अस्तित्व ग्रहण करने योग्य हों। शर्त केवल एक है कि उसकी कल्पना द्वारा उद्भूत संसार यथार्थ की सम्भावना से परे न हो।[1] सच तो यह है कि 'सम्भावित यथार्थ' का तात्पर्य किसी घटना को किसी विशेष परिस्थिति में एक विशेष ढंग से ही घटित होने से है। जिस अनुपात में हम इन परिस्थितियों को निर्दिष्ट कर सकने में समर्थ होंगे उसी अनुपात में घटनाओं की 'प्रकृति-सम्भावना' को भी निर्दिष्ट करने में हम सक्षम होंगे!

स्पष्ट है, विज्ञान अपनी प्रणाली को पर्यवेक्षण के आधार पर प्राप्त तथ्य-सामग्री के सन्दर्भ में अपनाता है और साहित्यकार भी अपनी प्रणाली को उस संश्लेषणात्मक विधान के आधार पर अपनाता है जो वस्तुतः वैसी ही तथ्य-सामग्री के पर्यवेक्षण पर आधारित है, जिसको वैज्ञानिक स्वीकार करता है। अन्तर है तो केवल इतना कि पर्यवेक्षित तथ्य-सामग्री द्वारा निर्मित 'साहित्यिक' जगत एवं उसकी क्रियात्मक घटनाओं के लिए आवश्यक नहीं कि वह यथार्थ में घटी ही हों। पर अपनी तमाम स्वतंत्रता के बावजूद वह उच्छृंखल भाव से घटनाओं को मनमाने ढंग से वर्णन करने के लिए मुक्त नहीं होता। साहित्य स्वयं में एक अनुशासन है और साहित्यकार वास्तविक अर्थ में 'स्वतंत्र' होता है उच्छृंखल नहीं अर्थात वह 'स्व' (अपने क्षेत्र) में 'तंत्र' (नियम) से बँधा होता है। और यह तंत्र है अपनी रचना में उद्भूत 'संसार' की यथार्थता और सचाई से पाठकों को विश्वस्त करना, कल्पित को भी वास्तविक के रूप में पेश करना। और वह अपने लक्ष्य में सफल कैसे होता है? निश्चय ही वास्तविक जीवन में होने वाले क्रिया-कलापों के पर्यवेक्षण से वह वास्तविक संसार का निरीक्षण करता है, विभिन्न व्यक्तिपरक घटनाओं के माध्यम से सामान्यीकृत व्यवहार का पता लगता है और इस सामान्यीकृत व्यवहार के 'पैटर्न' की सम्भावनाओं से अपने को विश्वस्त कर लेने के पश्चात उसके संदर्भ में कुछ विशेष परिस्थितियाँ अत्पन्न करता है (जो सम्भव हैं पहले न घटी हों), और पूर्वगृहीत सामान्यीकृत व्यवहारों के सहारे ही 'पैटर्न' के भीतर से 'सब-पैटर्न' को ढूंढ निकालता है। इसी 'सब-पैटर्न' को आलोचक मानव-व्यवहार के संदर्भ में अंतर्जगत का अन्वेषण कहते हैं। वस्तुतः यह सम्पूर्ण क्रिया ठीक उसी प्रकार चलती है जैसे विज्ञान के क्षेत्र में।

उदाहरण के लिए दास्तायेव्स्की की उपन्यास-कला को ही लें। दास्तायेव्स्की को आलोचकों ने मनोवैज्ञानिक उपन्यास का सबसे समर्थ रचनाकार स्वीकार

१. देखिए लेखक की पुस्तक—प्रगतिशील आलोचना, साहित्य-भवन प्रा० लि० इलाहाबाद (१९६२), पृ० १४७।

किया है।[1] उसने अपने मनोवैज्ञानिक उपन्यास में अन्तश्चेतना की प्रायः सम्पूर्ण परिधि को ही मानो समेट लिया है। लेकिन मनोविज्ञान को मनोविज्ञान के लिए न अपनाकर उसने अपने उपन्यासों में उसका लक्ष्य 'अन्तर्जगत के सूक्ष्म तत्त्वों का अन्वेषण' रखा था।[2] और इस अन्वेषण के लिए वह मानव-जीवन को कुछ विशेष असामान्य परिस्थितियों में डालकर उसकी प्रतिक्रिया देखने-समझने की कोशिश करता है। सच तो यह कि आन्तरिक जगत के सूक्ष्म तत्त्वों का उद्घाटन वह मानव-जीवन की असामान्य प्रतिक्रिया के माध्यम से करने में सफल होता है और इस असामान्य प्रतिक्रिया का सीधा संबंध 'असामान्य परिस्थितियों' से है। यही कारण है कि दास्तायेव्स्की के प्रायः सभी उपन्यासों की रचना, उसके 'नायकों' के जीवन में आने वाली अत्यन्त तनावपूर्ण दो-तीन नाटकीय घटनाओं के इर्द-गिर्द ही सिमटी रहती है।[3] मानवीय और अमानवीय तन्तुओं को अलग करने के लिए कुछ ऐसी परिस्थितियों का वह निर्माण करता है जहाँ आत्मा के लिए 'विकल्प' की स्थिति उत्पन्न हो जाए, और चरम द्वंद्व की स्थिति में व्यक्ति एक ओर झुककर अथवा अलग दूसरी ओर मुड़कर अपने व्यवहार से मन के तन्तुओं का परिचय दे दे। ऐसे ही क्षणों को ध्यान में रखकर 'अपराध और दण्ड' का नायक रस्कोल्निकोव अपनी बहन से कहता है, "तुम कभी एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाओगी, जिसकी सीमारेखा पार कर तुम अपने को अभागी महसूस करोगी और जिसको न पार कर तुम और भी अपने को अभागी अनुभव करने लगोगी।" रूसी कवि मायकोव को लिखे अपने एक पत्र में उसने स्पष्ट लिखा था, "मैं हर जगह और हर चीज़ में उसकी सीमारेखा पर पहुँच जाना चाहता हूँ।"[4]

दास्तायेव्स्की का प्रायः प्रत्येक पात्र सीमा का अतिक्रमण करता है। किन असहनीय और अविश्वसनीय परिस्थितियों में वह अपने नायक को ला पहुँचाता है! और वह उनके दिल और दिमाग के साथ कौन-कौन से प्रयोग नहीं करता? उनको आत्मा की अतल गहराइयों में उतारकर नैतिक भ्रष्टाचार और बौद्धिक अनाचार के द्वन्द्व में उलझाते हुए वह उन्हें कहाँ नहीं ले जाता—अपराध, हत्या, आत्महत्या यहाँ तक कि पागलपन। कभी-कभी तो ऐसा लगता है जैसे उसके नायक भावनाओं की तीव्रता को महसूस करने के लिए इन सीमाओं का भी अतिक्रमण कर जाना चाहते हैं।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि आत्म-पीड़ा का यह अतिक्रमण अस्वाभाविक नहीं है? उसके द्वारा चित्रित घटना एवं वातावरण क्या कृत्रिम नहीं है? क्या उसके

१. मार्क स्लोनिम—आउटलाइन ऑफ रशियन लिटरेचर, पेंटर बुक (१९५९) पृ० १०७।
२. जे० लेवरिन—एन इन्ट्रोडक्शन टु दि रशियन नावेल, लंदन (१९४७) पृ० ९७।
३. ग० म० फ्रिडलेन्डर—दास्तायेव्स्की का यथार्थवाद (रूसी में) मास्को-लेनिनग्राद, (१९६४) पृ० ३८०।
४. वी येमिलोव—फ० म० दास्तायेव्स्की, मास्को (१) पृ १०।

उपन्यासों की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि अपने में अयथार्थ नहीं है ? ये अनोखी और विरल घटनाएँ, सामान्यीकृत स्थिति से दूर छिटककर व्यक्तिपरक नहीं हो गई हैं ? क्या अपवाद के भी अपवाद रूप ये नहीं हैं ? दास्तायेव्स्की के कथा-शिल्प को लेकर आलोचक अपना मत प्रायः इस रूप में देते हैं कि उसकी सम्पूर्ण कथा-सामग्री—अस्वाभाविक, विरल, कृत्रिम और अयथार्थपूर्ण है। वस्तुतः ऐसे ही आलोचक वास्तविक जगत के 'यथार्थ' और साहित्यिक जगत के 'संभावित यथार्थ' का अन्तर नहीं समझ पाते। अपने आलोचकों को उत्तर देते हुए उसने स्पष्ट लिखा है—"वे मुझे 'मनोवैज्ञानिक' कहते हैं जो सच नहीं। मैं केवल यथार्थवादी हूं। इस शब्द के सबसे ऊंचे अर्थ में।"[1]

दास्तायेव्स्की यथार्थवादी है, इसमें सन्देह नहीं; पर सामान्य यथार्थवादियों से वह भिन्न है, इसमें भी सन्देह नहीं। मरजकोव्स्की के शब्दों में वह 'प्रयोगपरक यथार्थवादी' है। उसके अनुसार दास्तायेव्स्की अपने वैज्ञानिक शोध के लिए अपनी मशीन और 'ऐपेरेटस' का प्रयोग कृत्रिम एवं अपवादपूर्ण स्थिति में करता है और वह इसलिए कि प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर सके। वह इस कृत्रिम एवं असामान्य स्थिति में मानव-मन को ले जाकर यह देखना चाहता है कि वह किस रूप में अपनी वास्तविक प्रकृति को खोलता है। वस्तुतः वैज्ञानिक शोध की पद्धति ही इसमें निहित है कि जानबूझकर 'कृत्रिम वातावरण' की स्थिति पैदा की जाय और फिर उसके संदर्भ में वस्तुओं की प्रकृति के सही उद्घाटन के लिए विभिन्न प्रयोग हों। दास्तायेव्स्की भी अपने उपन्यासों में इस वैज्ञानिक पद्धति को अपनाता है, वह भी अपने पात्रों को अत्यंत विरल एवं अस्वाभाविक परिस्थितियों के बीच से गुजरने देता है, यह देखने के लिए कि उसका परिणाम क्या निकलता है। उन विशेष परिस्थितियों में मानवीय व्यवहार की इस वास्तविक परख के सहारे ही आत्मा की अतल गहराइयों में जाकर उसकी प्रकृति का रहस्योद्घाटन करता है।[2] जिस वैज्ञानिक प्रणाली को इस युग का सबसे महान वैज्ञानिक आइन्स्टीन अपनाता है ठीक उस प्रणाली को दास्तायेव्स्की पिछले युग में अपना चुका था। केवल क्षेत्र भिन्न था—एक ने मानव-जीवन और उसकी प्रकृति को अपना शोध-विषय बनाया और दूसरे ने भौतिक-जगत और उसकी प्रकृति को। आइन्स्टीन ने भी असामान्य एवं अत्यन्त कृत्रिम परिस्थितियों के सन्दर्भ में भौतिक जगत को गुजरने दिया, उसने भी 'निष्ठुर प्रयोग' की रीति को अपनाकर यह कल्पना की—क्या होगा अगर हम किसी गतिशील वस्तु को प्रकाश-तरंगों की गति से घूमने को विवश करें ?[3]

१. न० म० चिर्कोव—दास्तायेव्स्की का शिल्प-कौशल (रूसी में) मास्को (१९६४) पृ० ५०।

२. डी० एस० मरजकोव्स्की—'दास्तायेव्स्की एण्ड टालस्टाय' संकलित 'रशियन लिटरेचर एण्ड माडर्न इंग्लिश फिक्शन' सं० डोनल्ड डेवी, शिकागो-लण्डन (१९६५) पृ० ८५।

३, वी० कुजनेत्सोव—'आइन्स्टीन', मास्को (१९६५) पृ० ८५।

और इसमें आश्चर्य की बात नहीं जब आइन्स्टीन यह स्वीकार करता है—"दास्तायेव्स्की मुझे किसी भी चिन्तक, यहाँ तक कि गास से भी अधिक, विचार सामग्री देता है।"[1]

प्रश्न है क्या अपने कृत्रिम प्रयोगों द्वारा आइंस्टीन या अन्य वैज्ञानिक सामान्यीकृत नियमों का पता नहीं लगाते ? क्या असामान्य परिस्थितियों के माध्यम से सामान्य प्रकृति के रहस्यों का वे उद्घाटन नहीं करते ? और क्या सचमुच दास्तायेव्स्की जैसे तथाकथित मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अयथार्थ जगत की ही सृष्टि करते हैं ? क्या वे असामान्य एवं कृत्रिम वातावरण के माध्यम से उसी प्रकार सामान्यीकृत नियमों का पता हमें नहीं देते, जैसा वास्तविक जगत के संदर्भ में वैज्ञानिक देते हैं ? जब साहित्य के क्षेत्र में यह स्वीकार किया जाता है कि साहित्य सम्भाव्य-अकरणीय (प्राबेबुल इम्पासिबिलिटी) को अपनाता है न कि असंभाव्य करणीय (इम्प्राबेबुल पासिबिलिटी) को, तब यह 'संभाव्य' प्राबेबल तत्व क्या सामान्यीकृत नियमों की ओर निर्देश नहीं देता ?

कहने का तात्पर्य यह है कि 'मन', 'आत्मा' 'चेतना' आदि के नाम पर साहित्य की जिन प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं की ओर संकेत देते हुए यह कहकर टाल देते हैं कि उनका विश्लेषण वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा संभव नहीं, वस्तुतः साहित्य को वे ही कृत्रिम एवं निर्जीव तथ्य के रूप में ग्रहण करने लगते हैं। वे जीवन और जगत के कार्य-व्यापार से असम्पृक्त कर, साहित्य के लिए एक बनावटी 'श्रेणी' का निर्माण करते हैं। इससे किसे इनकार हो सकता है कि 'साहित्यिक जगत', बाह्य जीवन के वस्तुगत जगत की हूबहू नकल नहीं, और वह हो भी नहीं सकता। पर इससे भी किसे इनकार हो सकता है कि साहित्यिक जगत, वास्तविक संसार से असम्बद्ध नहीं। साहित्यिक और बाह्य जगत में चरण-प्रति चरण अनुरूपता नहीं, पर उसमें 'आन्तरिक अनुरूपता' (इंटरनल हार्मनी) के आधार पर सीधा सम्बन्ध है। प्रश्न, सादृश्य का नहीं, प्रश्न उनके सम्बन्धों की 'आन्तरिक अनुरूपता का है अर्थात सवाल, तथ्यों की समानता एवं घटनाओं की बाह्य एकरूपता का नहीं वरन, तथ्यों के आन्तरिक गठन की अन्विति एवं फलन के सामंजस्य की एकरूपता का है। दूसरे शब्दों में कहें तो साहित्यकार, फोटोग्राफर नहीं जो वस्तुओं का यथातथ्य स्वरूप (उतारता) है अपितु वह चित्रकार की तरह कलाकार है जो वस्तुओं को, उनके गठन स्ट्रक्चर के रूप में ग्रहण करते हुए, उसके आधारभूत तत्वों की आन्तरिक अन्विति को चित्रित करता है। यह ठीक है कि 'चित्र' के रूप में कलाकृति, वस्तु की हुबहू प्रतिच्छवि नहीं, पर इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि वह चित्र, वस्तुतः उसी वस्तु का चित्र है। अंतर है तो केवल इतना कि बाह्य-जगत की वस्तु, जो पहले 'तथ्य-परक' थी, वह साहित्यिक जगत में आकर 'आन्तरिक अन्विति' और फलन के संदर्भ से जुड़ जाने के कारण 'यथार्थ-परक' बन जाती है।

३. जे० ह्यारमोघ, लैंगुएज—ए माडर्न सिन्थेसिस, न्यूयार्क (१९५७) पृ० १०१।

प्राकृतिक जगत मूलतः तथ्यपरक (फैक्चुअल) होता है, जबकि साहित्यिक जगत यथार्थपरक । सच तो यह कि साहित्यिक जगत, वायवीय, काल्पनिक एवं मानसिक नहीं वरन प्राकृतिक जगत की तुलना में कहीं अधिक यथार्थपूर्ण और ठोस होता है।

सवाल उठ सकता है कि प्राकृतिक जगत का तथ्य साहित्यिक जगत का 'यथार्थ' कैसे बन जाता है? अगर वैज्ञानिक और साहित्यकार दोनों ही एक ही दुनिया के अनुभवों को अपना 'विषय' बनाते हैं तो उनका प्रतिपाद्य विषय एक होकर भी दो भिन्न स्तरों की सामग्री कैसे बन जाता है? माना जाता है कि उनका भेद दो भिन्न दृष्टियों का परिणाम है। वे एक ही तथ्य को भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। पर प्रश्न तो वास्तविक यह है कि इस भिन्न दृष्टिकोण का हम पता कैसे पाते हैं? हम उनके अन्तर को देखते हैं तो आखिर किस माध्यम से। निश्चय ही हम इसे अभिव्यक्ति के आधार पर देखते-समझते हैं, हम इन दो भिन्न दृष्टिकोणों के अंतर को भाषा और शैली के माध्यम से अनुभव करते हैं।[1] अगर ये दो दृष्टिकोण 'अनभिव्यक्त' रह जायं, अगर साहित्यकार और वैज्ञानिक का 'एप्रोच' अपनी 'अभिव्यक्ति न पा सके, तो यह भी निश्चित है कि वह 'व्यक्तिगत' सामग्री बनकर ही रह जाएगा, और उसका पता हम न पा सकेंगे। उस स्थिति में यह निर्णय देना भी असंभव होगा कि उसका दृष्टिकोण 'वैज्ञानिक' था या 'साहित्यिक' अर्थात वास्तविक जगत के तथ्यों की खोज-बीन कर रहा था अथवा उसके संदर्भ में यथार्थ का निर्माण। येल्मस्लेव तो उपन्यास-विज्ञान के अन्तर को मात्र अभिव्यक्ति-भेद के रूप में स्वीकार करता है। उसके अनुसार उपन्यासकार अपनी वस्तु-सामग्री को 'सिन्टैग्मेटिकली' प्रस्तुत करता है जबकि वैज्ञानिक उसी तथ्य को 'पैराडिग्मेटिकली'।[2] इसी प्रेकार कविता और विज्ञान की अभिव्यक्ति में शैलियों की भिन्नता को देखा जा सकता है। ये दोनों शैलियां एक-दूसरे के सीधे विरोध में हैं। रोमन याकब्सन के अनुसार विज्ञान की भाषा में क्रमबद्धता, समीकरण (इम्बेशन) के निर्माण का हेतु होता है जबकि कविता में समीकरण, स्वयं में क्रमबद्धता का निर्माण करता है। क=क (पिल्ला, कुत्ते के बच्चे को कहते हैं) वस्तुतः पहली कोटि का वाक्य है जिसे जितने भी सुन्दर ढंग से क्यों न कहा जाए, जब तक समीकरण का तत्व, लक्ष्य के रूप में स्थित है, काव्य-की अभिव्यक्ति-पद्धति वह नहीं कहलाएगा।

निष्कर्ष यह कि 'साहित्यिक जगत' बाह्य एवं वस्तुपरक जगत की प्रतिच्छवि न होते हुए भी उससे असम्पृक्त नहीं, और क्योंकि वह भी ठोस और यथार्थ है अतः उसका भी वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण संभव है। साहित्यिक एवं बाह्य जगत के अन्तर को समझना वस्तुतः वस्तुओं की 'आन्तरिक अन्विति' और उनके फलन

१. येल्मस्लेव एण्ड उलडाल—पूर्वोद्धृत पृ० ७-८।
२. रोमन याकोब्सन—'लिंग्विस्टिक्स एण्ड पायेट्री', संकलित 'स्टाइल एण्ड लैंगुएज' पूर्वोद्धृत पृ० ३५६।

को समझना है जिसे हम अभिव्यक्ति शैली के माध्यम से ही जान सकते हैं, कम-से-कम कविता में उसका पता लगाने का और कोई साधन नहीं। अगर यह ठीक है कि विज्ञान और साहित्य का अन्तर, अभिव्यक्ति-भेद का अन्तर है अथवा वह अन्तर जो भी हो उसे अभिव्यक्ति के आधार पर ही समझा जाना संभव है तो इसमें भी सन्देह नहीं कि साहित्य के अध्ययन के लिए उस कार्य-प्रणाली एवं टेकनीक को अपनाया जा सकता है जो विज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित है।

: ३ :

अगर यह सही है कि वैज्ञानिक आलोचना का अर्थ साहित्य के अध्ययन, एवं विश्लेषण के उस वैज्ञानिक टेकनीक से है जिसे आलोचक एक कार्य-प्रणाली के रूप में अपनाता है और इसके साथ अगर यह भी ठीक है कि इस वैज्ञानिक कार्य-प्रणाली का विस्तार, साहित्य के क्षेत्र तक किया जाना असंभव नहीं, तब यह देख लेना भी अनुचित न होगा कि इस वैज्ञानिक कार्य-प्रणाली की आधारभूत मान्यताएँ क्या हैं? इसमें सन्देह नहीं कि इस वैज्ञानिक कार्य-प्रणाली का यहाँ विस्तार से परिचय नहीं दिया जा सकता और न उसके सभी पक्षों का उद्घाटन ही संभव है। अतः आधुनिक विज्ञान के प्रचलित उन सिद्धान्तों की ओर ही संकेत देकर संतोष करना होगा जो इस कार्य-प्रणाली के स्वरूप को निर्दिष्ट करने में निर्णायक सिद्ध हैं। इनमें कुछ की ओर नीचे संकेत दिया जा रहा है :

१. तथ्यों का विवरण प्रचलित मान्यता के आधार पर नहीं देना चाहिए, भले ही वह मान्यता कितनी ही प्राचीन एवं परम्परा अनुमोदित क्यों न हो। हमारी निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण शक्ति की संगति ही एकमात्र वस्तुवादी विवरण का आधार बन सकती है।

२. विज्ञान उन सभी प्रश्नों को उठाने एवं उनका हल देने का प्रयत्न नहीं करता जिनका उत्तर देना संभव नहीं। वह अपने क्षेत्र को उसी सीमा तक सीमित रखता है जो उसकी पहुँच के भीतर है।

३. ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ना, अज्ञात से ज्ञात की ओर बढ़ने से कहीं अधिक तर्कसंगत है। अतः पहली ही पद्धति अधिक वैज्ञानिक है।

४. उद्देश्य (पर्पज़) का प्रश्न विज्ञान के स्तर पर अर्थहीन है अतः वैज्ञानिक पद्धति 'मूल्यों' के सवाल को अपनी सीमा क्षेत्र से बाहर की वस्तु मानती है।

अगर सतही दृष्टि से देखें तो इनका कोई सम्बन्ध साहित्य के अध्ययन के साथ दिखाई नहीं पड़ता पर अगर आलोचना को कार्य-प्रणाली के रूप में स्वीकार किया गया तो इसका सीधा सम्बन्ध उस कार्य-प्रणाली से है। अपितु कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यह आलोचनात्मक पद्धति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में सक्षम है।

उदाहरण के लिए 'रस-सिद्धांत' को ही लें। भरतमुनि के अनुसार कोई भी काव्यार्थ रस-हीन होना ही नहीं चाहिए (न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते)। पर

क्या हम इस सिद्धांत को इसलिए साहित्य का शाश्वत नियम मान लें कि उसका शास्त्रीय एवं तर्कसंगत रूप भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में मिलता है, और उसकी सत्ता को परिवर्ती भारतीय आचार्यों ने स्वीकार किया है ? अगर हमारी पर्यवेक्षण शक्ति इस तथ्य की ओर संकेत देती है कि उपन्यास, कहानी आदि गद्य-साहित्य की आधुनिक विधा की तो बात छोड़ें, आधुनिक कविता का भी विश्लेषण उसके आधार पर संभव नहीं प्रतीत होता (आज रस-सिद्धांत का सबल उद्घोष करने वाले भारतीय विद्वानों ने अपने सिद्धांत की कसौटी पर आधुनिक साहित्य को कसने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया) तब भी क्या हम इस सिद्धांत की सार्वकालिकता पर प्रश्न-चिह्न न लगाएँ ? वैज्ञानिक सिद्धांत का सत्य वस्तुतः कार्य-प्रणाली का सत्य होता है जिसे प्रयोग की कार्य-क्षमता के आधार पर नापा जाता है। अगर प्रयोग एवं व्यवहार के आधार पर उसकी सीमा निर्धारित होती है तो उस सीमा को सिद्धांत के स्तर पर भी स्वीकार करना होगा। अमेरिका के विख्यात आधुनिक दार्शनिक जॉन डेवी के अनुसार तो विज्ञान की प्रगति का रहस्य ही एकमात्र इस सिद्धांत को अपनाने में है।[1]

रस का अर्थ माना जाता है आस्वाद्य—"आस्वाद्यत्वाद्रसः।" काव्य की आत्मा रस है और काव्य-रस का स्वाद लिया जाता है जैसे भोज्य एवं पेय पदार्थों का स्वाद हम लेते हैं। अन्तर है तो केवल इतना कि काव्य-रस लौकिक न होकर अलौकिक होता है, वह ब्रह्मानन्द सहोदर होता है। इसकी उत्पत्ति मन की एक विशेष स्थिति में ही संभव है जिसे पण्डित केशवप्रसाद मिश्र ने 'मधुमती भूमिका' कहा है। अर्थात चित्त की उस स्थिति में ही रसानुभूति सम्भव है जहाँ वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। रस अगर केवल आस्वाद्य है तो वह स्वयं अनुभूति है, अनुभूति का विषय नहीं। "वस्तुतः रस उत्पन्न होता है, ज्ञात नहीं कराया जाता। रस ज्ञाप्य है ही नहीं।"[2]

वैज्ञानिक आलोचना, वस्तुतः अपने कार्यक्षेत्र को वहीं तक सीमित रखती है जहाँ तक उसका अध्ययन-विश्लेषण वह सम्भव समझती है। (दूसरी मान्यता), वह उन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने के लिए सचेष्ट होती है जो उसकी ज्ञान-परिधि के भीतर हैं। और यही कारण है कि पहले अन्तर्मुखी पर्यवेक्षण की पद्धति को अपनाया जाता था।[3] आज का वैज्ञानिक उन तत्वों को अपनी पद्धति का उपकरण नहीं बनाता जो मात्र अन्तर्मुखी पर्यवेक्षण के आधार पर निश्चित किया गया हो। वह उन तमाम स्थितियों को अपने कार्यक्षेत्र से अलग कर देता है, जिसकी सत्ता

१. बी० रसेल—दी इम्पैक्ट ऑफ़ साइन्स ऑन सोसायटी, लंदन (१९५२), पृ० ९९-१००।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—रस-मीमांसा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा (सं०२००१), पृ० ४८।
३. विलियम जेम्स—दि प्रिंसिपल्स ऑफ़ साइकॉलोजी; होल्ट न्यूयार्क (१८९०), खण्ड १, पृ० १८५।

ज्ञाप्य न हो, जिसको समझा जाना अभी सम्भव न हो।[1] वैज्ञानिक प्रणाली चेतना, मन, अनुभूति के आधार पर अतः वस्तुओं के विश्लेषण की ओर प्रवृत नहीं होती।[2] रस अगर आस्वाद्य मात्र है, अनुभूति का विषय न होकर मात्र अनुभूति है, तो इसका अध्ययन भी वैज्ञानिक प्रणाली के सीमाक्षेत्र से बाहर है।

रहा प्रश्न उद्देश्य का। विज्ञान 'उद्देश्य' की चर्चा नहीं उठाता। सूर्य की सत्ता का उद्देश्य प्रकाश देना है—इस कथन को अगर किसी वैज्ञानिक को कहना होगा तो वह मात्र यह कहेगा—सूर्य की सत्ता है और वह प्रकाश देता है। पर सूर्य की सत्ता क्यों है—इस प्रश्न के उत्तर के लिए वह प्रयत्नशील न होगा। बाइबिल में यह कहा गया है कि चंद्रमा की उत्पत्ति ही इसीलिए हुई कि वह रात में रोशनी दे, लेकिन कोई भी वैज्ञानिक, चाहे वह कितना ही धार्मिक क्यों न हो, वह इस व्याख्या को इस रूप में स्वीकार नहीं करेगा। इसी उद्देश्य के साथ 'मूल्य' का भी प्रश्न जुड़ा है। साहित्य और विज्ञान का आधारभूत अन्तर ही यह माना गया है कि एक मूल्य-सापेक्ष होता है और दूसरा मूल्य-निरपेक्ष। पर उद्देश्य एवं मूल्य के प्रत्यय को अपनाना क्या भविष्य की पहले कल्पना करना और फिर उसके उपरान्त उसके आधार पर 'विगत' (भूत) को समझने का प्रयास करना नहीं है ? लेकिन स्पष्ट है—विगत-घटनाओं के आधार पर भविष्य की संभावना का संकेत कहीं अधिक न्यायसंगत है न कि भविष्य के आधार पर भूत का निर्माण।

अतः यह निर्देश देना कि अच्छी कविता अपने 'अनुभूतियोग' के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह करती है, अथवा साहित्य का मुख्य धर्म भावनाओं का परिष्कार है—साहित्य के संदर्भ में उद्देश्य एवं मूल्यों का संकेत मात्र करना है। साहित्य के सन्दर्भ में इन मूल्यों की चर्चा केवल परम्परावादी आलोचक ही नहीं उठाते। मनोविज्ञान की शैली में कविता की व्याख्या करने वाले प्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक रिचर्ड्स भी कविता को मूल्य-सापेक्ष मानते हैं यद्यपि वह भी स्वीकार करते हैं कि "कविता क्या कहती है यह मुख्य बात नहीं, मुख्य तो यह है कि वह क्या है।"[3] कविता का इसके बावजूद उद्देश्य होता है और वह है—अनुभवों के प्रति सन्तलित वृत्ति का निर्माण।[4] (रिचर्ड्स के इस मूल्य-वादी सिद्धान्त की आलोचना वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर कई आलोचक कर चुके हैं।)[5]

१. बी० एल० फ़ैरेल—'एक्सपीरिऐंस', माइण्ड ५९ (१९५०), प० १९४।
२. जे० जेड० यंग—डाउट एण्ड सर्टेनिटी इन साइन्स, ऑक्सफ़ोर्ड (१९५१), पृ०१५६।
३. आई० ए० रिचर्ड्स—साइन्स एण्ड पोयेट्री, १९२६।
४. सी० के० आग्डेन एण्ड आई० ए० रिचर्ड्स—दि मीनिंग ऑफ़ मीनिंग, लंदन (१९४९)।
५. देखिये, मैक्स ब्लैक—'ए सिम्पोजियम ऑन इमोटिव मीनिंग,' 'सम रवेश्चन अबाउट इमोटिव मीनिंग', 'दि फ़िलासोफ़िकल रिव्यू', मार्च (१९४८), पृ० १११-१२६।

कविता को मूल्यों के संदर्भ में देखना वस्तुतः उसकी स्वतन्त्र सत्ता (ऑटोनोमी) से इनकार करना है। स्वतन्त्र सत्ता से मेरा मतलब है कि कविता को न तो कवि के उस अभिप्राय (इंटेंशन) के आधार पर जाँचा-परखा जा सकता है जिसे लेकर वह अपनी कृति की रचना करता है और न पाठकों पर पड़े प्रभाव के संदर्भ में ही उसकी उचित व्याख्या की जा सकती है। होता यह है कि रचना को अपने 'होने' की स्थिति में पहुँचने के पहले तक जिस अभिप्राय को लेकर रचनाकार आगे बढ़ता है, सृजनात्मक प्रक्रिया से गुजरने के बाद उसका रूप ही बदल जाता है और कभी-कभी तो उसमें इस सीमा तक गुणात्मक भेद आ जाता है कि अभिप्राय का अन्तिम रूप जो कविता में प्रतिफलित होता है वह अपने पूर्व रूप के ठीक विरोध में आ खड़ा होता है। अतः मुख्य यह नहीं कि कवि क्या कहना चाहता है वरन महत्वपूर्ण यह है कि कविता क्या कहती है क्योंकि आलोचक का धर्म कविता का अध्ययन-विश्लेषण करना है न कि कवि के व्यक्तित्व अथवा मानस का। इसी प्रकार 'प्रभाव' के आधार पर साहित्य का विश्लेषण, वस्तुतः पाठकों की रुचि-अभिरुचि के विश्लेषण का प्रश्न पहले बन जाता है और इसके बाद कृति का। लेकिन जब मैं कविता की स्वतन्त्र सत्ता की माँग करता हूँ तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि पूरे काव्य-व्यापार की स्थिति से इनकार करना चाहता हूँ। काव्य-व्यापार का क्षेत्र तो समाज एवं जगत, कवि, कविता और पाठक तक फैला होता है, पर कविता का वास्तविक क्षेत्र तो स्वयं कृति है, जो स्वयं में ठोस और यथार्थ है, जिसका पूरा अपना संसार भाषा और शैली के दायरे के बीच सिमटा रहता है।

साहित्य का कोई उद्देश्य होता है या नहीं अथवा कविता मूल्य-सापेक्ष होती है या नहीं, इस पर संघटनात्मक (स्ट्रक्चरल) आलोचक अपना कोई अन्तिम निर्णय नहीं देता, देना भी नहीं चाहता। वह तो वैज्ञानिकों की पद्धति अपनाते हुए मात्र यह कहना चाहता है कि साहित्य का, किसी भी कलाकृति का, उद्देश्य या मूल्यों के सन्दर्भ में अध्ययन-विश्लेषण का विचार स्वयं में उपयोगी नहीं। कोई वस्तु क्या है और वह क्या करती है, इसकी विवेचना को तो वैज्ञानिक दृष्टि अपने भीतर समेटती है पर वह वस्तु 'क्यों' है, उसकी सत्ता किस 'उद्देश्य' को लेकर है, इन प्रश्नों को अपने सीमाक्षेत्र से बाहर ही रखती है। अमेरिका के प्रसिद्ध कवि-आलोचक रैन्सम ने प्राचीन और आधुनिक कविता का अन्तर बतलाते हुए कहा है कि अब तक का समाज और आलोचक कवि को सौन्दर्य-स्रष्टा के साथ-साथ नैतिक उपदेशक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक नेता और धार्मिक प्रचारक के रूप में स्वीकार करता आया है और कवि भी इस माँग की पूर्ति के उद्देश्य से अपनी रचना भी करता रहा है, पर आज का कवि, आधुनिक भी इसीलिए है कि उसने इस आडम्बर को अपने कृतित्व से उतार फेंका है।[1] और अगर यह सही है तो आज की आलो-

१. जे० सी रैन्सम—'पोयेट्स विदाउट लॉरिन्स' संकलित 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन अमेरिका' सं० एल्बर्ट डी० वान स्ट्रैन्ड, न्यूयार्क (१९५७), पृ० २७५।

चना को तटस्थ वैज्ञानिक पद्धति को ही अपनाना होगा जो अपनी कार्य-प्रणाली में विवरणात्मक है न कि नियम-निर्देशात्मक।

आज का विज्ञान यह मानता है कि विश्लेषण-पद्धति में हमें ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ना चाहिए न कि अज्ञात से ज्ञात की ओर। (तीसरी मान्यता) अतः साहित्य-विश्लेषण में रस अथवा भावनाओं के संतुलन के लक्ष्य के चरम-बिन्दु से चलकर, साहित्यिक शैली से होते हुए भाषा तक पहुँचना वैज्ञानिक पद्धति नहीं, वरन ठीक इसके विपरीत भाषा को आधार बनाकर काव्य-शैली का निरूपण-विश्लेषण और उसके पश्चात कृति के फलन की ओर बढ़ना अधिक तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक होगा। साहित्य के ज्ञात पक्ष के रूप में भाषा का स्वरूप ही सर्वथा सामने आता है अतः साहित्यिक कृति की आलोचना की शुरुआत भी इसी स्तर से करना श्रेयस्कर होगा।

ध्यान देने की बात है कि पहले के कवि-आलोचक भी अपनी रचनाओं के मूल में भाषा को स्थान देते रहे हैं। पर उनके लिए भाषा मात्र उपकरण थी और वह भी कविता या काव्य-फलन का नहीं वरन कविता के किसी विशेष अंग का विशेष उपकरण। उदाहरण के लिए सिडनी के अनुसार कवि भाषा का उपयोग इसलिए करता है कि वह वस्तु-पक्ष को हृदयग्राही बना सके, सामान्य जीवन के वे अंश जो बिना शंका के ग्रहण नहीं हो सकते, उसे संशयहीन ढंग से काव्यपरक भाषा के सहारे सम्प्रेषित किया जा सके। ड्रायडन के अनुसार भाषा का उपयोग उस तत्व को 'जीवन्त' बनाने मात्र में है जिसे हमारा ज्ञान और पर्यवेक्षण-शक्ति 'सत्य' के रूप में स्वीकार कर चुका है। कालरिज के लिए भाषा का महत्व उसकी कल्पना-शक्ति के लक्ष्य की पूर्ति का साधन रहा है और शैली के मतानुसार भाषा उसकी रचनात्मक कल्पना का केवल महत्वपूर्ण साथी एवं सहयोगी है।[1] लेकिन आज का कवि भाषा को कविता के केवल माध्यम के रूप में ही स्वीकार नहीं करता। वह इससे आगे बढ़कर यह भी कह सकता है कि 'कविता भाषा की ही एक विधा है।'[2] वह कविता को शैली के रूप में देखता है और शैली को 'नामं' से अलग हटी हुई भाषा की स्थिति-विशेष मानता है (पाल वैलरी)[3]। वह आज कविता में प्रयुक्त शब्दों के इर्द-गिर्द चक्कर लगाकर यह सुनना चाहता है कि खुद में वे शब्द क्या बोलते हैं।[4] अतः अब आलोचक भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि कविता, भाषा का ही एक विशेष रूप है।[5] विशेष रीति से व्यवस्थित भाषा ही

१. डेविड डेइचिज—पूर्वोद्धृत पृ० १५८-६।
२. जे० सी० रैन्सम—'दि वर्ल्ड्स बॉडी' (१९३८) उद्धृत 'लैन्गुएज एण्ड स्टाइल', पृ० १५४।
३. स्टिफ़ेन उल्मान—'लैंगुएज एण्ड स्टाइल', आक्सफ़ोर्ड (१९६४), पृ० १५४।
४. डब्ल्यू० एच० आडेन—'स्वैस एण्ड आब्लांज', उद्धृत 'क्रिटिकल एप्रोचेज टु लिटरेचर', पृ० १५६।
५. रोमन याकब्सन—लिंग्विस्टिक्स एण्ड पोयेट्री उद्धृत 'स्टाइल इन लैंगुएज', पृ० ३७७।

शैली-विशेष है।[1]

अगर कविता भाषा की ही एक शैली विशेष है तो निश्चित रूप से यह भी कहा जा सकता है कि उसकी वैज्ञानिक आलोचना, भाषा-विज्ञान के क्षेत्र से बाहर नहीं। यह बात दूसरी है कि आलोचना का यह क्षेत्र-विशेष, भाषाविज्ञान के उस स्तर को छूता है जो वाक्य के विश्लेषण तक ही अपनी प्रगति कर सका है और दूसरी ओर साहित्य के उस क्षेत्र का स्पर्श करता है जो 'कम्पोज़िशन' के बिन्दु से ऊपर की ओर उठता है। वाक्य और 'कम्पोज़िशन' को एक में मिलाने वाले 'स्ट्रक्चर' की कल्पना वस्तुतः भाषा-विज्ञान के एक विशेष क्षेत्र की स्थापना करता है जिसे आज 'शैलीविज्ञान' (स्टाइलिस्टिक्स) कहा जाता है। आज की आलोचना की वैज्ञानिक पद्धति, मात्र यह शैलीविज्ञान ही हो सकता है।

१. व० न० तोपोरोव—'भाषाविज्ञान एवं काव्यशास्त्र की समीक्षा' (रूसी में)। 'रूपवादी टाइपोलॉजिकल विश्लेषण', (मास्को) (१९६२), पृ० २६४।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नयी भूमिका

"भाषा के काव्य-फलन के प्रति बधिर भाषावैज्ञानिक और भाषावैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषावैज्ञानिक प्रणालियों से अपरिचित साहित्यशास्त्री, दोनों ही समान रूप से अपने समय से बहुत पीछे हैं।"

—रोमन याकोब्सन : भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र

आज के आलोचना साहित्य को देखने-पढ़ने के बाद इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि साहित्य का अध्ययन करने वाले मर्मज्ञ समीक्षक और भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले विद्वान भाषावैज्ञानिक, एक दूसरे के दायित्व क्षेत्र से बहुत दूर जा छिटके हैं। साहित्यिक आलोचक और भाषावैज्ञानिक के बीच संवाद की कोई स्थिति ही नहीं दिखलाई पड़ती। हिन्दी भाषा और साहित्य के संदर्भ में तो इनके बीच इतनी गहरी खाई आ चुकी है कि अगर कोई साहित्य का क्षेत्र अपना लेता है तो भाषाविज्ञान का सामान्य ज्ञान भी उसे अनावश्यक बोझ प्रतीत होता है और अगर कोई अपने कार्य-क्षेत्र के रूप में भाषाविज्ञान को स्वीकार कर बैठता है तो बोल-चाल की भाषा से असम्बद्ध होने के कारण साहित्य को अपनी सीमा में अपनाने से ही इनकार कर बैठता है। हिन्दी में एक ओर साहित्य के ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने साहित्यसिद्धांत पर बहुत कुछ लिखा है पर अपनी आलोचना एवं विवेचना में भाषावैज्ञानिक उपलब्धियों का कुछ भी न तो उपयोग किया और न उसके आधार पर आलोचना को वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया तो दूसरी ओर ऐसे भाषाविद हैं जिन्होंने भाषा की रूप-प्रकृति को समझने-समझाने का तो प्रयत्न किया, पर उस ज्ञान का उपयोग साहित्यिक रचनाओं के अध्ययन-विश्लेषण के निमित्त नहीं किया। एक ही 'अनुशासन' के भीतर से 'दो संस्कृतियों' के बीच की बढ़ती खाई की समस्या का प्रश्न अगर विचारणीय है तब भाषा और साहित्य के अध्ययन-क्षेत्र के दुराव का प्रश्न आज सबसे अधिक हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

इस दुराव का कारण हिन्दी के विद्वानों का अपना प्रमाद और अज्ञानता ही है। साहित्यकार यह भूल जाता है कि साहित्य के सन्दर्भ में वह जिन आन्तरिक मूल्यों एवं रसानुभूति की चर्चा उठाता है उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम एकमात्र भाषा का विशिष्ट प्रयोग ही है। इसमें सन्देह नहीं कि अगर साहित्य से भाषा का आधार हटा दीजिए तो रचना का पूरा प्रासाद ही भरभरा कर नीचे आ गिरेगा। मौखिक साहित्य में यह स्थिति अत्यंत स्पष्ट है। लिखित साहित्य में टाइपोग्राफ़ी का प्रयोग प्रभावोत्पादकता के लिए किया जाता है पर सम्पूर्ण रचना को ध्यान में रखने पर भाषा की अपनी शैली की तुलना में उसका महत्व नहीं के बराबर प्रतीत होता है। इसी प्रकार भाषावैज्ञानिकों के हाथ से यह बात छूट जाती है कि उनका कार्य-क्षेत्र

किसी भाषा के बोलचाल रूप के अध्ययन-विश्लेषण तक ही सीमित नहीं होता। भाषा का प्रत्येक रूप और उसकी प्रत्येक शैली उनके अध्ययन की तथ्य-सामग्री हो सकती है और साहित्यिक भाषा, किसी भाषा की एक विशिष्ट बोली (डायलेक्ट) के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अगर साहित्यिक भाषा, बोलचाल की भाषा की ही एक शैली-विशेष है और भाषाविज्ञान का क्षेत्र भाषा के प्रत्येक रूप के अध्ययन को अपने भीतर समेटता है तो इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य का अध्ययन भी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से करना सम्भव है। यह बात दूसरी है कि इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य होना अभी बाक़ी है।

दृष्टि, कार्य-प्रणाली और पारिभाषिक शब्द-प्रयोगों में विभिन्नता होते हुए भी साहित्यिक आलोचना और भाषावैज्ञानिक अध्ययन में कुछ स्तरों पर समानता और लक्ष्य में एकरूपता देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए, अगर हम तुलसी-साहित्य की आलोचना अथवा उनके साहित्य के भाषावैज्ञानिक अध्ययन की ओर प्रवृत्त होते हैं तो दोनों ही स्थितियों में पहले हमारी दृष्टि उनकी रचनाओं की पाठसामग्री पर पड़ती है। पर दोनों ही स्थितियों में 'पाठसामग्री' का विवेचन, अध्ययन का अन्तिम लक्ष्य नहीं बनता। आलोचक और भाषावैज्ञानिक, दोनों ही 'पाठसामग्री' के भीतर निहित 'पैटर्न' और 'संघटना' (स्ट्रक्चर) को ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं, दोनों ही 'संघटना' का निर्माण करने वाले अंगों में विभिन्न स्तरों पर पाये जाने वाले अन्तस्सम्बन्धों का पता लगाने की कोशिश करते हैं। साहित्यिक और भाषावैज्ञानिक पैटर्न का योग साहित्यिक कृति में कुछ इस प्रकार रहता है कि दोनों एक दूसरे के समरूप न होकर भी एक दूसरे के संरचना के पूरक के रूप में सिद्ध रहते हैं। एक दूसरे के पूरक (कम्प्लीमेण्टेशन) की स्थिति ने आज के विद्वानों को यह भली भाँति बता दिया है कि एक के अभाव में दूसरे का उचित ज्ञान सम्भव ही नहीं।

खेद की बात है कि साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत शैली के सन्दर्भ में अगर भाषा-शैली का विवेचन हुआ भी, तो उसे मात्र साहित्यिक भाषा की शैली तक ही सीमित रखा गया। साहित्यिक भाषा और उसकी शैली पर ही केवल अपना ध्यान केन्द्रित करने वाले आलोचकों ने साहित्यिक भाषा को एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में मान्यता दी। वे भूल गये कि साहित्यिक भाषा, बोलचाल की सामान्य जीवन्त भाषा का ही एक विशेष रूप है अतः उसको समझने के लिए आवश्यक है कि उसे बोलचाल की भाषा के सन्दर्भ में देखा जाये। उदाहरण के लिए, हम कविता की ही भाषा को लें। निश्चय ही कविता में प्रयुक्त भाषा का वाक्य-गठन सामान्य भाषा में प्रयुक्त वाक्य-गठन के 'स्ट्रक्चर' से भिन्न होता है। अगर व्याकरण की दृष्टि से देखें तो कई स्तरों पर काव्य-भाषा, उस भाषा के सामान्य नियमों का अतिक्रमण करती पायी जाती है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि काव्यभाषा का अपना वाक्य-गठन होता है, उसकी भाषा का अपना स्ट्रक्चर होता है। पर इस वाक्यगठन और काव्यभाषा के अन्य स्तरों पर पाये जाने वाले 'स्ट्रक्चर' को क्या हम एक 'नयी'

भाषा का रूप-विधान मान लें? काव्यभाषा के रूपविधान को सामान्य भाषा के 'नार्म' से हटी शैली के रूप में देखना क्या उचित नहीं होगा? क्या काव्यभाषा का 'पैटर्न', सामान्य भाषा के 'पैटर्न' की ही एक विशेष स्थिति में, विशेष प्रभाव के लिए प्रयुक्त 'उपश्रेणी' नहीं है?

अगर यह सही है कि साहित्यिक भाषा का 'पैटर्न' वस्तुतः एक विशेष लक्ष्य-सिद्धि के लिए प्रयुक्त सामान्य भाषा के 'नार्म' की ही एक 'उपश्रेणी' है तब इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं कि भाषा के स्तर पर साहित्यिक शैली का विवेचन मात्र साहित्य तक सीमित नहीं किया जा सकता, उसे सामान्य भाषा के 'पैटर्न' के सन्दर्भ में ही देखना होगा। भाषाविज्ञान का प्रमुख क्षेत्र ही भाषा के 'पैटर्न' की खोज है। अब तो यह भी कहा जा सकता है कि आज का भाषावैज्ञानिक केवल सामान्य भाषा के ही 'पैटर्न' की खोज नहीं करता वरन भाषा की उन सभी शैलियों के 'पैटर्न' की खोज को अपना विषय बनाता है जो उस भाषा से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध है। अतः भाषाविज्ञान ने शैलीविज्ञान की जिस शाखा को अपना अध्ययनक्षेत्र स्वीकार किया है वह वस्तुतः भाषा की समस्त सम्भावनाओं एवं अभिव्यक्ति के सभी रूपों को अपने भीतर समाहित करती है। यह बात दूसरी है कि इस क्षेत्र के भीतर आज प्रमुख स्थान साहित्यिक भाषा के शैली-विधान को दिया जा रहा है पर महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि उसका क्षेत्र अब मात्र साहित्यिक भाषा की शैली तक ही सीमित नहीं रह गया है, वह अभिव्यक्ति के स्तर पर भाषा की समस्त सम्भावना और क्षमता के अध्ययन तक अपना विस्तार पा चुका है।

सच तो यह है कि किसी साहित्यिक कृति के सन्दर्भ में उसके वस्तु एवं अभिव्यक्ति पक्ष के अन्तस्सम्बन्धों को सही रूप में न समझने के फलस्वरूप ही भाषा की महत्ता का हम ठीक से आकलन नहीं कर पाये हैं, दूसरी बात यह है कि हमारी आलोचनात्मक दृष्टि का सीधा और गहरा सम्बन्ध इस तथ्य से भी है कि हम साहित्य को किस रूप में स्वीकार करते हैं। साहित्य के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण, निश्चय ही उसकी आलोचनात्मक पद्धति को प्रभावित करता है। अतः आवश्यक है कि आलोचनात्मक दृष्टि की विवेचना के पूर्व हम यह देखें कि मोटे तौर पर साहित्य के प्रति आलोचकों की अपनी धारणा क्या रही है। इस धारणा का सीधा सम्बन्ध साहित्य की रूपगठन-सम्बन्धी मान्यता से है और इसी रूपगठन का मुख्य आधार है साहित्य का अभिव्यक्ति पक्ष, जिसका साँचा भाषा के आधार पर निर्मित होता है।

उदाहरण के लिए, आलोचकों का एक समुदाय साहित्य का सम्बन्ध सीधे लोक-जीवन के अनुभवों के साथ जोड़ता है। इनकी मान्यता है कि 'काव्यदृष्टि कहीं तो १. नरक्षेत्र के भीतर रहती है, २. कहीं मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और ३. कहीं समस्त चराचर के।' (शुक्ल : ८) अर्थात साहित्य और कुछ नहीं, जीवन एवं प्रकृति की वास्तविकता पर घनीभूत के उद्घाटन का माध्यम है। इस मान्यता

के अनुसार साहित्य की लक्ष्य सिद्धि स्वयं साहित्य के भीतर निहित नहीं रहती। साहित्य तो मात्र एक माध्यम है एक विशेष लक्ष्यसिद्धि का, भले ही वह सिद्धि 'हृदय-प्रसार' हो, 'लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा' हो अथवा 'अनुभवों के प्रति सन्तुलित वृत्ति का निर्माण' हो। आलोचकों का दूसरा समुदाय साहित्य को प्रतीकों के आपसी आत्यन्तिक सम्बन्धों के आधार पर गठित सौन्दर्यशास्त्रीय संघटना की अपने में ही पूर्ण एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में अपनाता है। 'काव्य में विषय से अधिक टेकनीक पर ध्यान देने की आवश्यकता को जब अनुभव किया गया' तो वस्तुतः इस दिशा में प्रयोगकर्ता कवि को तमाम उसकी उद्घोषणाओं के बावजूद मात्र 'राही अथवा राहों के अन्वेषी' मान लेना उनकी साहित्यिक प्रक्रिया की सही भूमिका से इनकार करना होगा। वस्तुतः वे इसके द्वारा कृति में अपना नया अर्थ भरने का प्रयत्न कर रहे थे। कहाँ तक अपनी लक्ष्य-पूर्ति में वे सफल हो सके, यह बात दूसरी है। नया आलोचक वस्तुतः 'अपने नये अर्थ' को साहित्य के दायरे के भीतर ही पाना चाहता था। वह साहित्य को मात्र माध्यम नहीं मानता था, साहित्यिक कृति उसके लिए साहित्य के बाहर स्थित लक्ष्यसिद्धि का कोई उपकरण—भले ही वह कितना ही विशिष्ट क्यों न हो—नहीं रहा। इन नये आलोचकों के अनुसार साहित्य की सिद्धि, आत्यन्तिक मूल्यों (टर्मिनल वैल्यूज) की अलग, विशिष्ट और अपने में पूर्ण संसार की सृष्टि है। वास्तविक संसार और आत्यन्तिक मूल्यों के सहारे निर्मित संसार दो भिन्न इकाइयाँ हैं। पहले संसार का अनुभववोध हमें भाषा के सामान्य प्रयोग द्वारा होता है जबकि आत्यन्तिक मूल्यों के सहारे निर्मित संसार, पूरा का पूरा साहित्यिक कृतियों के दायरे में बँधे होने के कारण भाषा की एक विशिष्ट (साहित्यिक) शैली के माध्यम द्वारा ही जाना-पहचाना जा सकता है।

साहित्य-सम्बन्धी इन दो आलोचनात्मक दृष्टियों के आधार पर कविता की भाषा की कार्य-सिद्धि पर भी प्रकाश डाला जा सकता है। जो आलोचक, कविता की लक्ष्यसिद्धि को स्वयं कविता के बाहर मानते हैं उनके लिए कविता की भाषा खिड़की के उस पारदर्शी शीशे के समान है जिसके सहारे वे बाह्य जीवन को देखते, समझते और उसका अनुभव करते हैं। पर जो कविता की लक्ष्यसिद्धि को स्वयं कविता के भीतर ही स्थित मानते हैं उनके लिए कविता की भाषा विभिन्न कोणों से काटे गये दर्पण के उस 'सेट' के समान है जिसमें बाह्य जीवन की प्रतिच्छवि एक गुणात्मक भेद के साथ अनन्त रूप से प्रतिबिम्बित होती रहती है पर अन्ततः प्रतिच्छवि होने के कारण, उसके यथार्थ की सत्ता उसी दर्पण में बँधी होती है।

साहित्य-सम्बन्धी इन दो मान्यताओं में सामंजस्य स्थापित करने वाला आलोचकों का एक तीसरा समुदाय भी है जो साहित्य की भाषा को एक साथ 'दर्पण का सेट' और 'खिड़की का पारदर्शी शीशा' दोनों ही स्वीकार करता है। साहित्यकार, शैली निर्माण की दृष्टि से तो शब्दों का नियोजन विभिन्न कोणों से

काटे गये दर्पण की एक विशेष व्यवस्था एवं क्रम के रूप में करता है पर सृजनात्मक प्रक्रिया के सम्पन्न होते-होते दर्पण का यह सेट साहित्यिक रचना और बाह्य जीवन के सन्दर्भ में अन्ततः खिड़की के पारदर्शी शीशे में बदल जाता है। इस तीसरे मत के समर्थक हैं—मुरे क्रेयगर (१९६४:३), जिनकी धारणा है कि साहित्य की भाषा को, खिड़की का पारदर्शी शीशा और 'दर्पण का सेट' मानने वाली पद्धतियाँ क्रमशः पूर्व-नव्य-समीक्षा (प्रि न्यू क्रिटिसिज्म) और 'नव्य-समीक्षा' की आलोचना-प्रणाली से सम्बद्ध हैं जबकि उनकी पद्धति अत्याधुनिक है और वह 'नव्य-समीक्षा' से आगे की प्रणाली का विकास करती है।

ध्यान देने की बात है कि क्रेयगर प्रभृति विद्वान आलोचक यह भूल जाते हैं कि कोई वस्तु 'क्या है' और वह कौन-सा 'कार्य' सम्पादित करती है, आपस में सम्बद्ध होते हुए भी दो विभिन्न क्षेत्रों के प्रश्न हैं। 'क्या है'—प्रश्न, वस्तु की अपनी बनावट और संरचना के उत्तर की अपेक्षा रखता है जबकि 'कार्य-सम्पादन' उस वस्तु की कार्य-क्षमता (पोटेन्शियलिटी) पर आधारित होता है। यह ठीक है कि वस्तु की कार्यक्षमता की सीमा वस्तु की संरचना से सीधे सम्बन्धित है, पर वस्तु अपने में एक स्वतन्त्र इकाई होती है जबकि वस्तु का उपयोग करने वाला, उस वस्तु से भिन्न दूसरी इकाई होता है जो उन तमाम सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए स्वतन्त्र है जो वस्तु अपनी विशेष संरचना के कारण उसे प्रदान करती है। इसी सम्भावना के आधार पर वह उसकी कार्यक्षमता का पता लगाता है और अपनी आवश्यकता के अनुसार किसी विशेष दिशा में उनका उपयोग करती है। (ध्यान दें, मैंने वस्तु के उपयोग की बात न उठाकर उसकी कार्यक्षमता की चर्चा उठाई है।) उदाहरण के लिए 'अणु' (एटम) क्या है? इस प्रश्न का सम्बन्ध अणु की संरचना से है। अणु की संरचना का ज्ञान उसकी कार्यक्षमता का पता तो देता है पर किसी विशेष दिशा में उसका प्रयोग—अणुबम जैसे घातक शस्त्र भी बने हैं और शान्ति-दूत के रूप में उसके सहारे एलेक्ट्रानिक यन्त्र भी—किसी अन्य के माध्यम से होता है। जिस प्रकार विज्ञान का अपना क्षेत्र, 'अणु' की संरचना और उसकी कार्यक्षमता तक ही सीमित है अर्थात वह अपने क्षेत्र में रखकर केवल इसी प्रश्न के उत्तर को देना उचित समझता है कि वस्तु क्या है, ठीक उसी प्रकार साहित्य की आलोचना का अपना क्षेत्र भी वस्तुतः कृति की संरचना एवं कार्यक्षमता को लेकर है, न कि वह वस्तु क्या करती है अथवा उस वस्तु का उपयोग क्या है।

इस दृष्टि से देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि जो आलोचक साहित्य अथवा उसकी भाषा को 'पारदर्शी शीशे' के समान मानते हैं, जिसके माध्यम से हम बाह्य जीवन और जगत को और भी गहराई से देखने में सफल होते हैं, वस्तुतः 'वस्तु (साहित्य) क्या है' के प्रश्न के उत्तर न देने के कारण वे साहित्य के अपने क्षेत्र से बाहर चले जाते हैं और उनकी आलोचना भी साहित्येतर हो उठती है। और यही कारण है कि आलोचना के आगे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक आदि

विशेषण लगाने की उन्हें आवश्यकता प्रतीत होती है। यहाँ पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि 'रस' को लेकर साहित्य की जो आलोचना की जाती है वह भी साहित्येतर आलोचना है क्योंकि वह भी कृति की संरचना अथवा कार्यक्षमता के विवेचन को अपना आधार नहीं बनाती वरन कृति के 'उपयोग' को अपनी दृष्टि में रखकर साहित्य का मूल्यांकन करती है। और जो आलोचक, साहित्य और भाषा को एक साथ 'पारदर्शी शीशा' और 'दर्पण का सेट' दोनों स्वीकार करते हैं—उनके सामने कृति की संरचना और उस कृति के उपयोग का भेद स्पष्ट नहीं होता और न वे साहित्य की 'कार्यक्षमता' और उसके उपयोग में ही सूक्ष्म अन्तर स्थापित कर पाते हैं।

: २ :

अगर साहित्य की आलोचना का अपना क्षेत्र साहित्यिक रचनाओं की संरचना और उस संरचना के सन्दर्भ में उसकी कार्यक्षमता को समझने और पता लगाने तक सीमित है तो निश्चय ही आलोचना को जिस कार्य-प्रणाली को अपनाना होगा, उसका स्वरूप विवरणात्मक और संघटनात्मक (स्ट्रक्चरल) होगा। विवरणात्मक पद्धति द्वारा आलोचक संरचना का विवरण प्रस्तुत करेगा और संघटनात्मक पद्धति द्वारा उस संरचना के भीतर 'पैटर्न' को ढूँढ़ कर उसकी कार्यक्षमता की ओर संकेत देगा। आज के भाषाविज्ञान की सबसे बड़ी उपलब्धि वस्तुतः भाषा-विश्लेषण के सन्दर्भ में व्याकरण के नियम-निर्देशात्मक (प्रेस्क्रिप्टिव) के स्थान पर उसके विवरणात्मक और संघटनात्मक पद्धति को विकसित करने में है। जो पद्धति सामान्य भाषा के विश्लेषण के लिए प्रयुक्त होगी, कार्य-प्रणाली के रूप में वह भाषा के साहित्यिक रूप पर भी लागू की जा सकती है और अगर प्रणाली वैज्ञानिक है तो निश्चित ही उसका विस्तार शैली के हर क्षेत्र तक सम्भव हो सकता है। 'कार्य-प्रणाली' के रूप को लेकर साहित्यविश्लेषण के क्षेत्र में भाषाविज्ञान की यह महत्वपूर्ण देन है।

शैली और संघटना ये दो ऐसे मूल प्रत्यय हैं जो भाषाविज्ञान और साहित्यिक आलोचना को सन्धिस्तर पर ला खड़ा करते हैं। दोनों क्षेत्र अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि किसी वस्तु, चाहे वह भाषा हो अथवा साहित्य, की संघटना कुछ मूल तथ्यों (आइटम्ज़) के सामान्य समूह से कहीं कुछ भिन्न अर्थ रखती है। दोनों अपनी विषयवस्तु अथवा कविता को मूलतः 'गेस्टाल्ट' की एक विशेष विधा के रूप में ग्रहण करते हैं। इस विधा के निर्माण में कुछ भौतिक तथ्यों (फिज़िकल आइटम्ज़) का योग रहता है और जो आपस में स्थिर अन्तस्सम्बन्धों की एक विशेष पद्धति में इस प्रकार बँधे होते हैं कि उस पद्धति से हटकर जब वे भौतिक तथ्य संयुक्त होते हैं तब पहले की 'पूर्ण इकाई' का स्वरूप बदल जाता है अथवा वह इकाई ही टूट कर छिन्न-भिन्न हो जाती है। यह स्थिति जितनी वाक्य पर लागू होती है उतनी ही कविता पर। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री हॉकेट का तो यहाँ तक

कहना है कि 'विश्लेषण की जिस प्रक्रिया और पारिभाषिक शब्दों के जिस प्रत्यय-बोध को छोटे स्तर पर भाषावैज्ञानिक अपनाता है इस दिशा में उसका उपयोग अब साहित्यिक आलोचक भी संघटना के बड़े स्तर पर करने लगा है। लेकिन इसके बावजूद स्थिति यह है कि इन दो विषयवस्तुओं—भाषा और साहित्य, वाक्य और कविता—के सन्धिक्षेत्र का अध्ययन अभी नहीं के बराबर हुआ है।' (हॉकेट, १९५८:५५७)

उक्त कथन प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक हॉकेट का है जिन्होंने भाषा और साहित्य के सन्धिक्षेत्र के अध्ययन की प्रगति पर सन् १९५८ में अपना वक्तव्य दिया था। पर इस बीच उक्त क्षेत्र को लेकर कम से कम ३०० स्वतन्त्र निबन्ध अब तक मात्र अँग्रेजी भाषा में प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त कई लेख रूसी, चेक, जर्मन और फ्रेंच भाषाओं में भी मुझे देखने को मिले। स्वतन्त्र निबन्धों के अतिरिक्त मोनोग्राफ़ और पुस्तकों के रूप में भी इस दिशा में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। ध्यान देने की बात है कि ये सभी विवेचन मात्र सैद्धान्तिक नहीं, व्यावहारिक रूप में एमिली डिकिन्सन (श्लाख, १९६३), सैमुएल जान्सन (विम्सैट, १९६३), लिओ ताल्सताय की (लैस्सकिस १९६२) साहित्यिक रचनाओं के विश्लेषण के रूप में प्रयुक्त भी हो चुके हैं। ब्राउनिंग की प्रसिद्ध छोटी कविता—'पीपा पासेस' का संघटनात्मक विश्लेषण, उस कविता के सौन्दर्य के उद्घाटन में कितना सहायक हो सकता है—इसका परिचय हिल (१९५६:५१-५६) द्वारा की गई उसकी विवरणात्मक आलोचना से जाना जा सकता है।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है—भाषावैज्ञानिक आलोचना एक व्यापक स्तर पर उसे ग्रहण करती है। शैली भाषा का मात्र अलंकरण नहीं। यह ठीक है कि शैली अभिव्यक्ति की एक प्रणाली है पर उसे यह कहकर कि वह साधन है, साध्य नहीं अथवा अर्थ के निकल जाने के पश्चात जो 'तत्व' भाषा की सजावट के लिए शेष बचता है उस रूप में ग्रहण कर, वस्तुतः शैली के मूल प्रयोजन से ही हम अलग हट जाते हैं। उदाहरण के लिए हम अलंकार को ही लें जो शैली का एक विशिष्ट अंग है। (ध्यान रहे स्वयं शैली नहीं) शुक्ल जी का कथन है कि 'अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हो (जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में) चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में (जैसे अप्रस्तुत प्रशंसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध इत्यादि में) चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में (जैसे अनुप्रास में) लाए जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष के साधन के लिए।' एक दूसरे स्थल पर वे अपनी बात को और भी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'किसी वस्तु-विशेष से किसी अलंकार-प्रणाली का सम्बन्ध नहीं हो सकता। किसी तथ्य तक वह परिमित नहीं रह सकती। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस व्यवस्था का विषय है।' और अब यह स्पष्ट हो चुका है कि अलंकार प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु नहीं, बल्कि वर्णन करने की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास-खास ढंग हैं।

स्पष्ट है कि शुक्ल जी वर्णन करने की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ अथवा

कहने के ढंग को विषयवस्तु के साथ जोड़कर नहीं देखना चाहते। लेकिन शैली के सन्दर्भ में जिस अभिव्यक्ति-भेद को शैलीविज्ञान अपने सामने रखता है—उसे वह विषयवस्तु अर्थात 'अर्थ' से असम्पृक्त कर नहीं देखता। शैली वस्तुतः अर्थ-विस्तार की सूक्ष्म मर्यादा का निर्माण करती है, वह टेक्सचर अथवा मुख्यार्थ के साथ एक गौण अर्थ का सृजन करती है। शैली का अध्ययन केवल अभिव्यक्ति के स्तर पर करना उचित नहीं। उसे 'अण्डरटोन' की तरह प्रतिध्वनित 'द्वितीय अर्थ' के रूप में भी मानना होगा अन्यथा साहित्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में उसकी सत्ता सन्दिग्ध ही मानी जायेगी (वर्डसले, १९५८)। जब हम भाषाशैली की चर्चा उठाते हैं तब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हम भाषा की अभिव्यक्ति प्रणाली की ओर संकेत दे रहे हैं जो शब्दों के माध्यम से 'क्या' कहा जा रहा है के साथ संघटनात्मक स्तर पर पूरी तरह से गुँथा होता है। विम्सैट का तो यहाँ तक कहना है कि 'भाषा शैली का मुख्य क्षेत्र 'अर्थ' ही है लेकिन इस दिशा में अर्थ के दो विशिष्ट स्तरों को ठीक से पहचान लेना चाहिए—प्रमुख अर्थ और फिर छाया अथवा 'इको' की तरह ध्वनित द्वितीय अर्थ (विम्सैट, १९५८:२०१-२)।' शैली का सम्बन्ध वस्तुतः इस दूसरे स्तर के अर्थ से रहता है।

अगर वर्णन करने की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ, अर्थ के स्तर पर वस्तुपक्ष के साथ इस प्रकार गुम्फित रहती हैं कि वे द्वितीय अर्थ (सेकण्डरी मीनिंग) को छाया के साथ उद्भासित करती हैं, तब स्पष्ट है कि अर्थ के इस अण्डरटोन 'गूंज' को जानने-पहचानने का रास्ता अभिव्यक्ति प्रणाली की संघटना का ही हो सकता है। उदाहरण के लिए कविता की शैली-विधा को ही लें, जहाँ 'अंडरटोन' का व्यापक प्रसार रहता है। आखिर कवि इस 'अंडरटोन' की सृष्टि कैसे करता है? अथवा पाठक इसका पता कैसे पाता है? निश्चय ही कविता में प्रयुक्त भाषा संघटना के माध्यम से। कविता में भाषा का स्वरूप ठीक वैसा ही नहीं रहता जैसा भाषा के बोलचाल के सामान्य रूप में। पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि कविता की भाषा को समझा किस आधार पर जाये? अगर हम यह मानते हैं कि कवि, एक विशिष्ट भाषा-शैली का प्रयोग करता है तब उसकी 'विशिष्टता' को किसी 'सामान्य' के अतिक्रम के रूप में ही तो परखा जा सकता है। 'विशिष्ट' और 'सामान्य' सापेक्षिक प्रत्यय हैं और 'सामान्य' का परिचय सहजसाध्य है अतः 'विशिष्टता' को 'सामान्य' के सन्दर्भ में ही देखकर समझा जाना अपेक्षित है।

भाषा का सामान्य रूप बोलचाल की भाषा होती है। अतः कविता की भाषा-शैली की विशिष्टता को सामान्य बोलचाल की भाषा के 'स्ट्रक्चर' के अतिक्रम (डिविएशन) के रूप में ही देखना होगा। अरस्तू ने बहुत पहले कविता के आधारभूत तत्व के रूप में इस अतिक्रम की ओर संकेत दिया है। प्राग स्कूल ने इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण अध्ययन पिछले दशक में प्रस्तुत किया है। लेविन (१९६५, २२५-३७) तो इस अतिक्रम को कविता के बाह्य और आन्तरिक, दोनों

ही स्तर पर स्वीकार करते हैं। पर प्रश्न तो यह है कि कविता के इस अतिक्रम को समझने की कोई भाषावैज्ञानिक पद्धति भी है? कविता की एक विशिष्ट भाषा-शैली भाषा के सामान्य स्ट्रक्चर में भली भाँति बँध नहीं पाती और उससे अलग एक अन्य स्ट्रक्चर का निर्माण करती है, तो उसको समझा कैसे जाये? अगर हम यह कहें कि कविता की भाषा का अपना स्ट्रक्चर होता है जो सामान्य भाषा के व्याकरण की परिधि के बाहर है, और फिर यह मान लें कि व्याकरण का अतिक्रमण करने के लिए कवि को छूट है, तो वस्तुतः हम प्रश्न और उत्तर को एक गोलाई में घुमाकर इस प्रकार उन्हें आमने-सामने खड़ा कर देते हैं कि हर उत्तर फिर अपने लिए स्वयं प्रश्न बन जाता है।

इस समस्या का समाधान करने की कोशिश चॉम्स्की (१९५६) और उनके सहयोगियों ने की है। कविता की भाषा-शैली को समझने के लिए उन्होंने व्याकरणिकता के स्तर-भेद की कल्पना को सामने रखा। उदाहरण के लिए हिन्दी के निम्नलिखित वाक्यों को लीजिए :

१. (अ) लड़का अँधेरे से डरता है।
   (आ) अँधेरा लड़के से डरता है।
२. (अ) अँधेरा लड़के को डराता है।
   (आ) लड़का अँधेरे को डराता है।

पढ़ते ही स्पष्ट अनुभव होता है कि १ और २ का (अ) वाक्य, उसके (आ) की तुलना में अधिक व्याकरण-सम्मत है यद्यपि वाक्यगठन की दृष्टि से दोनों हिन्दी के अपने पैटर्न के अनुरूप हैं। उदाहरण के लिए क्रम २ का (अ) और (आ) दोनों हिन्दी के कर्ता+कर्म+क्रिया के अनुसार गठित हैं। लेकिन व्याकरणिक सघनता की भावना को हम कहीं अधिक स्पष्ट कर सकते हैं अगर संज्ञा को हम प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक, दो समूहों में विभाजित कर उसकी अन्विति क्रिया के रूप-भेद से जोड़ें। उदाहरण के लिए एक तरफ तो हम संज्ञा को लड़का (प्राणिवाचक) और अँधेरा (अप्राणिवाचक) विभाजित कर दें और दूसरी ओर 'डर' के दो रूप डरना (अकर्मक) और डराना (सकर्मक) में बाँट दें। (हिन्दी में 'डरवाना' के रूप में प्रेरणार्थक क्रिया का भी प्रयोग होता है)।

संज्ञा { प्राणिवाचक संज्ञा १
       अप्राणिवाचक संज्ञा २

क्रिया { अकर्मक क्रिया १
       सकर्मक क्रिया २

हिन्दी का अपना वाक्य गठन—संज्ञा फ्रेज+क्रिया फ्रेज को हम संज्ञा+संज्ञा+क्रिया के पैटर्न पर गठित मान सकते हैं। इस दृष्टि से ऊपर दिये चारों वाक्य समान रूप से व्याकरणिक हैं। पर संज्ञा और क्रिया के ऊपर दिये विभाजन के अनुरूप लिखें तो उसका स्वरूप होगा :

१. (अ) संज्ञा १ + संज्ञा २ + क्रिया १
(आ) संज्ञा २ + संज्ञा १ + क्रिया १
२. (अ) संज्ञा २ + संज्ञा १ + क्रिया २
(आ) संज्ञा १ + संज्ञा २ + क्रिया २

इस दृष्टि से अगर हम १ और २ क्रम के (अ) वाक्य को अधिक व्याकरणिक अनुभव करते हैं तब यह कहा जा सकता है कि संज्ञा १ + संज्ञा २ + क्रिया १ और संज्ञा २ + संज्ञा १ + क्रिया २ अधिक व्याकरणिक हैं और उनकी तुलना में संज्ञा २ + संज्ञा १ + क्रिया १ और संज्ञा १ + संज्ञा २ + क्रिया २ कम व्याकरणिक। इस फार्मूला को और भी सटीक बनाया जा सकता है अगर हम कुछ और वाक्यों को इस सन्दर्भ में लें। उदाहरण के लिए इन दो वाक्यों को देखें—लड़का पिता से डरता है, और लड़का मां को डराता है। पहला वाक्य अकर्मक क्रिया होने के कारण पहले खण्ड और दूसरा सकर्मक क्रिया के प्रयोग के कारण दूसरे खंड में रखा जा सकता है। ये दोनों वाक्य व्याकरणिक सघनता की दृष्टि से (अ) श्रेणी के हैं अतः समान फार्मूले को निकालने के लिए इन्हें समान स्तर पर रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए :

१. (अ) $\frac{\text{क}}{\text{संज्ञा १}} + \frac{\text{ख}}{\text{संज्ञा २}} + \frac{\text{ग}}{\text{क्रिया १}}$ (लड़का अँधेरे से डरता है।)
(ई) संज्ञा १ + संज्ञा १ + क्रिया १ (लड़का पिता से डरता है।)
२. (अ) संज्ञा २ + संज्ञा १ + क्रिया २ (अँधेरा लड़के को डराता है।)
(ई) संज्ञा १ + संज्ञा १ + क्रिया २ (लड़का माँ को डराता है।)

अगर खण्ड १ के (अ) और (ई) के वाक्यों के खाने (स्लॉट) क, ख, और ग को देखें, तो स्पष्ट हो जाता है कि खाना क और ग दोनों समान हैं पर खाना ख में संज्ञा २ भी आ सकता है और संज्ञा १ भी। अतः इस स्थान पर मात्र संज्ञा लिखा जाना सम्भव है। अतः खण्ड १ का फ़ार्मूला बनेगा :

संज्ञा १ + संज्ञा + क्रिया १

इसी प्रकार खण्ड २ का फार्मूला होगा :

संज्ञा + संज्ञा १ + क्रिया २

कविता में अगर वाक्यों का गठन सामान्य भाषा के गठन से भिन्न मिलता है (अँधेरा लड़के से डरता है और लड़का अँधेरे को डराता है—ऐसे वाक्य कविता में सम्भव हैं) तो उसे सामान्य भाषा के 'नार्म' से अतिक्रम ही कहा जायेगा। इसी प्रकार के वाक्य हैं—पेड़ गीत गा रहे हैं, हवा सीटी बजा रही है, समय भागता है आदि। व्याकरणिक सघनता की दृष्टि से ऐसे वाक्य अपेक्षाकृत कम व्याकरणिक हैं और कविता की भाषा-शैली के स्तर पर भाषा की एक उपश्रेणी का निर्माण करते हैं। इस उपश्रेणी को उस भाषा का 'सब-पैटर्न' कहा जा सकता है। ध्यान दें कि ये सब-पैटर्न, वस्तुतः अर्थस्तर पर अण्डरटोन की भी सृष्टि करते हैं। अगर ऐसे वाक्यों में अकर्मक क्रिया उद्देश्य के रूप में हमेशा प्राणिवाचक संज्ञा के साथ ही

अन्विति स्थापित करती है तब सब-पैटर्न में प्राणिवाचक के स्थान पर अप्राणिवाचक संज्ञा का प्रयोग स्वयमेव निर्जीव में सजीव व्यक्तित्व के आरोपण का निमित्त बन जायेगा। साहित्य में मानवीकरण (परसोनीफ़िकेशन) का सिद्धान्त भी यही है। अँधेरा डरता है—वाक्य में डरता क्रिया की अन्विति अँधेरे (अप्राणिवाचक संज्ञा) से है—जबकि हम देख चुके हैं कि सामान्य भाषा के 'नार्म' के अनुसार उसकी अन्विति प्राणिवाचक संज्ञा के साथ होनी चाहिए। पर अगर ऐसा वाक्य कविता में प्रयुक्त होने के कारण भाषा का एक सब-पैटर्न बनाने में सक्षम है तो प्राणिवाचक संज्ञा के स्थान पर प्रयोग करने के कारण मात्र से 'अँधेरे' में सजीव व्यक्तित्व का आरोपण हो जाता है। 'अँधेरा' एक सजीव प्राणी की भाँति सिद्ध हो उठता है जो बच्चे से डरता है। इसमें दोनों भाव निहित हो सकते हैं—अँधेरा, निर्बल प्राणी है जबकि बच्चा, सबल। पर अण्डरटोन के रूप में यह भी ध्वनित होता है कि बच्चा बहुत बहादुर है क्योंकि वस्तुतः डरना तो बच्चे को चाहिए (सामान्य भाषा के रूप में उसका प्रयोग होगा—बच्चा अँधेरे से डरता है) पर वह ऐसा बहादुर है कि न केवल वह नहीं डरता है पर स्वयं जिससे उसे भय खाना चाहिए वह स्वयं उससे डरता है। वाक्य-रचना के आधार पर साहित्यिक विशेषताओं को समझने की दिशा में यह एक दृष्टान्त है। वैसे वाक्यरचनाविज्ञान के अतिरिक्त ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान, अर्थविज्ञान आदि कई स्तरों पर भी साहित्यिक विशिष्टताओं का उद्घाटन सम्भव है।

व्याकरणिक सघनता के सिद्धान्त पर भाषा का विश्लेषण करने वाले विद्वान, कविता की भाषा को किसी कृत्रिम भाषा के रूप में ग्रहण नहीं करते। भाषा का यह रूप भी वस्तुतः भाषा की एक शैली है जो एक विशेष दिशा में एक विशेष सिद्धि के लिए प्रयुक्त होती है। जब वह भाषा की एक शैली है तब उसका अध्ययन भाषाविज्ञान के क्षेत्र का विषय है। इस आधार पर उनका विश्लेषण, कविता के क्षेत्र में भाषाविज्ञान का प्रयोग (एप्लीकेशन) नहीं वरन भाषाविज्ञान के क्षेत्र का प्रसार है जो भाषा के सामान्य रूप के साथ-साथ कविता की भाषा को भी अपने अध्ययनक्षेत्र के भीतर अन्तर्भुक्त करता है। मातृभाषाभाषी के दैनिक जीवन में प्रयुक्त सामान्य वाक्यों को आधार बनाकर ही किसी भाषा का अब तक व्याकरण लिखा जाता रहा है और इसीलिए साहित्य (कविता) की भाषा को व्याकरणिक नियमों का अपवाद स्वरूप मानकर उसके विश्लेषण की ओर ध्यान नहीं दिया गया। इसका मुख्य कारण यह रहा है कि कविता की भाषा, सामान्य भाषा के 'नार्म' का अतिक्रम रूप होने के कारण किसी प्रकार सामान्य 'पैटर्न' में ठीक से खप नहीं पा रही थी। उसका अपना अलग ही एक 'पैटर्न' था। अगर भाषा के प्रत्यय के रूप में हम उन सभी उच्चारणाओं (अटरेन्सेज़) को स्वीकार करेंगे जो उस भाषा के मातृ-भाषा-भाषी विभिन्न कार्य-सिद्धियों के लिए प्रयोग में लाते हैं तब निश्चय ही अब तक का व्याकरण, 'एकरूप स्ट्रक्चर' (यूनीफ़ायेड स्ट्रक्चर) के अनुरूप नहीं। वोयेगलिन (१९६०) के अनुसार व्याकरण की रूप-प्रकृति सिद्धान्ततः

एकरूप-स्ट्रक्चर पर आधारित होनी चाहिए और यह तभी सम्भव है जब व्याकरण अपने क्षेत्र के भीतर अकाव्यात्मक (कैजुअल) वाक्यों के साथ-साथ काव्यात्मक (नॉन-कैजुअल) वाक्यों को भी अपने विश्लेषण का आधार बनाये और इस प्रकार व्याकरण को एकरूप स्ट्रक्चर का रूप दे। एकरूपस्ट्रक्चर के निर्माण की दिशा में इधर कुछ महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं जिनमें लेविन (१९६४) और थार्न (१९६५) का प्रयत्न सराहनीय है।

सवाल यह है कि साहित्य को देखने की भाषावैज्ञानिक दृष्टि क्या है? आज का भाषावैज्ञानिक किसी साहित्यिक कृति को किस रूप में स्वीकार करता है? आधुनिक भाषाविज्ञान की पहली मान्यता है कि कोई भी साहित्यिक कृति चाहे वह उपन्यास हो या महाकाव्य अथवा कहानी हो या गीतकाव्य, वस्तुतः उसी भाषापरक उच्चारण (अटरेन्सेज) के दायरे में सीमित रहती है जो मनुष्यों की भाषा का निर्माण करते हैं। इस सीमा-क्षेत्र के भीतर ही कोई कृति अपना जन्म ले सकती है। इसके बाहर न तो उसकी सत्ता होती है और न उसकी सम्भावना ही है। साहित्य 'शाब्दिक कला' है और उसकी रूप-प्रकृति समझने में उसके 'शाब्दिक' पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अन्य भाषा-क्रिया की भाँति साहित्यिक कृति भी मूलतः भाषा-क्रिया (लैंग्वेज ऐक्ट) है जो अपनी कुछ विशिष्टताओं के आधार पर व्यापक भाषा-क्रिया की एक उप-श्रेणी का निर्माण करती है। अतः भाषा-विज्ञान की दूसरी मान्यता यह है कि जिस प्रकार अन्य भाषा-क्रियाएँ स्वयं में यथार्थ हैं जिसका अस्तित्व ठोस रूप में बाह्य संसार में रहता है, उसी प्रकार भाषा-क्रिया का ही एक रूप होने के कारण साहित्यिक कृति की भी सत्ता 'ठोस' और 'यथार्थ-पूर्ण' है जिसका विश्लेशण वैज्ञानिक स्तर पर सम्भव है। इसकी तीसरी मान्यता है कि अगर साहित्यिक कृति ठोस और यथार्थपूर्ण है तो उसकी भी संघटना का पता लगाना सम्भव है। साहित्यिक आलोचना का वैज्ञानिक अर्थ साहित्य विश्लेषण है अतः साहित्यिक कृति के 'स्ट्रक्चर' का पता लगाने का अर्थ है उस कृति की संरचना को सही रूप में समझना। इसकी चौथी मान्यता यह है कि साहित्यिक कृति भी व्यापक रूप में भाषा-क्रिया ही है जो अपनी (साहित्यिक) विशिष्टताओं के फलस्वरूप एक उपश्रेणी का निर्माण करती है, अतः इस उपश्रेणी की अपनी विशिष्टताओं का उद्घाटन भाषा-क्रिया के व्यापक रूप के सन्दर्भ से ही सम्भव है। इसकी पाँचवीं प्रमुख मान्यता है (जो ऊपर दी गयी चार मान्यताओं की ही स्वाभाविक परिणति है) कि जब साहित्यिक कृति का विश्लेषण करने के लिए भाषावैज्ञानिक प्रवृत्त होता है तो उसके लिए साहित्यिक विशिष्टताओं का ज्ञान आवश्यक है और इसी प्रकार जब आलोचक किसी साहित्यिक रचना के अध्ययन की ओर उन्मुख होता है तो उसे भाषावैज्ञानिक प्रणाली की सही जानकारी भी उतनी ही जरूरी है अर्थात आज की आलोचना की नयी भूमिका ही ऐसी है जो साहित्यिक आलोचक से साहित्यिक विशेषता और भाषावैज्ञानिक प्रणाली, दोनों के ही ज्ञान की समुचित अपेक्षा रखती है।

काव्यभाषा और शैलीविज्ञान

आज का कवि, कविता को भाषा की ही एक विधा मानने लगा है और आलोचक भी यह स्वीकार करने लगा है कि कविता, भाषा का ही एक विशेष रूप है। दूसरी ओर यह भी स्पष्ट करने की कोशिश की जाने लगी है कि साहित्यिक जगत, बाह्य जगत की प्रतिच्छवि न होते हुए भी उससे असम्पृक्त नहीं और क्योंकि वह ठोस एवं यथार्थ है अतः उसका भी वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण संभव है। साहित्यिक एवं बाह्य जगत के अन्तर को समझना वस्तुतः वस्तुओं की 'आन्तरिक अन्विति' और उसके 'कार्य-फलन' को समझना है जिसे हम अभिव्यक्ति शैली के माध्यम से जान सकते हैं, कम से कम कविता में उसका पता लगाने का और कोई साधन नहीं।

'कविता, भाषा का ही एक विशेष रूप है'—इस कथन को दो सन्दर्भों में ग्रहण किया जा सकता है। एक तो यह कि कविता की भाषा के अतिरिक्त भी अपनी सत्ता है, वह 'स्वनिष्ठ' (ऑटोनोमस) है। पर साहित्य अगर शाब्दिक कला (वर्बल-आर्ट) है, तो कविता को समझने का माध्यम भी भाषा ही है। उस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि कविता की भाषा का अध्ययन अपने में साध्य नहीं। वह साधन रूप ही है जो कविता को समझने और ग्रहण करने के लिए समर्थ माध्यम प्रदान करता है।

लेकिन इस 'माध्यम' को कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाले माध्यम से भिन्न समझना चाहिए। उदाहरण के लिए चित्रकला में प्रयुक्त होने वाले 'रंग' अथवा मूर्तिकला में माध्यम के रूप में ग्रहण किये जाने वाले 'पत्थर' की प्रकृति से भिन्न और कहीं अधिक विशिष्ट प्रकृति भाषा की है जो कविता में साधन रूप में प्रयुक्त होने के बावजूद 'साध्य' को बहुत दूर तक नियन्त्रित-संचालित करती है। रंग और पत्थर तभी कलात्मक स्वरूप ग्रहण करते हैं जब वे कलाकृति में संश्लिष्ट हैं। कलाकृति से अलग वे सामान्य स्थूल उपादान मात्र हैं। अपने में न तो वे संस्कृति के अंग हैं और न परम्परा के वाहक। अतः रंगों की अपनी प्रकृति और पत्थरों की अपनी बनावट के वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले रसायन-शास्त्री या भूगर्भ-शास्त्री जब किसी कलाकृति का विश्लेषण करने चलते हैं तब भी वे रंगों और पत्थरों की बनावट और विशिष्टता ही बता पाते हैं, उनकी दृष्टि स्थूल उपादान से आगे बढ़ ही नहीं पाती।

पर कविता के माध्यम के रूप में जिस भाषा को अपनाया जाता है, उसकी स्थिति चित्रकला और मूर्तिकला में प्रयुक्त होने वाले रंगों और पत्थरों की स्थिति

से भिन्न है। पहला तथ्य तो यह है कि कलाकृति से हटकर रंग और पत्थर, प्रवृत्यात्मक (डाइरेक्टेड) नहीं होते, वे अपनी ओर से कलाकार को 'निर्देश' नहीं देते। वे अपने प्रकृत-रूप में स्थिर एवं निष्क्रिय होते हैं। गत्यात्मक और सक्रिय बनाने का कार्य एकमात्र कलाकार करता है, अतः इन कलाकृतियों में जिस लय एवं संगीतात्मकता का हम अनुभव करते हैं, जिस गत्यात्मक और सक्रिय स्पन्दन की हमें अनुभूति होती है वह कलाकृति की आन्तरिक संरचना का परिणाम है। ठीक इसके विपरीत भाषा, यद्यपि कविता में माध्यम के रूप में ग्रहण की जाती है पर उसकी प्रकृति प्रवृत्यात्मक होती है, वह कवि को 'निर्देश' भी देती है। वह प्रकृत-रूप में स्थिर और निष्क्रिय न होकर गत्यात्मक और सक्रिय होती है। भाषा स्वयं में जीवन्त होने के कारण अपना विशिष्ट दबाव डालती है। कवि जब भाषा को माध्यम के रूप में अपनाता है तब उसे इस प्रवृत्यात्मक दबाव के साथ भाषा को स्वीकार करना पड़ता है।

दूसरा तथ्य यह है कि भाषा स्वयं संस्कृति का एक अंग और परम्परा का वाहक है। अगर किसी देश का साहित्य उस देश की संस्कृति एवं परम्परा के साथ जुड़ा है तो उस साहित्य के माध्यम के रूप में प्रयुक्त भाषा का भी गहरा सम्बन्ध संस्कृति एवं परम्परा के साथ स्वयंसिद्ध है। भाषा संस्कृति का एक विशिष्ट अंग है। वह संस्कृति का स्थूल उपादान न होकर उसकी सक्रिय शक्ति है। भाषा और संस्कृति में एक अटूट सम्बन्ध है—इससे इनकार नहीं किया जा सकता, पर इसके आन्तरिक सम्बन्ध को स्थूल रूप में ग्रहण करने पर अनेक भ्रान्तियाँ फैलने की भी सम्भावना हो सकती है। उदाहरण के लिए, यह कथन सही है कि किसी भाषा को उसके बोलने वालों की संस्कृति से अलग कर अथवा किसी जातीय संस्कृति को उसकी भाषा के सन्दर्भ से काट कर सही ढंग से नहीं समझा जा सकता। पर इसके साथ यह कहना कि विभिन्न संस्कृतियाँ, विभिन्न भाषाओं की माँग करती हैं अथवा जितनी विभिन्न भाषाएँ होंगी उतनी ही भिन्न संस्कृतियाँ होंगी—तर्कसंगत नहीं। भारतवर्ष स्वयं इसका उदाहरण है। यहाँ नितान्त असम्बद्ध भाषाएँ, एक संस्कृति की पुष्टि करती हैं और यह भी देखा जा सकता है कि एक ही परिवार की दो सम्बन्धित भाषाएँ नितान्त भिन्न दो संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। यद्यपि इंग्लैण्ड, अमरीका और आस्ट्रेलिया में एक ही भाषा (अँग्रेज़ी) बोली जाती है पर इसमें सन्देह हो सकता है कि इन देशों की संस्कृति एक नहीं।

एक अन्य आधार पर भी भाषा अन्य कला-क्षेत्रों के उपादानों से अपने को अलग कर लेती है। कलाकृति से अलग रहकर रंग और पत्थर स्थूल एवं अव्यवस्थित रूप में रहते हैं और किसी कलाकृति में उपादान रूप में प्रयुक्त होते समय भी, 'कलात्मकता' रंगों और पत्थरों के आयाम में बँधी होकर भी, उनके अपने गुणों से मुक्त रहती है। लेकिन कविता के माध्यम के रूप में जिस भाषा को कवि अपनाता है वह न तो स्थूल है और न अव्यवस्थित ही। भाषा अभिव्यक्ति के ध्वनि-स्तर पर भी विशेष व्यवस्था की माँग करती है और प्रतीक स्तर पर विशेष व्यवस्था

की अपेक्षा रखती है। अपनी इसी व्यवस्था के आधार पर एक भाषा अन्य भाषाओं से भिन्न होती है। दूसरी ओर 'काव्यात्मकता' न केवल भाषा के आयाम में बँधी होती है वरन बहुत दूर तक भाषा की अपनी संरचना और अपने गुणों द्वारा नियन्त्रित भी होती है। काव्यात्मकता अपने माध्यम से मुक्त होकर सिद्ध रह ही नहीं सकती क्योंकि काव्यात्मक संरचना पूरी तरह से भाषा में अन्तर्भुक्त होती है।

कविता में भाषा को 'काव्यात्मकता' के हेतु, माध्यम के रूप में जब कवि अपनाता है तो 'काव्यात्मकता' अन्त तक अपने को अपने माध्यम से मुक्त नहीं कर पाती। कवि कविता की रचना करता है, वह अपने 'संसार' का सृजन करता है। पर यहाँ दो स्थितियाँ सम्भव हैं। गीतात्मक (लिरिकल) कविताओं में जिस 'संसार' का कवि सृजन करता है, वह सम्भव है अनुभूति के किसी विशेष क्षण तक ही सीमित हो जिसको व्यावहारिक दृष्टि से 'स्पेस' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। और अगर सिद्धांत के रूप उसे 'स्पेस' मान भी लें तो वह ऐसे नुकीले बिन्दु पर केन्द्रित होती है जिसके आयाम को निश्चित नहीं किया जा सकता। एक दूसरी भी स्थिति हो सकती है जहाँ आयाम और वस्तुएँ 'स्पेस' का निर्माण करती हैं, जहाँ कवि अपने 'संसार' का सृजन करता है—जैसे महाकाव्यों, गीति-नाट्यों आदि में।

दोनों ही स्थितियों में जहाँ अनुभूति नुकीले बिन्दु पर केन्द्रित होकर आयाम-मुक्त होती है और जहाँ अनुभवों के अपने नये संसार का सृजन होता है, भाषा का सम्बन्ध अनुभूति और अनुभवों के साथ बना रहता है। क्योंकि व्यक्ति की विशिष्ट से विशिष्ट अनुभूति भाषा के रंगों से मुक्त नहीं होती और दूसरी ओर भाषा, अनुभवों का रीति-पक्ष है। भाषा के माध्यम से ही हम अपने अनुभवों का साधारणीकरण करते हैं और इस साधारणीकरण के माध्यम से ही उसे दूसरे तक सम्प्रेषण करते हैं। अतः सामान्यीकृत अनुभवों से अलग हटे अनुभवों को भी हम जान-पहचान पाते हैं तो भाषा के ही माध्यम से। पर यह अवश्य है कि तब भाषा का स्वरूप सामान्य स्वरूप न होकर विशिष्ट हो जाता है। सामान्य से अलग हटकर जिस विशिष्ट भाषा का प्रयोग कवि करता है, वही भाषा की काव्यात्मक शैली कही जाती है। अनुभव के कथ्य-पक्ष और भाषा के रूप में उसके रीति-पक्ष के बीच लचीला पर अटूट सम्बन्ध होता है। यह उसी का परिणाम है कि अनुभव के कथ्य पक्ष की विशिष्टता उसके रीति-पक्ष में भी विशिष्टता लाने को बाध्य करती है। अनुभव के कथ्य पक्ष और उसके रीति-पक्ष का यह सम्बन्ध कलाकृति के माध्यम के रूप में केवल भाषा में ही देखा जा सकता है। अन्य माध्यमों में उनके सम्बन्धों के बीच न तो ऐसा अटूट सम्बन्ध ही देखा जा सकता है और न ऐसा लचीला संयोग ही।

सच तो यह है कि काव्य और रीति-पक्ष के बीच पाये जाने वाले अटूट और लचीले सम्बन्ध ही कविता के आलोचकों से भाषावैज्ञानिक ज्ञान की माँग करते हैं। जब 'काव्यात्मकता' अन्त तक अपने को अपने माध्यम (भाषा) से मुक्त नहीं कर सकती और जब भाषा की अपनी व्यवस्था को समझने के लिए एक 'विज्ञान'

है, तब यह तर्कसंगत है कि उस विज्ञान का प्रयोग काव्यात्मकता का पता लगाने और उसको समझने के लिए भी किया जाये।

इस प्रकार कविता की साहित्यिक आलोचना के साथ भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध है। भाषा के माध्यम से ही 'काव्यात्मकता' का पता लगाया जा सकता है और भाषा के अध्ययन का प्रत्येक क्षेत्र भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। पर यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि साहित्यिक आलोचना और भाषा-विज्ञान एक-दूसरे के क्षेत्र को काटते भले ही हों और वे एक-दूसरे के लिए पूरक ही क्यों न हों, वे लक्ष्य-भेद के कारण अपने अलग क्षेत्र को निर्दिष्ट करते हैं। कविता को समझने और काव्यात्मकता का पता लगाने में भाषाविज्ञान सहायक हो सकता है पर 'कविता' या 'साहित्य' अपनी संरचना को लेकर स्वतन्त्र (ऑटोनोमस) है।

आलोचना और भाषाविज्ञान के सम्बन्ध को लेकर दो अतिवादी दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। पहले मत के अनुसार कविता की आलोचना वस्तुतः वहाँ से शुरू होती है जहाँ भाषावैज्ञानिक अध्ययन अपनी सीमा-रेखा खींचता है। इस मत के मानने वालों में कविता की भाषावैज्ञानिक समीक्षा की उपयोगिता के अनुपात में विभिन्नता मिल सकती है—पर विचार-रूप में मूलतः वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'काव्यात्मकता' का पता मात्र भाषावैज्ञानिक पद्धति से नहीं लगाया जा सकता। उदाहरण के लिए रेने वेलेक (१९६०) के अनुसार शैलीविज्ञान कविता की संरचना को समझने में सहायक हो सकता है, उसकी संघटना के विश्लेषण में वह मदद दे सकता है, पर वह आलोचना का एक अंग है, पूरी साहित्यिक आलोचना नहीं। शैलीविज्ञान कविता की उस संरचना, संघटना, 'नॉर्म' और कार्यफलन का विश्लेषण कर सकता है जो 'मूल्यों' को अपने भीतर बाँधे रहता है, पर कविता की आलोचना का मुख्य धर्म मूल्यों का अन्वेषण है।

अपने इसी समीक्षात्मक लेख में एक दूसरे स्थल पर उनका कहना है कि भाषाविज्ञान कविता के क्षेत्र में 'ध्वनियों' एवं 'छन्दों' के अध्ययन में ही मुख्य रूप से सहायक है और कविता की वास्तविक समीक्षा उस बिन्दु से प्रारम्भ होती है जब भाषाविज्ञान का यह अध्ययन समाप्त हो जाता है अर्थात एक सीमा-रेखा तक पहुँचने के पश्चात कविता की आलोचना, भाषाविज्ञान की पहुँच के बाहर चली जाती है।

यह ठीक है कि पहले भाषावैज्ञानिकों ने कविता के ध्वनि पक्ष एवं छन्दों का ही विश्लेषण किया और तत्सम्बन्धी अध्ययन को वैज्ञानिकता प्रदान की। पर अन्यत्र यह दिखाया जा चुका है कि भाषावैज्ञानिक अध्ययन ने कविता की केवल ध्वनियों का ही विश्लेषण नहीं किया है। वे ध्वनियों के माध्यम के कविता के 'अन्तर्टोन' का भी संकेत देते हैं, साथ में अर्थ के स्तर पर 'गौण' अर्थ का भी पता लगाते हैं जो 'काव्यात्मकता' के सन्दर्भ में 'प्रमुख' अर्थ बन जाता है।

रेने वेलेक स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि शैलीविज्ञान, कविता की उस संरचना, संघटना, 'नॉर्म' और कार्यफलन का विश्लेषण करने में सक्षम है जो

'मूल्यों' को अपने भीतर बाँधे रहता है। पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या मूल्यों की अपनी सत्ता कविता में कविता की संरचना, संघटना, 'नॉर्म' या कार्य-फलन के बाहर सम्भव है? क्या मूल्यों का पता इनकी जानकारी के बिना पाया जा सकता है? अगर मूल्यों का सम्बन्ध कविता से है और उसकी परिणति गुणात्मक प्रकृति से सम्बद्ध है तब इन मूल्यों की चर्चा कविता की संघटना और कार्यफलन की जानकारी के अभाव में यादृच्छिक ही होगी। ऐसी स्थिति में आलोचना का स्वरूप व्यवस्थित हो ही नहीं सकता। फिर पहले यह संकेत किया जा चुका है कि 'मूल्य' अथवा 'गुण' वस्तु की अपनी संरचना और कार्यफलन का ही परिणाम हो सकता है।

यह सच है कि भाषाविज्ञान, विज्ञान की पद्धति को अपनाने के कारण वस्तु-विशेष की संरचना, संघटना और कार्यफलन तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखता है, और इसके सन्दर्भ में वस्तु की सभी गुणात्मक सम्भावनाओं की ओर संकेत देता है पर 'गुणों' और 'मूल्यों' के यादृच्छिक एवं आत्यन्तिक रूप को अपने सीमा-क्षेत्र से बाहर रखता है। अतः कविता के विश्लेषण के लिए जिस पद्धति को वह स्वीकार करता है, वह उसकी कार्यप्रणाली के अनुरूप, 'मूल्य-निरपेक्ष' ही होता है।

रूसी विद्वान विनोकुर (१९५९) का यह मत है कि कविता की भाषा अपनी विशेष संरचना के फलस्वरूप भाषाविज्ञान की परिधि से बाहर निकल जाती है और वह जिन समस्याओं को हमारे समक्ष लाती है, भाषाविज्ञान के माध्यम से उसका समाधान नहीं ढूँढ़ा जा सकता। विनोकुर के मतानुसार जिन व्याकरणिक नियमों एवं व्यवस्था के द्वारा भाषा का बोलचाल का रूप बँधा होता है उसमें कहीं भिन्न व्यवस्था कविता की भाषा की होती है। कविता में प्रयुक्त होने वाली भाषा का कार्यफलन, सामान्य भाषा के कार्यफलन से भिन्न होता है और वह कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त माध्यम के कार्यफलन के समरूप होता है। विनोकुर की इस मान्यता की पुष्टि कोझिनोव ने अपने लेख 'क्या संघटनात्मक काव्यशास्त्र सम्भव है?' में की है। उनके अनुसार कविता, भाषा से भिन्न 'संघटना' की माँग करती है।

विनोकुर अथवा कोझिनोव (१९६५) के कथन पर दो आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। एक, कविता के माध्यम के रूप में प्रयुक्त 'भाषा' कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त माध्यम के अनुरूप होती है। इस विषय पर प्रारम्भ में ही दिखलाया जा चुका है कि ऐसी मान्यता भ्रामक है। दूसरी आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि भाषाविज्ञान का क्षेत्र केवल भाषा के बोल-चाल के रूप का ही परीक्षण नहीं है। भाषा का प्रत्येक रूप, उसकी प्रत्येक विधा उसके अध्ययन-क्षेत्र के भीतर आती है। अगर 'भाषा' और उसकी 'बोली' दोनों का अध्ययन भाषाविज्ञान कर सकता है, अगर व्यक्ति की 'स्पीच' और समाज की 'भाषा' को वह अपने भीतर समेट सकता है और अगर बोलचाल की घरेलू भाषा और तकनीकी विषयों पर लिखे गये शोध-

प्रबन्धों की भाषा दोनों को समान भाव से अपने अध्ययन का विषय बना सकता है, तब यह सवाल उठाया जा सकता है कि भाषा के साहित्यिक रूप या कविता की भाषा का ही अध्ययन उसके क्षेत्र के बाहर कैसे हैं ?

इससे किसे इनकार हो सकता है कि कविता में प्रयुक्त भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन सामान्य बोलचाल की भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन से भिन्न होता है। पर सवाल व्यवस्था एवं कार्यफलन की विभिन्नता का नहीं है। सवाल तो इसका है कि भाषाविज्ञान कविता में प्रयुक्त भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन का विश्लेषण कर सकता है या नहीं। जिस विश्लेषणात्मक पद्धति को 'भाषावैज्ञानिक अपनाता है, उस पद्धति का प्रसार काव्यात्मक भाषा के क्षेत्र तक सम्भव है या नहीं। चॉम्स्की के व्याकरणिक स्तर-भेद की धारणा की चर्चा करते हुए अन्यत्र यह दिखलाया जा चुका है कि भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रसार काव्यात्मक भाषा तक करना सम्भव है। यहाँ इतना और जोड़ देना आवश्यक है कि जब यह कहा जाता है कि कविता भाषा के सामान्य प्रयोग से अलग हटी भाषा का ही विशेष रूप है तो उसका तात्पर्य यह नहीं कि सामान्य से अलग हटे काव्यात्मक भाषा-रूप किसी भी व्यवस्था के नियन्त्रण से बाहर हैं अर्थात कवि को पूरी छूट है कि वह भाषा का मनमाना प्रयोग करे। काव्यात्मक भाषा, भाषा के 'नार्म' की व्यवस्था की तुलना में अधिक लचीली (फ़्लेक्सिबल) और व्यापक होती है, पर उसके लचीलेपन की भी एक सीमा होती है, उसकी व्यवस्था की व्यापकता की भी एक परिधि होती है, जिसके बाहर जाने पर काव्यभाषा के नियमों के अतिक्रमण के रूप में काव्य-प्रयोग पाठकों के मन में खटक जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यभाषा की भी अपनी व्यवस्था होती है, उसके अपने 'कार्यफलन' होते हैं और वे भाषा के विशेष रूप की विशेष व्यवस्था एवं कार्यफलन हैं। अतः उसका विश्लेषण भाषाविज्ञान के सीमा-क्षेत्र के भीतर ही है। कहने के लिए तो यह भी कहा जा सकता है कि काव्यात्मक भाषा की इस विशेष व्यवस्था एवं कार्यफलन की विशिष्टता का पता भी हम तभी पाते हैं कि जब हम इसे सामान्य भाषा की व्यवस्था के 'नॉर्म' एवं कार्यफलन के सन्दर्भ में रखकर उसका विश्लेषण करते हैं।

कविता और भाषा-विज्ञान के सम्बन्धों को लेकर दूसरे अतिवादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले विद्वानों के अनुसार कविता की आलोचना और व्याख्या भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से करनी होगी और तब कविता को साहित्य का अंग न मानकर केवल भाषा का ही एक रूप मानना होगा। कविता की भाषा इस दृष्टिकोण के अनुसार स्वयं अपने में साध्य होती है। इस विचार को मानने वालों में रेब्जिन (१९६५), तोपोरोव (१९६२), सोल सपोर्टा (१९६०) आदि विद्वान हैं। उदाहरण के लिए, सोल सपोर्टा कविता की प्रकृति और भाषा के अन्य रूपों, यथा—गद्य अथवा सामान्य बोलचाल की भाषा के सम्बन्धों की चर्चा उठाते हुए पहले ही दो मोटे विभाग कर लेना चाहते हैं। पहला वर्ग उन भाषा-सम्बन्धी कला-रूपों का है जो भाषा से सम्बद्ध होने के कारण भाषाविज्ञान के क्षेत्र के भीतर आते हैं। दूसरा

वर्ग उन कलारूपों का है जो भाषा से सम्बद्ध होने के कारण उसके बाहर हैं, यथा—संगीत, चित्रकला आदि, जिसे वह 'कला' की संज्ञा देते हैं। इस विभाजन के बाद कविता की भाषा और कला के बीच के सम्बन्धों की चर्चा उठाते हुए तीन स्थितियों की ओर वे संकेत देते हैं :

१. कविता भाषा है अर्थात कविता का क्षेत्र पूर्णतः भाषा-क्षेत्र की अपनी सीमा के भीतर है, अतः वह भाषा का उपांग है। इस तरह भाषाविज्ञान की परिधि के भीतर ही कविता की आलोचना सम्भव है।

२. कविता भाषा नहीं है। वह कला का उपांग है, अतः वह भाषाविज्ञान के क्षेत्र से बाहर है।

३. कविता भाषा और कला, दोनों ही क्षेत्रों को काटने वाली विधा है, अर्थात उसका कुछ अंश कला के अन्तर्गत और कुछ भाषा की सीमा के भीतर आता है और इस प्रकार वह एक साथ दो विभिन्न क्षेत्रों की सदस्य है।

इन तीनों सम्बन्धों के बीच भाषावैज्ञानिक आलोचक के रूप में सपोर्टा पहले सम्बन्ध को प्राथमिकता देना चाहते हैं क्योंकि उनके अनुसार अन्य दोनों स्थितियों में आलोचना को अपने भाषावैज्ञानिक दायित्व एवं कार्यक्षेत्र से बाहर जाना पड़ेगा। अगर आलोचक भाषावैज्ञानिक है तो उसे कविता को भाषा का उपांग मानना ही होगा। उसकी यह विवशता भाषावैज्ञानिक विश्लेषण से निकले निष्कर्ष और साहित्यिक अनुभूति के फलस्वरूप प्राप्त सहजोपलब्ध अर्थ के बीच दिखाई पड़ने वाली असंगतियाँ हैं। अगर भाषावैज्ञानिक निष्कर्ष सहजोपलब्ध अर्थ के विपरीत हैं तब हम निष्कर्षों की वैज्ञानिकता पर ही शंका उठाने लगेंगे। उनके अनुसार वैज्ञानिक विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्ष जब हमारे अन्तर्ज्ञान के विपरीत जाता दिखाई पड़ता है तो प्रायः हम अपने विश्लेषण को ही सुधारने या बदलने की ओर प्रवृत्त होते हैं। शायद ही कभी हम अन्तर्ज्ञान की सच्चाई पर शंका उठाते हों। अतः भाषावैज्ञानिक आलोचक के लिए यही उचित है कि वह कविता के भाषा और कला के बीच के सम्बन्धों में पहली स्थिति को अपनाए और यह मानकर चले कि सभी कविताएँ, भाषा की ही रूप हैं पर भाषा के सभी रूप कविता नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त सपोर्टा अपने विवेचन में तीन और मान्यताओं की ओर संकेत देते हैं। वाक्य-गठन-सम्बन्धी विवरण और विश्लेषण की ओर आलोचक को अर्थ-विश्लेषण के पहले प्रवृत्त होना चाहिए क्योंकि वितरण-सम्बन्धी विवरण को अधिक सटीक और वैज्ञानिक ढंग से दिया जाना सम्भव है। दूसरा, शैलीविज्ञान, भाषाविज्ञान के ज्ञान पर आधारित है क्योंकि बिना व्याकरण के सन्दर्भ के शैली का निरूपण ही नहीं किया जा सकता। अन्तर है तो केवल इतना कि जब व्याकरण मूलतः नियम-निर्देशात्मक (प्रिडिक्टिव) होता है वहाँ शैलीविज्ञान का लक्ष्य विवरणात्मक और वर्गीकरणात्मक (क्लासीफ़िकेटरी) रहता है। तीसरा, कविता अगर 'नॉर्म' से अलग हटी हुई भाषा है, तब कविता में यह स्थिति दो ढंगों से आती है। एक ओर तो कविता की भाषा 'नॉर्म' की तुलना में अतिरिक्त नियमों का

अपने ऊपर आरोपण करती है, इसका उदाहरण छन्द या तुक-निर्माण में देखा जा सकता है। दूसरी ओर कविता की भाषा, 'नॉर्म' की तुलना में कहीं अधिक स्वच्छन्द होती है और इस प्रकार कुछ सामान्य नियमों का अतिक्रमण करती देखी जा सकती है, उदाहरण के लिए, 'पेड़ फुसफुसाते हैं', अथवा, 'हवा सीटी बजाती है' ऐसे वाक्य 'नॉर्म' के नियमों का अतिक्रमण करते हैं।

सपोर्टा द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं पर दो आधारभूत आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। पहली आपत्ति तो यह है कि वे 'वस्तु' की प्रकृति को विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा नियन्त्रित करना चाहते हैं। अतः विश्लेषणात्मक प्रणाली की अपनी सीमा भी उनके लिए वस्तु की प्रकृति की सीमा बन जाती है। भाषा या कविता प्रकृत स्वरूप में क्या है—यह एक प्रश्न है और भाषाविज्ञान अथवा काव्यशास्त्र उसको कहाँ तक जान पाता है, या उसकी प्रकृति से किस सीमा तक परिचित हो सकता है—यह सर्वथा दूसरा प्रश्न है। 'वस्तु' विभिन्न कालों से अपने आधारभूत रूप में एक रह सकती है, पर उसके विश्लेषण की रीति विकसित होती रहती है। फलतः वस्तु के प्रति ज्ञान बढ़ सकता है, उसको और सही ढंग से जाना जा सकता है। भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र का इतिहास स्वयं में इसका उदाहरण है कि एक वस्तु को देखने की दृष्टि और उसके विश्लेषण की प्रणाली में विकास हुआ है न कि उस वस्तु का, उदाहरण के लिए, किसी एक निश्चित काल में बोले जाने वाले संस्कृत भाषा के रूप को ही लें अथवा कालिदास की रचना 'अभिज्ञानशाकुन्तल' को देखें। एक निश्चित काल की संस्कृत भाषा और विशेष कृति 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मूल रूप में वही है, पर हमारी विश्लेषणात्मक प्रणाली के विकसित होने के फलस्वरूप उसकी मूल प्रकृति के ज्ञान में हमारी वृद्धि हुई है न कि उस वस्तु की मूल प्रकृति में। और अगर यह तथ्य सही है तो निश्चय ही वस्तु की मूल प्रकृति, विश्लेषणात्मक प्रणाली को नियन्त्रित करेगी न कि प्रणाली वस्तु को पारिभाषित करने में सक्षम होगी।

जब सपोर्टा यह कहते हैं कि कविता के अध्ययन में भाषावैज्ञानिक विश्लेषण की पहली माँग यह है कि भाषावैज्ञानिक यह स्वीकार करें कि कविता भाषा का ही एक रूप है और इसके अतिरिक्त वह जो भी है वह उसके लिए त्याज्य और अग्राह्य है, तो वस्तुतः वे विश्लेषण की सीमा को ही कविता की सीमा मान बैठते हैं। जैसा ऊपर संकेत दिया जा चुका है—यह सीमा, न तो कविता की सीमा है, क्योंकि कविता की मूल प्रकृति विश्लेषणात्मक प्रणाली से अलग अपनी सत्ता रखती है और यह अध्ययन की प्रणाली की ही सीमा मानी जा सकती है क्योंकि प्रणाली का विकास सम्भव है, और उसका प्रसार भी।

कविता के संदर्भ में जब सपोर्टा भाषावैज्ञानिक प्रणाली से प्राप्त निष्कर्षों और अन्तर्ज्ञान के फलस्वरूप जाग्रत बोध में असंगति की चर्चा उठाते हैं तब यह भूल जाते हैं कि अगर अन्तर्ज्ञान से जाग्रत बोध के सही-गलत होने की बात उठाई जा सकती है, तो प्रणाली के वैज्ञानिक-अवैज्ञानिक होने का प्रश्न भी उठाया जा

सकता है। विश्लेषणात्मक निष्कर्ष और अन्तर्ज्ञान को लेकर चार स्थितियाँ हो सकती हैं :

१. प्रणाली वैज्ञानिक है पर अन्तर्ज्ञान ग़लत।
२. प्रणाली अवैज्ञानिक है पर अन्तर्ज्ञान सही।
३. प्रणाली वैज्ञानिक है और अन्तर्ज्ञान सही।
४. प्रणाली अवैज्ञानिक है और अन्तर्ज्ञान भी ग़लत।

इसमें अन्तर्विरोध की समस्या पहली दो स्थितियों में ही मुख्य रूप से उभरती है और इन दोनों स्थितियों में उनका निराकरण सम्भव है। उदाहरण के लिए, अगर प्रणाली वैज्ञानिक है अर्थात भाषावैज्ञानिक निष्कर्ष सही हैं और कविता-पाठ के अन्तर्ज्ञान से उत्पन्न बोध ग़लत है, तो उस बोध को ग़लत सिद्ध किया जा सकता है और पाठकों में बोध की सही दिशा उत्पन्न की जा सकती है। अन्तर्ज्ञान से प्राप्त बोध का सीधा सम्बन्ध पाठकों के ज्ञान की पूर्व-पीठिका और कविता के सन्दर्भ के साथ रहता है। उसके ज्ञान की पूर्व-पीठिका का विकास अगर उस स्तर पर कर दिया जाए, जिसको वैज्ञानिक विश्लेषण अपनाता है तो इसमें सन्देह नहीं कि कविता का सन्दर्भ उस ज्ञान के आधार पर नया बोध प्रदान करेगा जो भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्षों के समरूप होंगे। एक ही कविता का पाठ स्कूल के बच्चे भी करते हैं, विश्वविद्यालय के छात्र भी और पढ़े-लिखे सहृदय व्यक्ति भी, पर उनके अन्तर्ज्ञान से उत्पन्न बोध भिन्न होते हैं। काव्यशास्त्र की एक समस्या यह भी है कि वह बता दे कि किसी कविता का उचित बोध या मर्म क्या है? अगर भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण इस दिशा में कुछ सहायता दे सकता है तो वह उसकी अपनी उपलब्धि तो होगी ही, काव्यशास्त्र को अन्तर्ज्ञान से हटाकर वैज्ञानिकता की ओर लाने में सहायक भी सिद्ध होगी।

पर यह भी सम्भव हो सकता है कि जिस प्रणाली को भाषावैज्ञानिक, वैज्ञानिक समझता हो, वह ज्ञान के व्यापक सन्दर्भ में अवैज्ञानिक हो अथवा उसकी प्रणाली विकसित न होने के कारण सत्य के खण्ड रूप (दो निश्चित पक्षों) की ओर ही संकेत देने में समर्थ हो जिसे वह सत्य का पूर्ण रूप मान बैठे। उस स्थिति में क्या यह उचित न होगा कि प्रणाली का विकास और प्रसार किया जाए, अधिक से अधिक पक्षों का ज्ञान प्राप्त किया जाए। अभी तक अगर भाषावैज्ञानिक प्रणाली कविता के एक-दो पक्षों के विवेचन तक ही सीमित है, अथवा अर्थविज्ञान को समझने की प्रणाली अगर विकसित न होने के कारण अधूरी है अतः वाक्य-गठन पर ही अधिक आग्रह रखती है, तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि कविता को उसी सीमा तक बाँधकर रखा जाए, जहाँ तक उसकी प्रणाली सीमित करती है। कहने का तात्पर्य यह कि 'कविता' के क्षेत्र की अपनी सम्भावना एक वस्तु है, और उसके अध्ययन, विश्लेषण के क्षेत्र को प्रणाली के अनुरूप सीमित करने का सवाल दूसरा है। सिद्धांत-रूप में कविता की परिभाषा अपनी सम्भावना के अनुरूप होनी चाहिए और व्यवहार पक्ष में उसके अध्ययन-क्षेत्र की परिधि विश्लेषणात्मक प्रणाली की

अपनी स्थिति के आधार पर निर्धारित होनी चाहिए। इसके साथ ही व्यवहार-पक्ष का प्रयत्न यह भी होना चाहिए कि वह सिद्धांत पक्ष के पूरे सीमा-क्षेत्र के अध्ययन-विश्लेषण के लिए अपनी प्रणाली का विकास-प्रसार करे।

मोटे तौर पर हम अगर यह मानकर चलें कि कविता का अध्ययन जब हम कला के अन्य क्षेत्रों—संगीत, चित्र आदि की उपलब्धियों के सन्दर्भ में करते हैं, उस समय वह 'काव्यशास्त्र' के अन्तर्गत आता है और जब हम भाषा की सामान्य प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में उसका विश्लेषण और विवेचन करते हैं, उस समय वह 'शैली-विज्ञान' के क्षेत्र में आता है, तब एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि काव्यशास्त्र और शैलीविज्ञान के बीच अपने सम्बन्ध क्या हैं? क्या काव्यशास्त्र और शैली-विज्ञान, दो विभिन्न एवं असम्बद्ध क्षेत्र हैं अथवा एक ही वस्तु (कविता) को देखने की मात्र दो विभिन्न दृष्टियाँ हैं? दूसरे शब्दों में कहें तो यह पूछा जा सकता है कि क्या विभिन्न 'लक्ष्यों' के कारण ये दोनों क्षेत्र एक-दूसरे से अलग हैं अथवा लक्ष्य तो एक है, पर उनकी परीक्षण-प्रणाली भिन्न हैं अतः वे दो निर्दिष्ट क्षेत्र हैं?

इस प्रश्न को लेकर विद्वान एकमत नहीं दिखाई देते। रेने वेलेक, कोझिनोव अथवा सोल सपोर्टा, रेविजन आदि विद्वान 'शैलीविज्ञान' को मात्र भाषाविज्ञान के क्षेत्र की वस्तु समझते हैं और इस आधार पर कि काव्यशास्त्र और भाषाविज्ञान की अध्ययन-प्रणाली के साथ-साथ उनके लक्ष्य भी भिन्न हैं, काव्यशास्त्र और शैली विज्ञान को ज्ञान के दो अलग-अलग विषय घोषित करना चाहते हैं। विद्वानों का एक दूसरा समुदाय है जो शैलीविज्ञान को केवल भाषाविज्ञान की वस्तु नहीं मानता। इन विद्वानों के अनुसार काव्यशास्त्र और भाषा-विज्ञान के सम्मिलित सहयोग से आलोचना की एक नयी प्रणाली विकसित हो सकती है जो एक ओर 'काव्यात्मकता' का विश्लेषण-परीक्षण भी करेगी और उसकी प्रणाली भी वैज्ञानिक होगी। उनके अनुसार 'शैलीविज्ञान' के रूप में कविता के विश्लेषण की जो नयी पद्धति विकसित हो रही है वस्तुतः वह अपने स्वरूप एवं प्रकृति में इसी सम्भावना पर आधारित है। एडवर्ड स्टैंकविक्ज़ (१९६०) के अनुसार भाषावैज्ञानिक, जो अपने क्षेत्र में वस्तुवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने में समर्थ सिद्ध हुआ है, एक साहित्यिक आलोचक को भी उसके सिद्धांत-क्षेत्र में गहरी दृष्टि और विश्लेषणात्मक परीक्षण में वैज्ञानिक पद्धति दे सकता है। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि भाषावैज्ञानिक को यह मालूम हो कि उसकी परीक्षण-सामग्री किन तथ्य-समूहों पर आधारित है। इस जानकारी के बिना उसका काव्यभाषा का अध्ययन परम्परा से चले आ रहे भाषावैज्ञानिक विश्लेषण से आगे नहीं बढ़ सकता। अगर भाषावैज्ञानिक और काव्यसमीक्षक के सहयोग को फलप्रद बनाना है तब यह आवश्यक है कि भाषावैज्ञानिक काव्य-रूपों एवं उसकी परम्परा से सम्बन्धित सभी प्रश्नों से भली भाँति परिचित हो और काव्यसमीक्षक को भी आधुनिक भाषा-विज्ञान की अपनी प्रगति, उसके द्वारा अपनाई जा रही नवीनतम पद्धति और इस क्षेत्र की उपलब्धियों का सही ज्ञान हो।

रोमन याकोब्सन शैलीविज्ञान को भाषाविज्ञान का ही एक अंग मानते हैं, पर ध्यान रहे कि उनके भाषाविज्ञान का क्षेत्र सामान्य रूप में मान्य भाषाविज्ञान क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक है। उनके भाषाविज्ञान के क्षेत्र के भीतर न केवल अकाव्यात्मक (कैजुअल) वाक्य आते हैं वरन 'काव्यात्मक' (नॉन-कैजुअल) वाक्य भी उसी सीमा-क्षेत्र के भीतर हैं। उनके अनुसार काव्यशास्त्र को भाषाविज्ञान के क्षेत्र से बाहर निकलने का प्रयत्न करने वाले वे भाषावैज्ञानिक हैं जो भाषा-विश्लेषण की तथ्य-सामग्री के रूप में केवल अत्यन्त व्यवस्थित अकाव्यात्मक वाक्यों को स्वीकार करते हैं अथवा जिनके मत के अनुसार अध्ययन की सीमा केवल व्याकरण-क्षेत्र की परिधि तक सिमटी रहती है, या जो अर्थ को केवल वस्तुओं के सूचक—कार्यफलन तक बाँधकर रखते हैं बिना यह जाने कि भाषा के अन्य कार्य-फलन भी हो सकते हैं। उनके मत के अनुसार यह ठीक है कि किसी भी एक भाषा को व्यवहार में लाने वालों के सामाजिक वर्ग के लिए भाषा एक ही होती है, लेकिन इस एक भाषा की व्यवस्था के भीतर कई उप-व्यवस्थाएँ होती हैं। हर उप-व्यवस्था भाषा-संघटना का एक निश्चित 'पैटर्न' प्रदान करती है और एक भाषा के बीच पाये जाने वाले 'पैटर्न' और 'सब-पैटर्न' में एक निश्चित सम्बन्ध होता है तथा हर पैटर्न, भाषा के एक निश्चित कार्यफलन का परिणाम होता है।

भाषाविज्ञान का कार्य-क्षेत्र भाषा की प्रत्येक संघटना का पता लगाना है, 'पैटर्न' और 'सब-पैटर्न', सबकी खोज करना है और उसके सन्दर्भ में उन सभी कार्यफलन का विश्लेषण करना है जो भाषा के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न 'पैटर्न', 'सब-पैटर्न' के साथ जुटा होता है। कविता में भाषा के जिस 'पैटर्न' या 'सब-पैटर्न', को हम पाते हैं उसकी अपनी विशिष्टता होती है और इस विशिष्टता को हम 'सब-पैटर्न' के साथ उनके कार्यफलन को जोड़कर जान सकते हैं। भाषाविज्ञान अगर भाषा के भीतर पाये जाने वाले सभी 'पैटर्न' एवं 'सब-पैटर्न' तथा तज्जनित कार्यफलन को अपना अध्ययन-क्षेत्र स्वीकार करता है तब कविता को उसके सीमा-क्षेत्र से बाहर नहीं किया जा सकता।

अपने लेख 'भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र' के निष्कर्ष-रूप में उनका कहना है—"अगर कवि रैंसम का यह कथन सही है (और वह सही है) कि 'कविता, भाषा का ही एक रूप है' तब भाषा को अपनी अध्ययन-सामग्री बनाने वाले भाषा-वैज्ञानिक को अपने कार्य-क्षेत्र के भीतर कविता को भी स्वीकार करना ही होगा। इस सम्मेलन ने भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि अब वह समय हमसे काफ़ी पीछे छूट गया है जब भाषावैज्ञानिक और साहित्य के इतिहासकार काव्य-संघटना-सम्बन्धी प्रश्नों को टाल जाया करते थे। अगर अभी भी कुछ आलोचक ऐसे हैं जो काव्यशास्त्र की चर्चा को भाषाविज्ञान की सामर्थ्य-शक्ति के बाहर समझते हैं तब मैं व्यक्तिगत रूप से इसमें विश्वास रखता हूँ कि काव्यात्मक अक्षमता को भूल से स्वयं भाषाविज्ञान की ही सीमा समझा जाने लगा है। यहाँ पर उपस्थित प्रायः सभी व्यक्ति यह अनुभव कर रहे हैं कि भाषा के काव्य-फलन के प्रति बधिर भाषा

वैज्ञानिक और भाषावैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषावैज्ञानिक प्रणाली से अपरिचित साहित्यशास्त्री, दोनों ही समान रूप से अपने समय से बहुत पीछे हैं।"

जहाँ तक काव्यशास्त्र और भाषाविज्ञान के अन्तस्सम्बन्धों का प्रश्न है, याकोब्सन के अनुसार संघटनात्मक स्तर पर काव्यशास्त्र, भाषाविज्ञान का एक अभिन्न अंग है। जिस प्रकार चित्रकला की विवेचना का सम्बन्ध चित्रों की संघटना से संबन्धित रहता है, उसी प्रकार काव्यशास्त्र का सम्बन्ध शाब्दिक संघटना की समस्याओं के साथ रहता है और शाब्दिक संघटना के अध्ययन का मूल विज्ञान भाषाशास्त्र है, अतः काव्यशास्त्र भाषाविज्ञान का अपना (विशिष्ट) एक अंग है।

लेकिन साथ में काव्यशास्त्र मूलतः इस प्रश्न को लेकर भी चलता है कि **वह कौन-से तत्व हैं जो शाब्दिक सन्देश (मेसेज) को कला की वस्तु बना देते हैं ?** जब काव्यशास्त्र को इस सन्दर्भ कला के अन्य क्षेत्रों से 'व्यवच्छेदक दृष्टि' के आधार पर ग्रहण किया जाता है अर्थात जब यह देखने का प्रयास किया जाता है कि शाब्दिक कला के रूप में गृहीत कविता, कला के अन्य क्षेत्रों अथवा अन्य शाब्दिक व्यवहार (वर्बल बिहेवियर) से किस आधार पर भिन्न है तब निश्चय ही साहित्यिक क्षेत्र में उसका एक प्रमुख स्थान बन जाता है।

भाषा और साहित्य के प्रसिद्ध सोवियत मर्मज्ञ विनोग्रादोव (१९६३) के अनुसार काव्यशास्त्र को मात्र भाषाविज्ञान के क्षेत्र में रखना असंगत होगा। कला शैली की सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा की सबसे बड़ी कठिनाई इसलिए उत्पन्न होती है कि कविता, गुणात्मक स्तर पर दो नितांत भिन्न सामाजिक कार्यफलों का अभिन्न संयोग होती है अर्थात भाषा और साहित्य, गुणात्मक स्तर पर दो भिन्न क्षेत्र हैं, सामाजिक कार्यफलन की दृष्टि से भी ये दो तत्व हैं पर कविता की विशेषता इसी में है कि इन दो नितांत भिन्न तत्वों को वह अपनी संघटना में एक साथ अन्तर्निहित किए रहती है। उनके अनुसार जब हम भाषा के सन्दर्भ में शैली की चर्चा उठाते हैं, तब भाषा-शैली होने के कारण उसका यह पक्ष 'भाषाविज्ञान' के भीतर आता है और जब हम साहित्य के व्यापक सन्दर्भ में शैली की बात करते हैं, तब उसका दूसरा पक्ष सामने आता है जिसे 'साहित्यिक शैली' कहा जा सकता है जो भाषाविज्ञान का नहीं वरन साहित्य का अपना क्षेत्र है। ये दोनों शैलियाँ—भाषा एवं साहित्य, अपने सम्मिलित सहयोग और कार्यफलन के अपने निजी सन्तुलन के परिणामस्वरूप 'कला-शैली' को जन्म देती हैं। काव्यशास्त्र के अन्तर्गत जब कला-शैली की चर्चा उठाई जानी चाहिए तब उनके अनुसार उसमें भाषा और साहित्य, दोनों ही शैलियों का विश्लेषण होना अपेक्षित है। अतः काव्यशास्त्र शैली के सन्दर्भ में मात्र भाषाविज्ञान की वस्तु नहीं, उसके कुछ पक्ष उससे अलग भी हैं और कविता के विवेचन में इन दोनों पक्षों को अलग रखना अनिवार्य है।

अपने विवेचन में विनोग्रादोव यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि भाषा और साहित्य शैली के अन्तर्द्वंद्व के फलस्वरूप आविर्भूत 'कला-शैली' का स्वरूप क्या है ? फिर स्पिट्ज़र के मत का खण्डन तो वे करते हैं पर यह प्रतिपादित नहीं कर पाते कि जिसे वे 'साहित्य-शैली' कहते हैं उसे कविता के सन्दर्भ में भाषा के माध्यम से समझाया जाना सम्भव है अथवा नहीं। अगर भाषा के आधार पर समझना सम्भव नहीं तब उसे भाषा-शैली के सीमा-क्षेत्र से बाहर रखना ठीक है, पर अगर भाषा की अपनी व्यवस्था एवं आन्तरिक संघटना के आधार पर उसे परखना और जानना सम्भव है तब कहीं ऐसा तो नहीं कि उनके द्वारा स्थापित साहित्यिक शैली भाषा के आन्तरिक संघटना के विशिष्ट कार्यफलन का ही परिणाम है।

झिरमुन्स्की (१९६१ : २९) के अनुसार कला-शैली को भाषा के आधार पर नहीं समझाया जा सकता। कविता की कला-शैली का सम्बन्ध, कवि की जीवन-दृष्टि और उसके भाव-जगत के साथ होता है जो यद्यपि शब्दों के माध्यम से तो व्यक्त होता है, पर शब्दों की परिधि में ही सिमटा नहीं होता। कविता शब्दों के पार जाकर सामान्यीकृत बौद्धिक प्रत्ययों से ऊपर उठकर अबौद्धिक जगत की सृष्टि करती है।

अगर विनोग्रादोव और झिरमुन्स्की की बात मान भी ली जाए, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कविता में जिस भाषा का प्रयोग होता है अथवा अपने माध्यम को कविता जिस रूप में अपनाती है और उसके सहारे जिस 'अबौद्धिक कथ्य' अथवा 'भाव-जगत की जीवन-सृष्टि' को वह व्यक्त करती है, उसके बीच कोई अन्तरंग सम्बन्ध नहीं। यह तो कहा जा सकता है कि बोलचाल की सामान्य भाषा 'अबौद्धिक कथ्य' या 'जीवन-दृष्टि' का माध्यम बनने में समर्थ नहीं। कविता की भाषा 'काव्यात्मक' भी तो इसीलिए है कि वह बोलचाल की इस अक्षमता को अन्य साधनों से दूर करती है, अपनी सम्भावनाओं का प्रसार करती हुई वह एक असामान्य स्तर पर असामान्य कथ्य को भी अन्तर्भुक्त कर लेती है। जिस कारण से भाषा की सामान्य स्थिति असामान्य हो उठती है उस कारण की ओर संकेत भाषा की असामान्य स्थिति देती है। सवाल तो इसका है कि भाषा की असामान्य स्थिति और उस असामान्य स्थिति में पहुँचाने वाले कारण (कविता में—'अबौद्धिक कथ्य' और भाव-जगत की जीवन-दृष्टि) के बीच सम्बन्धों की प्रकृति क्या है ? क्या इन सम्बन्धों की प्रकृति को अनुसन्धान का विषय बनाना सम्भव है ? 'अबौद्धिक कथ्य' तक भाषा की सामान्यीकृत प्रकृति का सहारा लेते हुए पहुँचा जा सकता है ?

कविता के 'अबौद्धिक कथ्य' का पता अगर कविता ही देती है तो निश्चय ही कविता जिस माध्यम से उसे अपने भीतर संजोती है, उस माध्यम का विश्लेषण ही संजोई गई वस्तु को सही दिशा में समझने में सहायक होगा। स्पिट्ज़र (१९६२:१४१-२) के अनुसार "यह कहने के बजाय कि कविता शब्द-निर्मित नहीं होती और कविता में शब्द अपने अर्थ से मुक्त होकर, बौद्धिक-प्रत्यय के पार जाकर लयात्मक प्रत्यय का सृजन करते हैं, मैं यह कहना चाहूँगा कि कविता शब्द-निर्मित

ही होती है और उन शब्दों का अर्थ भी उसमें 'स्थित' रहता है। लेकिन कवि की चमत्कारपूर्ण प्रतिभा, जो काव्य-संघटना को एक समग्र दृष्टि के लयात्मक प्रत्यय में बाँधता है, इन शब्दों एवं उसमें स्थित अर्थ को बौद्धिक प्रत्यय के पार ले जाकर लयात्मक प्रत्यय तक पहुंचा देती है। और यह भाषाशास्त्र के अध्येता का कार्य है कि वह इस तथ्य का विश्लेषण करे कि निर्देशित रूपान्तरण की प्रक्रिया क्या है। कविता के अबौद्धिक पक्ष भाषावैज्ञानिक आलोचक के हाथों में अपनी सत्ता खो नहीं देते अथवा उनके हाथों उनका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसके ठीक विपरीत वह कवि के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए कार्य करेगा। (यह बात दूसरी है कि वह कवि स्वीकृति की अपेक्षा नहीं रखेगा) और धैर्यपूर्वक विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लेते हुए उस पथ को ढूंढ़ने का प्रयत्न करेगा जो बौद्धिक से अबौद्धिक की ओर कविता को ले जाता है और जिस दूरी को कवि अपनी एक छलाँग में ही तय कर लेता है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि अगर यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि कविता 'अबौद्धिक कथ्य' और 'भाव-जगत के सत्य' को लेकर चलती है तब भी उसे पाने और समझने का रास्ता शब्द और उसमें निहित अर्थ का ही है। 'शैलीविज्ञान' कविता के इस 'अबौद्धिक कथ्य' और 'शाब्दिक प्रत्यय' के सम्बन्धों का ही विश्लेषण प्रस्तुत करता है और यह देखने का प्रयत्न करता है कि शाब्दिक प्रत्यय का रूपान्तरण किन स्थितियों में और किन माध्यमों द्वारा 'अबौद्धिक कथ्य' में हो जाता है। विश्लेषण की इस प्रक्रिया का आधार वहाँ भाषा के विभिन्न कार्यफल और काव्यभाषा की अपनी संघटना होते हैं और ये दोनों मूलतः भाषाविज्ञान के क्षेत्र के भीतर आते हैं, अतः शैलीविज्ञान को भाषाविज्ञान का ही एक अंग माना जा सकता है, जहाँ विश्लेषणात्मक प्रणाली भाषावैज्ञानिक है, पर जिसकी विश्लेषणात्मक सामग्री भाषा का सामान्य रूप न होकर उसका विशिष्ट साहित्यिक पक्ष होता है और जहाँ भाषा के उस विशेष कार्यफलन को केन्द्र बनाया जाता है जिसके सहारे कवि शब्दों के साथ बँधे बौद्धिक प्रत्यय का रूपान्तरण अबौद्धिक कथ्य में करने में समर्थ सिद्ध होता है।

शैलीविज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र

शैलीविज्ञान, आलोचना की वह दृष्टि है जो भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र की समन्वित पीठिका पर आधारित है; वह आलोचना की वह प्रणाली है जो 'काव्यात्मकता' का निरूपण भाषातत्त्वों के साक्ष्य पर करती है। स्टैंकविक्ज़ (१९६०) के अनुसार आज भाषाविज्ञान ने जिस वस्तुवादी दृष्टि और वैज्ञानिक प्रणाली का विकास कर लिया है वह काव्यशास्त्र की दृष्टि को और गहरी और उसकी विवेचनात्मक प्रणाली को और वैज्ञानिक बना सकती है। पर इसके लिए यह आवश्यक है कि भाषाविज्ञान के इस देय के साथ हम यह न भूलें कि हमारी परीक्षण सामग्री, (सामान्य) भाषा नहीं अपितु काव्यभाषा है और हमारा कार्यक्षेत्र केवल जीवन का बाह्य अथवा आन्तरिक सामान्य व्यवहार नहीं वरन काव्य जीवन का विशिष्ट सर्जनात्मक व्यापार है।

शैलीविज्ञान यह मानकर चलता है कि 'सभी काव्य भाषा के ही एक रूप हैं' पर उसके साथ यह भी वह स्वीकार करता है कि 'भाषा का हर रूप काव्य नहीं होता'। अतः लीच (१९७०) के अनुसार यह शंका निर्मूल है कि भाषाविज्ञान अपने क्षेत्र का विस्तार कर काव्यशास्त्र का समूल उच्छेदन करने के लिए प्रयत्नशील है। ज्ञान के क्षेत्र में यह संभव है कि एक शास्त्र (डिसीप्लिन) की विषयवस्तु अपने भीतर किसी दूसरे शास्त्र की विषयवस्तु को अन्तर्भुक्त कर ले। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि अन्तर्भुक्त विषयवस्तु से सम्बद्ध शास्त्र समाहित करने वाले व्यापक शास्त्र के संदर्भ में सारहीन या उद्रिक्त है, नितान्त भ्रामक होगा। अगर भाषाविज्ञान के व्यापक शास्त्र का एक उपांग बनाकर साहित्यशास्त्र को निरूपित करने की माँग को इस रूप में लिया जाय कि भाषाविज्ञान, साहित्यशास्त्र के 'गौरव' और 'प्रतिष्ठा' को खंडित या अपदस्थ करना चाहता है तब यह भी तो कहा जा सकता है कि आज का भाषाविज्ञान भी एक तरह से मनोविज्ञान के व्यापक शास्त्र का उपांग है। पर क्या इस संदर्भ में भाषाविज्ञान शास्त्र के रूप में उद्रिक्त है? अथवा संघटनात्मक भाषाविज्ञान सौ वर्ष पहले नृतत्त्वशास्त्र का एक अंग बनकर आया तो क्या भाषाविज्ञान, सिद्धान्त के रूप में अपनी महत्ता खो बैठा? यहाँ यह तथ्य भी तो विचारणीय है कि अगर सभी काव्य, भाषा के ही विशिष्ट रूप हैं तो इसके साथ शैलीविज्ञान यह भी स्वीकार करता है कि भाषा का हर (विशिष्ट) रूप काव्य नहीं होता। क्वर्क (१९५९) के अनुसार 'शैली के उपादान अनिवार्यतः भाषिक तत्त्व होते हैं पर भाषिक उपादान अनिवार्यतः शैली के तत्त्व नहीं होते।'

शैलीविज्ञान के अपने विशिष्ट क्षेत्र के भीतर भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी शास्त्र के रूप में सिद्ध नहीं रहते। वस्तुतः ये दोनों शास्त्र भिन्न धरातल एवं भिन्न आयाम पर कार्य करने के कारण एक ही विषयवस्तु को दो भिन्न दृष्टियों के आधार पर विश्लेषित करते हैं। शैलीविज्ञान वस्तुतः इन दो भिन्न दृष्टियों के बीच न केवल सेतु का कार्य करता है वरन एक ऐसे क्षेत्र का निर्धारण भी करता है जो अपने समन्वित दृष्टि के आधार पर दो भिन्न धरातलों एवं आयाम पर स्थित विषयवस्तु में तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ है। हिल (१९५६) के अनुसार शैलीविज्ञान, काव्यसिद्धांत का वह स्तर है जो सूक्ष्म अर्थ के संसार (स्तर) और स्थूल ध्वनियों के संसार (स्तर) को अनुबंधित करता है और प्रकार्य के रूप में वह भाषा की संरचना, व्यवस्था और प्रतीक योजना के आधार पर भाषेतर संसार को उद्भासित करता है।

प्रसिद्ध भाषाशास्त्री और रूसी रूपवादी आलोचना पद्धति के प्रतिष्ठित विद्वान रोमन याकोब्सन शैलीविज्ञान को भाषाविज्ञान का ही एक उपांग मानते हैं। पर यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि उनके भाषाविज्ञान का क्षेत्र सामान्य रूप में मान्य भाषाविज्ञान के क्षेत्र से अधिक व्यापक है। उनकी दृष्टि में भाषाविज्ञान का क्षेत्र भाषा के उन सभी आयामों को अपने भीतर समेटता है जो संचार (कम्युनिकेशन) के साधन हैं। इस दृष्टि से अगर भाषाविज्ञान अपने क्षेत्र का प्रसार कर काव्य-शास्त्र को अपने भीतर समेटता है तब उसके साथ ही वह भाषावैज्ञानिक को उसके गुरुतर दायित्व के प्रति सचेत भी करता है। उनके अनुसार (१९६०) "अगर कवि रैंसम का यह कथन सही है (और वह सही है) कि 'कविता, भाषा का ही एक रूप है' तब भाषा को अपनी अध्ययन सामग्री बनाने वाले भाषावैज्ञानिक को अपने कार्य-क्षेत्र के भीतर कविता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। अब वह समय हमसे काफी पीछे छूट गया है जब भाषावैज्ञानिक और साहित्य के इतिहासकार काव्य-संघटना-सम्बन्धी प्रश्नों को टाल जाया करते थे। अगर अभी भी कुछ आलोचक ऐसे हैं जो काव्यशास्त्र की चर्चा को भाषाविज्ञान की सामर्थ्यशक्ति के बाहर समझते हैं तब मैं व्यक्तिगत रूप से इसमें विश्वास रखता हूँ कि उनकी काव्यात्मक अक्षमता को भूल से स्वयं भाषाविज्ञान की ही सीमा समझा जाने लगा है। यहाँ पर उपस्थित प्रायः सभी व्यक्ति यह अनुभव कर रहे हैं कि भाषा के प्रकार्य के प्रति बधिर भाषा-वैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषावैज्ञानिक प्रणाली से अपरिचित साहित्य-शास्त्री, दोनों ही समान रूप से अपने समय से बहुत पीछे हैं।" याकोब्सन की यह मान्यता है कि जिस प्रकार चित्रकला की विवेचना, चित्रों की संघटना की प्रकृति का विश्लेषण है उसी प्रकार काव्यशास्त्र भाषिक संघटना की प्रकृति को अपनी अध्ययन सामग्री बनाता है। और भाषिक संघटना के अध्ययन का मूल शास्त्र भाषाविज्ञान है। अतः काव्यशास्त्र आपाततः भाषाविज्ञान का ही एक अंग ठहरता है।

साहित्य के संदर्भ में 'शैली' वस्तुतः शब्द (भाषा) और कला (साहित्य) के

अनुबंधन की संकल्पना है। यही कारण है कि साहित्य को 'शाब्दिक (भाषिक) कला' (वर्बल आर्ट) कहकर परिभाषित किया जाता है। शैलीविज्ञान, भाषा-विज्ञान और काव्यशास्त्र के अनुबन्धन का क्षेत्र है। इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि भाषाविज्ञान की अन्तर्दृष्टि से सन्दर्भित और उसकी विश्लेषणात्मक प्रणाली से संयुक्त काव्यशास्त्र ही शैलीविज्ञान है।

शैलीविज्ञान की प्रकृति एवं उसके व्यवहार क्षेत्र को लेकर उसके पक्ष और विपक्ष में इधर काफी लिखा गया है (और आज भी लिखा जा रहा है।) एक ओर ह्वाइटहाल (१९५७) जैसे विद्वान हैं जो यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आज काव्यशास्त्र की प्रकृति का निरूपण न तो परम्पराबद्ध साहित्यशास्त्री कर सकते हैं और न नव्य समीक्षक (न्यू क्रिटिक); उसके निर्देशन की बागडोर अब केवल भाषावैज्ञानिक ही कर सकता है। दूसरी ओर बैटसन (१९६८) प्रभृत आलोचक हैं जो यह मानते हैं कि साहित्य के सन्दर्भ में भाषा, शैली के एक सामान्य एवं सतही स्तर को ही स्पर्श करती है और साहित्यिक संवेदनशीलता के प्रति भाषा-विज्ञान का न तो कोई अनुराग है और न उससे कोई उसका संबंध। अतः साहित्य के आलोचक को भाषाविज्ञान से कोई गहरी प्रेरणा या अन्तर्दृष्टि मिलने का प्रश्न ही नहीं है। इन दो अतिवादी दृष्टियों के परिप्रेक्ष्य में एक ओर रेब्जिन (१९६५), तोपोरोव (१९६२), सोल सपोर्टा (१९६२) आदि जैसे विद्वानों की मान्यताओं को रखा जा सकता है जो काव्यशास्त्र को भाषाविज्ञान के उपांग के रूप में मानते हैं और दूसरी ओर विनोकुर (१९५९), रेनेवैलेक (१९६०), झिर-मुन्स्की (१९६१), विनोग्रादोव (१९६३), कोझिनोव (१९६५) आदि विद्वान हैं जो यह मानकर चलते हैं कि भाषाविज्ञान, भाषाशैली का अध्ययन तो कर सकता है पर 'कलाशैली' को भाषा के आधार पर नहीं समझा जा सकता। उनके अनुसार काव्यवस्तु का संबंध जीवन-दृष्टि, और भावजगत के साथ रहता है जो मूल्यों का निर्माण करने में सक्षम है और 'मूल्यों' की चर्चा भाषाविज्ञान के बाहर का क्षेत्र है।

इन दोनों दृष्टियों की समीक्षा अन्यत्र विस्तारपूर्वक की जा चुकी है (श्रीवास्तव, १९६८)। यहाँ शैलीविज्ञान-संबंधी आधारभूत तथ्यों का संकेत पर्याप्त होगा :

(१) (अ) अगर भाषाविज्ञान अपने व्यापक अर्थ में भाषा के प्रत्येक प्रकार्य (फंक्शन) और व्यवहार (यूसेज) के अध्ययन का शास्त्र है तब शैलीविज्ञान, भाषाविज्ञान का ही एक उपांग है, क्योंकि उसका कार्यक्षेत्र साहित्य में प्रयुक्त भाषासंरचना और उसका साहित्यिक कार्यफलन है।

(आ) अगर भाषाविज्ञान को उसके सीमित अर्थ में लिया जाए तो शैली-विज्ञान, उसी प्रकार का व्यावहारिक (एप्लाइड) भाषाविज्ञान का क्षेत्र है जिस प्रकार का मनोभाषाविज्ञान (साइको-लिंग्विस्टिक्स), समाज-भाषा-विज्ञान (सोशियो-लिंग्विस्टिक्स) आदि। इस दृष्टि से शैलीविज्ञान भाषा-

विज्ञान और काव्यशास्त्र के अनुबंधन का क्षेत्र है।

(२) शैलीविज्ञान का चिंतन वस्तुवादी है और दृष्टि भाषावादी।

(३) शैलीविज्ञान, साहित्यिक आलोचना का सिद्धांत भी है और प्रणाली भी।

(४) (अ) शैलीविज्ञान के अनुसार काव्यात्मकता का केन्द्रक (लोकस) स्वयं काव्यकृति है।

(आ) भाषावादी सिद्धान्त के रूप में शैलीविज्ञान की यह मान्यता है कि साहित्य, 'शाब्दिक कला' है और कृति के रूप में साहित्यिक रचना, भाषा की अपनी सीमा में बँधी एक स्वनिष्ठ (आटोनॉमस) इकाई है। कृति स्वायत्त है अतः उसका विश्लेषण न तो कवि के उस अभिप्राय के आधार पर करना समीचीन है जिसे लेकर वह अपनी कृति की रचना करता है और न पाठकों पर पड़े प्रभाव के रूप में उसकी व्याख्या उचित है।

(५) (अ) साहित्य अगर 'शाब्दिक कला' है तो काव्यकृति शाब्दिक प्रतीक (लिंग्विस्टिक साइन)।

(आ) प्रतीकवत होने के परिणामस्वरूप काव्यकृति में कथ्य (वाच्य) और अभिव्यक्ति (वाचक) पक्ष की अन्तरंग अन्विति —आभ्यंतर अभिन्नता स्वयं-सिद्ध रहती है। शैलीविज्ञान के अनुसार कथ्य और अभिव्यक्ति के संबंधों की प्रकृति के आधार पर ही काव्यात्मकता का उद्घाटन संभव और अभीष्ट है।

(६) (अ) भाषा की व्यापक संभावना के संदर्भ में भाषिक प्रतीक एवं प्रतीक पद्धति के अनेक विकल्पों में किसी एक के चयन का परिणाम ही शैली है।

(आ) यह चयन भाषा के विभिन्न स्तरों पर संभव है।

(इ) विकल्प के सन्दर्भ में चयन की प्रकृति को नियंत्रित करने वाले विभिन्न उपादानों के सन्दर्भ में शैली का वर्गीकरण और उसकी अभिव्यंजक परिभाषा संभव है। यथा, चयन के नियामक के रूप में अगर साहित्यकार का व्यक्तित्व है तो साहित्यकार-विशेष की शैली (निराला, पंत, अज्ञेय, प्रेमचन्द की शैली), अगर नियामक युग-विशेष की प्रवृत्ति है तो युग-विशेष की शैली (रीतिकालीन, छायावादी, नयी कविता की शैली); और अगर चयन का नियामक विधा है तो विधा-विशेष की शैली (नाट्य, काव्य, उपन्यास की शैली) आदि।

(ई) अगर चयन की प्रकृति को नियंत्रित करने वाला उपादान स्वयं काव्य-वस्तु हो तब यह कृति की शैली है। जिस प्रकार व्यक्ति, युग अथवा विधा-विशेष की शैलीगत विशिष्टताओं को कृति की काव्यवस्तु से अलग किया जा सकता है उसी प्रकार काव्यकृति की शैली को उससे अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि यह शैली ही काव्यवस्तु की आत्मा है।

(उ) शैलीविज्ञान अपने व्यापक अर्थ में साहित्य में प्रतिफलित सभी प्रकार की शैलियों के अध्ययन को अपनी विषयवस्तु बनाता है पर उसका आधार-

भूत लक्ष्य काव्यवस्तु की आत्मा को पकड़ना है अतः वह मूलतः काव्यकृति की शैली को ही अपना साध्य मानता है।

इस लेख के सीमित दायरे में न तो शैलीविज्ञान की इन आधारभूत मान्यताओं का विस्तारपूर्वक विवेचन संभव है और न उसके संदर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र का सही मूल्यांकन ही। अतः हम ऊपर संकेत दिए गए पहली चार मान्यताओं के सन्दर्भ में यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय काव्यशास्त्र की चिन्तन सरणि और विश्लेषणात्मक पद्धति शैलीवैज्ञानिक मान्यताओं से कितनी निकट और कितनी दूर है।

पहले यह संकेत दिया जा चुका है कि शैलीविज्ञान की दृष्टि भाषावादी है। वह यह मानकर चलता है कि काव्य, भाषा-संरचना का ही एक सर्जनात्मक रूपान्तरण है। भाषा की प्रकृति और उसकी संरचना को समझने का अपना विज्ञान है जिसे हम 'भाषाविज्ञान' अथवा 'भाषाशास्त्र' के रूप में जानते हैं। काव्य, भाषा का ही अगर एक उपांग है (भले ही वह कितना ही विशिष्ट क्यों न हो) तो उसके अध्ययन का शास्त्र (काव्यशास्त्र) भी भाषा के अध्ययन के शास्त्र (भाषाशास्त्र) का ही एक अंग ठहरता है।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि प्रश्न भाषाशास्त्र के विभिन्न सिद्धांत, सम्प्रदाय अथवा प्रारूपों (मॉडल) का नहीं है। साहित्य सिद्धान्त की जो दृष्टि काव्यशास्त्र और भाषाशास्त्र के इस अंग-अंगी संबंध को स्वीकार कर चलेगी वह आपाततः भाषाशास्त्र के अपने सिद्धान्तों एवं प्रारूपों से प्रभावित होगी ही। यही नहीं अगर चिंतन-प्रक्रिया जीवन्त है और सिद्धान्त विकासात्मक तो न केवल भाषाशास्त्र के विकास के चरण काव्यशास्त्र से संबंधित चिन्तन में गुणात्मक विकास लाने में समर्थ होंगे अपितु काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के विकासमान चरण स्वयं भाषाशास्त्रीय चिन्तन को भी आगे बढ़ाने और नयी दिशा देने में सक्षम होंगे। खेद है कि क्रिया-प्रतिक्रिया की इस उभयगामी प्रकृति के संदर्भ में भाषा-शास्त्र और काव्यशास्त्र की चिन्तनधारा का अभी विश्लेषण प्रस्तुत ही नहीं किया गया है और न चिन्तन के इतिहास को इस द्वंद्वात्मक प्रकृति की प्रक्रिया के सन्दर्भ में ही लिखा गया है।

मूल प्रश्न यह नहीं कि आज शैलीविज्ञान, साहित्य विश्लेषण के लिए जिस भाषावैज्ञानिक सिद्धान्त अथवा प्रारूप को अपना रही है वह भारतीय काव्यशास्त्र के अध्ययन-विश्लेषण के सिद्धान्त अथवा प्रारूप थे या नहीं। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि काल और स्थानभेद के कारण भाषावैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली में भेद होगा। पर यह भेद जिस प्रकार भाषाविज्ञान के शास्त्र को नहीं बदलता और बदलता है तो केवल उस शास्त्र के 'पैराडाइम' को। उसी प्रकार भाषाविज्ञान के प्रारूपभेद (जब तक वह यह स्वीकार कर चलता है कि काव्यशास्त्र उसका एक अंग है) शैलीविज्ञान के शास्त्र (डिसिप्लिन) को नहीं बदल सकता; बदल सकता है तो केवल उनके 'पैराडाइम' को, अध्ययन के केवल आयाम और स्तर को। आज

भाषाविज्ञान के कई सिद्धान्त और प्रारूप प्रचलित हैं—संघटनात्मक, टैग्मेमिक: सिस्टेमिक, रूपान्तरण (ट्रान्सफ़ॉर्मेशनल) आदि। शैलीविज्ञान के सन्दर्भ में यह भी देखा जा सकता है कि किसी काव्यकृति के अध्ययन के निमित्त इनमें से किस प्रारूप का प्रयोग किया जा सकता है (और सम्प्रति किया भी जा रहा है)। पर इसका यह अर्थ नहीं कि भाषाविज्ञान के इन विभिन्न प्रारूपों के प्रयोग से शैली-विज्ञान का अपना शास्त्र ही खण्डित हो गया अथवा वह अपनी समन्वित दृष्टि के आधार पर अपना शास्त्र बनाने में अब समक्ष न रहा।

अत: प्रश्न यह नहीं कि काव्यशास्त्र, भाषाविज्ञान के किस सिद्धान्त अथवा प्रारूप को अपना आधार बनाता है वरन मूल प्रश्न यह है कि वह भाषाविज्ञान (अथवा भाषाशास्त्र) के किसी भी सिद्धान्त अथवा प्रारूप को अपनी काव्यदृष्टि के लिए अपनाता है या नहीं ?

प्राचीन भारतीय चिन्तन और कलाशास्त्र का थोड़ा भी अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि न केवल कलाशास्त्र की वरन सम्पूर्ण चिंतन की पीठिका वाक् है। भारतीय आचार्य यह स्वीकार कर चलते हैं कि वाक् केवल संचार का साधन मात्र ही नहीं, वरन विश्व में जो कुछ भी सत्य है, सुन्दर है उन सबका वह व्यंजक है। डॉ० मिश्र ने अपने लेख—'पाणिनीय भाषादर्शन और भारतीय चिन्तन' में इस तथ्य की ओर इन शब्दों द्वारा संकेत दिया है—'भारतीय कलाबोध की पीठिका वाक् है (सा सर्वविधशिल्पानां कलानां चोपबन्धिनी। तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते'। **वाक्यपदीय १/१२५**) क्योंकि वाक् के कारण समस्त वस्तु-जगत अनुभाव्य आकार ग्रहण करता है और भारतीय साधना की पीठिका नाम का ध्यान है। भारतीय वैयाकरणों के चिन्तन का इसीलिए भारतीय प्रज्ञा, भारतीय आनन्दबोध और भारतीय धर्मसाधना तीनों के स्तरों को व्याकृत करने में और तीनों को अनुस्यूत करने में बहुत बड़ा योगदान है।'

अगर भारतीय चिन्तन की पीठिका मूलत: वाक् है और उसके आनन्दबोध पर भारतीय वैयाकरणों के चिन्तन की गहरी छाप है तो यह सोचना भी कि काव्य-शास्त्रीय विचारसरणि पर भाषावादी चिंतन का व्यापक प्रभाव न होगा, अत्यंत भ्रामक होगा। अधिक स्वाभाविक तो यह सोचना होगा कि काव्यशास्त्र के मूल में न केवल भाषाचिंतन की अपनी प्रेरक शक्ति और समन्वित दृष्टि कार्य कर रही होगी वरन भाषाशास्त्र के विभिन्न प्रारूप अथवा सम्प्रदाय, काव्यशास्त्रीय अध्ययन को भिन्न मोड़ देने में भी सक्रिय रहे होंगे। यह तथ्य भी इस संदर्भ में द्रष्टव्य है कि काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों—रस (भरतमुनि), अलंकार (भामह, उद्भट और रुद्रट), गुण (दण्डी तथा वामन), वक्रोक्ति (कुन्तक), ध्वनि (आनन्द-वर्द्धन तथा अभिनवगुप्त), औचित्य (क्षेमेन्द्र) का आविर्भाव हो चुका था वरन उसके विभिन्न सम्प्रदाय भी बन चुके थे। यास्क, पाणिनि, व्याडि, कात्यायन आदि व्याकरणाचार्यों के भाषा-संबंधी सिद्धान्त चौथी शती ईसापूर्व प्रतिपादित हो चुके थे। अगर भरत मुनि को छोड़ दें तो पतंजलि, वसुरात (यहाँ तक कि भर्तृहरि)

आदि के भाषासिद्धान्त छठी शती तक न केवल निरूपित हो चुके थे वरन उन पर टीकाएँ भी लिखी जा चुकी थीं। यह तथ्य इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि काव्यशास्त्र का पहला सम्प्रदाय (अलंकार) व्यवस्थित रूप में भामह के काल से माना जा सकता है और विद्वान भामह के जीवनकाल को छठी शताब्दी मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि काव्यशास्त्र के चिन्तन एवं उसके सम्प्रदायों के आविर्भाव के बहुत पहले व्याकरणशास्त्र निरूपित हो चुका था और दर्शन के रूप में वह एक सशक्त चिन्तनधारा के रूप में, ज्ञान की अन्य चिन्तन सरणियों पर भी प्रभाव डालने लगा था। भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन न तो इससे अप्रभावित रह सकता था और न इससे तटस्थ रहकर फल-फूल ही सकता था।

भारतीय काव्यशास्त्र, व्याकरणदर्शन एवं उसकी प्रणाली से प्रभावित होता रहा है, यह इस तथ्य से भी पुष्ट होता है कि साहित्याचार्यों ने न केवल व्याकरण-कारों की उक्तियों का समर्थन अथवा उनको स्पष्ट शब्दों में प्रतिध्वनित किया है अपितु व्याकरणकारों को आदर के साथ स्मरण भी किया है। उदाहरण के लिए अगर भर्तृहरि यह व्यक्त करते हैं कि व्याकरण, शब्दसमूह के पुण्यतम ज्योति का ऋजु मार्ग है और शब्दसमूह के प्रकाश से ही सम्पूर्ण चर-अचर जगत दीप्यमान है[1] (**वाक्यपदीय, हरिवृत्ति टीका १/१२**) तो गुण सम्प्रदाय के समर्थक दण्डी (**काव्यादर्श १/४**) का कथन है :

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।

यह भी तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि पदार्थ विचार अथवा शब्दों के संकेतग्रह के संबंध में भारतीय काव्यशास्त्र नैयायिकों अथवा मीमांसकों का नहीं वरन वैया-करणों का ऋणी है। वैयाकरणों ने शब्द प्रवृत्ति को 'चतुष्टयी' माना है—जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा। काव्याचार्यों ने इसी विभाजन को स्वीकार किया। यही नहीं उपमा, उपमान, उपमित तथा सामान्य जैसे अलंकारशास्त्र के पारिभाषिक शब्द, पाणिनि के अष्टाध्यायी और पतंजलि के महाभाष्य में भी देखने को मिल जाते हैं। अगर ध्यान से देखें तो उपमा के 'श्रोती' तथा 'आर्थी' विभाजन तथा उसके कुछ प्रमुख उपभेदों का मूलभूत स्रोत पाणिनि के सूत्र कहे जा सकते हैं। ध्वनि-सम्प्रदाय काव्यशास्त्र का एक विशिष्ट सम्प्रदाय है जिसने परवर्ती काव्य-चिन्तन को सबसे अधिक प्रभावित किया है। डॉ० नगेन्द्र ने 'ध्वनिकाल' को रस-सिद्धान्त का स्वर्णयुग कहा है। अगर किंचित भी गहराई में जाकर देखें तो स्पष्ट

१. इस कथन का महत्त्व इस तथ्य से अधिक स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य में 'वाणी' का स्थान 'ब्रह्म' से नीचे है। ऐतरेय ब्राह्मण (१/१६) में बृहस्पति को ब्रह्म का प्रतिनिधि माना गया है और वाणी को क्षेत्र का। मैत्रायणी उपनिषद् (६/२३) में वाणी को बृहस्पति (ब्रह्म के प्रतिनिधि) से अवर स्थान दिया गया है। भर्तृहरि ने शब्द में पर-ब्रह्मत्व की कल्पना की और सम्पूर्ण विश्व को इस शब्द-ब्रह्म का 'विवर्तन' कहा। सूक्ष्म रूप में वाणी ही 'ब्रह्ममय' है, चिति तत्त्व है और स्थूलरूप में वह 'भाषा' है।

हो जाता है कि आनन्दवर्द्धन प्रणीत ध्वनि-सम्प्रदायवादी काव्यशास्त्र की मूल प्रेरक शक्ति भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित भाषा-सिद्धान्त ही रहा है। व्याकरणशास्त्र के इतिहास के सन्दर्भ में भर्तृहरि को भी उसी प्रकार युगप्रवर्तक कहा जा सकता है जिस प्रकार काव्यशास्त्र में आनन्दवर्द्धन को; भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय', आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' से कम युगान्तरकारी नहीं और न अर्थविचार के संदर्भ में उनकी 'स्फोट' की संकल्पना ही किसी भी प्रकार आनन्दवर्द्धन की 'व्यंजना' की संकल्पना से कम व्यंजक और सारपूर्ण है। सच तो यह है कि व्याकरणशास्त्र में भर्तृहरि रचित 'वाक्यपदीय' के कारण जो युगान्तरकारी मोड़ आया, वही 'ध्वनि-सम्प्रदाय' के रूप में काव्यशास्त्र को भी एक विशिष्ट दिशा देने का कारण बना।

आनन्दवर्द्धन के दो-तीन शती पूर्व भर्तृहरि ने तत्कालीन भाषाशास्त्र की सीमा की आलोचना करते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि मात्र शब्द अथवा शाब्दिक अर्थ के आधार पर भाषासिद्धान्त का निरूपण खण्डित दृष्टि का परिचायक है। उनके अनुसार पदों के पारस्परिक संसर्ग के परिणाम से आविर्भूत जो आधिक्य है वही वाक्यार्थ है अतः वाक्यार्थ अनेक पदों पर आश्रित संसर्ग का परिणाम है :

सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।
वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेक पद संश्रयम् ॥—**वाक्यपदीय २/४२**

भाषा द्वारा संकेतित जगत (पदार्थ) असत्य है पर वाक्यार्थ सत्य है। पदार्थ पृथक अर्थ रख भी सकते हैं पर वाक्यार्थ में वे अर्थ के प्रत्यायक तभी हो सकते हैं जब वे संसर्ग रूप में सिद्ध हों :

संसर्गरूपं संसृष्टेष्वर्थवस्तुषु गृह्यते ॥—**वाक्यपदीय २/४२८**

भर्तृहरि के भाषा-सिद्धान्त के अनुसार 'शब्द' की तरह 'वाक्य' भी एक भाषिक प्रतीक है। उसमें भी वाच्य और वाचक का अन्तरंग एवं अविच्छिन्न संबंध रहता है और भाषिक प्रतीक के दोनों पक्ष अमूर्त, और सामान्यीकृत (एब्स्ट्रैक्ट) होते हैं। (इसकी तुलना आधुनिक भाषाशास्त्र के जनक सस्यूर के 'भाषिक प्रतीक' (लिंग्विस्टिक साइन) की संकल्पना से करें तो एक अद्भुत साम्य पाते हैं। सस्यूर की दृष्टि में भी रूपिम, शब्द, वाक्य आदि सभी भाषा के भिन्न स्तरों पर स्थित इकाइयां हैं जो अपनी प्रकृति में अमूर्त भाषिक प्रतीक के रूप में सिद्ध रहती हैं।

अर्धाभागैस्तथा तेषामान्तरोर्ध्य प्रकाशते ॥—**वाक्यपदीय २/३१** अर्थात पूरा वाक्य, शब्द (भाषिक प्रतीक के समान) है और उसके भी दो भाग (पक्ष) हैं—अन्तःशब्दतत्त्व (अमूर्त वाचक) और अन्तःअर्थतत्त्व (अमूर्त वाच्य)। अपने 'स्फोट' सिद्धान्त के आधार पर भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया कि सम्पूर्ण वाच्य एक समन्वित भाषिक प्रतीक है; वाक्यार्थ अनेक पदों पर आश्रित संसर्ग का परिणाम होता है; वह सन्दर्भ बाधित होकर ही सिद्ध रहता है क्योंकि वाक्य मूल रूप में अविभक्त है, अखण्ड है, एक समन्वित भाषिक इकाई है तथा ऐसा संभव है कि वाक्य का अर्थ

वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों के समन्वित अर्थ से भिन्न हो।

भर्तृहरि की भाषा-संबंधी इन धारणाओं का स्पष्ट प्रभाव आनन्दवर्द्धन के ध्वनि सम्प्रदाय पर परिलक्षित होता है। डॉ० कुन्हनि राजा के शब्दों में तो आनन्दवर्द्धन ने भर्तृहरि की मान्यताओं के आधार पर ही अपनी भाषा-संबंधी धारणाओं का निर्माण किया। लेकिन उन्होंने अपने विचार को केवल काव्यपरक सौन्दर्य तक ही सीमित रखा, इसलिए भाषा प्रक्रिया की अन्य जटिल समस्याओं पर प्रकाश डालने का उन्होंने प्रयत्न नहीं किया। 'ध्वन्यालोक' में आनन्दवर्द्धन ने स्पष्ट रूप से भर्तृहरि के 'स्फोट' सिद्धान्त के प्रति अपना आभार व्यक्त किया है।

डॉ० सुशील कुमार डे (१९५६) का भी यह मत है कि ध्वन्यालोककार भर्तृहरि के व्याकरणदर्शन से प्रभावित है और उसके सिद्धान्त का बीज स्फोट सिद्धान्त के रूप में पहले ही पड़ चुका था। रामसुरेश त्रिपाठी (१९७२ : १२१-२) के शब्दों में—'भर्तृहरि ने नानात्ववाद के प्रसंग में प्रतीयमान शब्द और प्रतीयमान अर्थ का संकेत किया है। प्रतीयमान अर्थ ही आनन्दवर्द्धन का 'ध्वनिसिद्धान्त' है जिसके सहारे व्यंजनावृत्ति पल्लवित हुई है। कुछ आचार्यों का मत था कि श्रूयमाण शब्द ही सदा प्रत्यायक नहीं होता, अनुमीयमान शब्द भी प्रत्यायक होता है।' **(वाक्यपदीय २/३६२ हरिवृत्ति-हस्तलेख)**।

अनुमीयमान शब्द का भाई प्रतीयमान शब्द है। किसीने विप्रतिपत्ति उठाई थी कि प्रतीयमान शब्द अर्थ का अभिधायक नहीं हो सकता। **(वाक्यपदीय २/३६३)** इससे स्पष्ट है कि ध्वनिसिद्धान्त का बीज व्याकरण दर्शन में मिल जाता है। केवल प्रतीयमान अर्थ का ही नहीं, आनन्दवर्द्धन के अविवक्षित वाच्य आदि वादों का भी मूल भर्तृहरि के वचन हैं। भर्तृहरि ने प्रश्न उठाया है कि शब्द के प्रयोग होते हुए भी अर्थ अविवक्षित कैसे रह सकता है? स्वयं उसका उत्तर घट प्रदीप न्याय के आधार पर दिया है। **(वाक्यपदीय २/३०० हरिवृत्ति, हस्तलेख)** यह उल्लेखनीय है कि आनन्दवर्द्धन ने भी वाच्य और प्रतीयमान के प्रसंग में दीपशिखा का उदाहरण दिया है। "आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।" **ध्वन्यालोक।**[1]

१. इस स्थिति की तुलना आज के साहित्यशास्त्रियों एवं समीक्षकों की उस मनोवृत्ति से करें जो व्याकरण को 'असत्' और काव्य को 'सत्य' मानते हैं तथा व्याकरणाचार्यों को व्यवहारवादियों (साहित्यशास्त्रियों) से निम्न स्तर पर रखते हैं। यथा, राममूर्ति त्रिपाठी (१९५७/१०६) वेदान्ती तथा भर्तृहरि जैसे स्फोटवादी वैयाकरणाचार्य के अर्थ सिद्धांत की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"उक्त विचार शुद्ध पारमार्थिक दृष्टि से किया गया है, व्यावहारिक दृष्टि से नहीं किया गया है।'''व्यंजना व्यवहार दशा की वस्तु है, पारमार्थिक दृष्टि से तो उसका विचार ही नहीं है। वे ही वैयाकरण एवं वेदान्ती जब व्यवहार दशा में उतरेंगे, तब अभिधा के पैरों पर लोटेंगे। वाच्यार्थ मात्र समझने वाली मोटी बुद्धि के लोगों से सूक्ष्म बुद्धिसम्पन्न विदग्ध जनों का अन्तर सिद्ध करने के लिए व्यंजना को अगत्या स्वीकार करेंगे ही।"

'ध्वन्यालोक' के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने भी भर्तृहरि को जब स्मरण किया तब उनके लिए 'तत्रभवान्' शब्द का प्रयोग किया है। भर्तृहरि का व्याकरण दर्शन अपने समय में लोकप्रसिद्ध हो चुका था। विद्वत्समूह का झुकाव इस मत की ओर था और जनता उसे आदर की दृष्टि से देखने लगी थी—स्वयं अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य का संकेत किया है। (**ध्वन्यालोक लोचन, चौखम्भा संस्कृ, पृ० ५५३**)।

कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय काव्यशास्त्र, व्याकरणदर्शन से प्रभावित होता रहा है और व्याकरणचिन्तन में अगर कोई मोड़ आया है तो उसका प्रत्यक्ष प्रभाव काव्यशास्त्र पर भी देखने को मिलता है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने मान्य व्याकरणाचार्यों को न केवल आदर के साथ स्मरण किया और उनके विशिष्ट कथनों को प्रतिध्वनित किया है वरन उनके सिद्धान्तों के आधार पर अपनी चिन्तन पद्धति और विश्लेषण प्रणाली का विकास भी किया है।

किसी एक शास्त्र का दूसरे शास्त्र से प्रभावित होना एक बात है और उसका किसी अन्य शास्त्र का अंग बनना अथवा किसी दूसरे शास्त्र के व्यापक संदर्भ में परिभाषित होना एकदम दूसरी बात है। जैसा पहले संकेत दिया जा चुका है कि शैलीविज्ञान, यह स्वीकार कर चलता है कि साहित्यशास्त्र, वस्तुतः भाषाशास्त्र का एक उपांग है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या भारतीय काव्यशास्त्र भाषा-चिन्तन एवं उसकी प्रणाली से मात्र प्रभावित ही होता रहा है अथवा वह शैलीविज्ञान की धारणा के अनुसार अपने को भाषाशास्त्र का उपांग भी मानता है?

काव्यशास्त्र-सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री में भरतमुनिरचित 'नाट्यशास्त्र' प्राचीनतम ग्रंथ है। पर यह ग्रंथ मूलतः ललितकलाओं का शास्त्र है जिसमें प्रमुखता नाट्यकला की है। आनुषंगिक रूप में हम अलंकार (काव्य) शास्त्र, संगीतशास्त्र, छन्दशास्त्र आदि की भी विवेचना अथवा उनके मूल सिद्धान्तों की चर्चा पाते हैं। जिस 'रस' की संकल्पना को हम बाद में काव्यशास्त्र के संदर्भ में विकसित एवं निरूपित देखते हैं, भरतमुनि की विवेचना के सन्दर्भ में उसे नाट्याश्रित ही पाते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि जिस 'अलंकारशास्त्र' या 'रस' का विवेचन हमें 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है वह न तो काव्यशास्त्र के रूप में एक स्वतंत्र शास्त्र का विषय है और न उसका चिन्तन ही भाषा के किसी व्यापक संदर्भ में हुआ है।

भामह पहले आचार्य हैं जिन्होंने न केवल काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतंत्रता से मुक्त किया वरन उसे भाषा के व्यापक संदर्भ में निरूपित किया। उन्होंने साहित्य (काव्य) की व्यापक परिभाषा के रूप में उसे शब्द और अर्थ के युगल सम्बन्धों के रूप में देखा—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं'। भामह ने जब काव्य को 'शब्दार्थौ सहितौ' कहा तो इसका यही तात्पर्य निकलता है कि वह काव्य को भाषा की व्यापक पृष्ठभूमि में परिभाषित करना चाहते थे अन्यथा 'भाषा' और 'काव्य' का भेद उन्हें स्पष्ट था। भामह के अनुसार सामान्य 'शब्दार्थ' तो मात्र 'वार्ता' है, वह केवल एक भाषिक (व्याकरणिक) यथार्थ है पर मात्र 'वार्ता'

(शब्दार्थ) साहित्य बनने की क्षमता नहीं रखता। वह तो केवल सामान्य कथन है, यथा :

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येत्मेववादि कि काव्यं? वार्तामेनांप्रचक्षते। **काव्यालंकार २/८७**

अर्थात सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा चमकता है, पक्षी अपने बसेरों में लौट जाते हैं—आदि कथन तो सामान्य हैं, वे वार्ता मात्र हैं। उनमें काव्य (का सौन्दर्य) कहाँ? भामह ने काव्य को लक्ष्य रूप में 'अतिशय उक्ति' अथवा शब्दार्थ की 'रमणीयता' के रूप में ग्रहण किया है। काव्य-विश्लेषण की प्रणाली के रूप में उन्होंने काव्य को 'लोकातिक्रान्तगोचरं' वचन के रूप में देखा।

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरं।
मन्यतेऽतिशयोक्ति तामलंकारतया यथा। **काव्यालंकार २/८१**

भामह के अनुसार 'लोकातिक्रान्तगोचरं' वचन ही 'अतिशय उक्ति' है और यह अतिशय उक्ति ही काव्य की रमणीयता है, उसका अलंकार (अथवा प्राण-शक्ति) है। वही 'वक्रोक्ति' है जो उसे सामान्य कथन अर्थात 'वार्ता' से अलग कर देती है। इस वक्रोक्ति के अभाव में काव्यसौन्दर्य की प्रतीति कहाँ?

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना।
—**काव्यालंकार २/८५**

स्पष्ट है भामह का काव्यशास्त्रीय चिन्तन पहले काव्य को सामान्य भाषा के व्यापक संदर्भ में परिभाषित करता है—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं', तदुपरान्त उसकी विशिष्टता को भी भाषा के आधार पर ही यह संकेत देकर समझना-समझाना चाहता है कि यद्यपि सभी काव्यात्मक उक्तियाँ भाषिक होती हैं पर सभी भाषिक कथन काव्यात्मक उक्तियाँ नहीं होतीं क्योंकि 'वार्ता' और 'काव्य' में स्पष्ट भेद है। काव्यात्मकता के विश्लेषण के लिए जिस 'अलंकार' की कल्पना को प्राण-भूत शक्ति के रूप में उसने मान्यता दी है वह भी भाषा-सन्दर्भित है क्योंकि 'वक्रोक्ति' (अथवा अतिशय उक्ति) के बिना काव्य संभव नहीं। इस दृष्टि के अनुसार वक्रोक्ति और कुछ नहीं अपितु 'लोकातिक्रान्तगोचरं वचन' होने के कारण लोक में व्यवहार्य सामान्य कथन (वार्ता) का ही अतिक्रमण है।

शैलीविज्ञान की आधुनिक दृष्टि के साथ इस काव्यचिन्तन की तुलना करने पर एक अद्भुत साम्य देखने को मिलता है। शैलीविज्ञान की मान्यता के अनुसार, "कविता के 'विशिष्ट' एवं 'असामान्य' अर्थ को पकड़ने के लिए काव्यभाषा एक 'विशिष्ट' शैली का प्रयोग करती है। 'विशिष्टता' को सामान्य के अतिक्रम के रूप में ही परखना संभव है क्योंकि 'विशिष्ट' और 'सामान्य' सापेक्षिक प्रत्यय हैं और सामान्य का परिचय सहज साध्य होता है। भाषा का सामान्य रूप बोलचाल की भाषा पर आधारित होता है। अतः कविता की भाषा-शैली को सामान्य बोलचाल की भाषा की संघटना के अतिक्रम के रूप में ही देखना तर्कसम्मत है।" (**श्रीवास्तव,**

१९७२,५३), रेब्जिन (१९६५), तोपोरोव (१९६२), सोल सपोर्टा (१९६०) आदि विद्वान भी काव्य को सामान्य कला के अंग के रूप में देखने की अपेक्षा उसे भाषा के विशिष्ट प्रयोग के रूप में देखने के समर्थक हैं और काव्य के भाषागत वैशिष्ट्य को भाषा के सामान्य नियम (नॉर्म) के अतिक्रमण के रूप में परिभाषित करने के पक्ष में हैं। काट्स (१९६४) ने इस अतिक्रम के लिए सामान्य भाषा के सामान्य 'व्याकरण' के सन्दर्भ में एक 'काउंटर' व्याकरण की आवश्यकता व्यक्त की है। ओहमान (१९६४) और थार्न (१९६५) इस अतिक्रम के सिद्धान्त को रूपान्तरण व्याकरण के 'सेलेक्शनल रेस्ट्रिक्शन' नियम के सन्दर्भ में प्रतिस्थापित करना चाहते हैं। लेविन (१९५८) के अनुसार इस अतिक्रम को काव्य के बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही स्तरों पर देखना अपेक्षित है।

भामह ने जिस 'अतिशय उक्ति' को 'वक्रोक्ति' एवं 'लोकातिक्रान्तगोचरं वचन' कहकर परिभाषित किया और जिसे काव्य की प्राणभूत शक्ति (अलंकार) के रूप में मान्यता प्रदान की उसका चरम विकास हम कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवितं' में पाते हैं। कुन्तक के अनुसार भी काव्य, शब्द (वाचक) और अर्थ (वाच्य) के मंजुल सम्बन्धों पर आधारित है। पर सामान्य अभिधा के जिस अतिक्रमण के कारण वह विशिष्ट होता है वह 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' होता है। और यह 'वैदग्ध्य' अलंकार्य के दोनों ही स्तर—बाह्य (शब्द) और आन्तरिक (अर्थ), पर देखा जा सकता है :

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ॥
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते ॥—**व०जी०, १/१०**

इसमें सन्देह नहीं कि कुन्तक ने काव्य को 'सहृदयों को आह्लाद देने वाला बन्ध' कहा है पर उसके साथ ही उन्होंने उसे शब्द और अर्थ के उस विशिष्ट संबंधों के आधार पर निरूपित किया है जो कवि के वक्रव्यापार से युक्त होता है :

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी ॥—**व० जी, १/७**

यह ध्यान देने की बात है कि भामह ने काव्य की विशिष्टता को 'वार्ता' के सन्दर्भ में समझाया है। काव्य को 'विचित्र अभिधा' कहकर कुन्तक ने इसे शब्द-शक्तियों के सन्दर्भ में रखा है। 'विचित्र अभिधा' भी उसी प्रकार 'लोकोत्तर-चमत्कारकारि', 'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि', 'प्रसिद्धप्रस्थान-व्यतिरेकि' और 'अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणि' है जिस प्रकार भामह की अतिशय उक्ति 'लोकातिक्रान्तगोचरं' है।[1]

१. कुन्तक अभिधा के वैचित्र्य को 'विन्यास वैचित्र्य' मानते हैं और विन्यास के वैचित्र्य को कृति में प्रयुक्त भाषा-स्तर के संरचना भेद के आधार पर निरूपित करते हैं। उनके अनुसार 'विन्यास वैचित्र्य' वक्रोक्ति को निम्नलिखित छह स्तरों पर विश्लेषित किया जा सकता है : (इस टिप्पणी का शेष भाग अगले पृ० पर देखें)

इसमें सन्देह नहीं कि 'कुन्तक' ने भामह के काव्यशास्त्रीय लक्षण की न केवल व्याख्या प्रस्तुत की वरन उसको विश्लेषणगम्य भी बनाया। विश्लेषण के लिए उन्होंने भाषा-संरचना के जितने स्तरों अथवा उपस्तरों की स्थापना की उनके नामकरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे उनको भाषाशास्त्रीय उपकरणों से युक्त और भाषा-चिंतन से संदर्भित करने के पक्ष में हैं। साथ ही उनके द्वारा संकेतित वक्रता के भिन्न स्तरों की प्रकृति से स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि काव्यशास्त्र को वे न केवल 'सिद्धांत' के रूप ग्रहण करते हैं वरन उसे 'विश्लेषणात्मक प्रणाली' के रूप में भी विकसित करना चाहते हैं। सिद्धांत के साथ ही साथ प्रणाली के रूप में काव्यशास्त्र को विकसित करने के लिए वे कितने उत्सुक थे, यह उनके इस कथन से स्पष्ट व्यक्त हो जाता है :

"यह साहित्य इतने असीम समय की परम्परा में केवल साहित्य शब्द से प्रसिद्ध ही रहा है। कविकर्म कौशल के कारण रमणीय इस (साहित्य शब्द) का यह वास्तविक अर्थ है, इस बात का आज तक किसी विद्वान ने तनिक भी विचार नहीं किया। इसलिए सरस्वती के हृदयारविन्द के मकरन्द-बिन्दुसमूह से सुन्दर कवि-वचनों के आंतरिक आमोद से मनोहर रूप में प्रस्फुटित होने वाले इस (साहित्य) को सहृदय-मधुपों के सामने प्रकट करते हैं। (अर्थात साहित्य शब्द का प्रयोग अब तक काव्य आदि के लिए होता रहा है, परंतु इसके वास्तविक अर्थ का प्रकाशन अब तक किसी भी विद्वान ने नहीं किया। अब तक इसका रसास्वादन ही हुआ है, विश्लेषण-विवेचन नहीं।" (हिन्दी वक्रोक्ति जीवितं, १६वीं कारिका की वृत्ति)।

स्पष्ट है—कुन्तक के मत में साहित्य का रसास्वादन एक चीज है और उसका विश्लेषण-विवेचन उससे भिन्न दूसरी चीज; साथ ही साहित्य के वास्तविक अर्थ का प्रकाशन 'रसास्वादन' अथवा रस-प्रक्रिया के सन्दर्भ में संभव नहीं। साहित्य के सही अर्थ को जानने के लिए शब्द और अर्थ के उस विशिष्ट सहभाव को पहचानना आवश्यक है जो वक्रता-वैचित्र्य से युक्त रहता है, और इस वक्रता-वैचित्र्य को उद्घाटित करने के लिए उसका विश्लेषण-विवेचन आवश्यक है, जो भाषाशास्त्री प्रणाली पर आधारित होकर ही 'वस्तुवादी' रह सकता है।

भामह ने काव्यशास्त्र के लिए जिस भाषावादी व्यापक पृष्ठभूमि की कल्पना

---

१. वर्णविन्यास वक्रता, २. पदपूर्वार्द्ध वक्रता, ३. पदपरार्द्ध वक्रता, ४. वाक्य वक्रता, ५. प्रकरण वक्रता, ६. प्रबन्ध वक्रता।

इन प्रमुख छह भेदों के भी अनेक प्रभेद कुन्तक ने दिखलाए हैं। उदाहरण के लिए पद पूर्वार्द्ध वक्रता के आठ मुख्य प्रभेद हैं :

१. रूढ़िवैचित्र्य वक्रता, २. पर्याय वक्रता, ३. उपचार वक्रता, ४. विशेषण वक्रता, ५. संवृति वक्रता, ६. वृत्ति वक्रता, ७. लिंग-वैचित्र्य वक्रता, और ८. क्रिया-वैचित्र्य वक्रता। इसी प्रकार पदपरार्द्ध वक्रता के छह मुख्य प्रभेद 'वक्रोक्तिजीवितम्' में निरूपित हैं—१. काल वैचित्र्य वक्रता, २. कारक वक्रता, ३. संख्या वचन वक्रता, ४. पुरुष वक्रता, ५. उपग्रह वक्रता, ६. प्रत्यय वक्रता।

की उसे केवल वक्रोक्तिवाद के प्रतिपादक कुन्तक ने व्यावहारिक और विश्लेषण-गम्य नहीं बनाया। कुन्तक के पूर्व अलंकार सम्प्रदाय के समर्थक दण्डी, उद्भट, रुद्रट और रीति सम्प्रदाय के प्रतिपादक वामन ने भी एक सीमा तक इस भाषावादी काव्यशास्त्र की चिन्तनधारा को विकसित और परिष्कृत कर लिया था। भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' उक्ति के समान ही अलंकारवादी रुद्रट भी यह मानते हैं कि शब्दार्थ ही काव्य का मूलाधार है—'शब्दार्थौ काव्यं'। इसी प्रकार अगर अलंकारवादी दण्डी अलंकार को काव्य के शोभाकारी धर्म मानते हैं ('काव्यशोभा-करान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श २/१) तो वे उसे 'इष्टार्थ-व्यवच्छिन्न पदावली' के भाषावादी आधार पर प्रतिस्थापित भी करते हैं। रीति सम्प्रदाय के प्रतिपादक आचार्य वामन 'रीति' को काव्य की आत्मा मानते हैं ('रीतिरात्मा काव्यस्य') और 'रीति' को गुणों के आधार पर प्रतिस्थापित करना चाहते हैं क्योंकि उनके अनुसार काव्यशोभा के मूलभूत धर्म गुण हैं (अलंकार नहीं); अलंकार तो उसके अतिशय करने वाले धर्म हैं—(काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः) लेकिन इसके साथ ही वे गुणों को शब्द और अर्थ के संबंधों के व्यापक आधार पर ही निरूपित करते हैं और रीति को 'पदों की विशिष्ट पद-रचना' कहकर परिभाषित करते हैं।—'विशिष्टपदरचना रीतिः'। (का० सूत्र, १/२/७)

यही नहीं रस-सम्प्रदाय के समर्थक भी काव्य को भाषावादी संदर्भ के साथ ही ग्रहण करते हैं। जो यह मानते हैं कि काव्य की आत्मा 'रस' है वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वह काव्य की शक्ति नहीं, वरन उस शक्ति का फल है। रस काव्य का उद्देश्य या प्रयोजन है (स्वयं काव्य की आत्मा नहीं।) आत्मा का निवासस्थल तो स्वयं काव्य ही हो सकता है। इसीलिए ध्वन्यालोककार ने काव्य की आत्मा को 'ध्वनि' माना है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' (पृ० २)। ध्वनि, भाषा का गुण है, और उसे शब्द (भाषा) शक्तियों के आधार पर ही समझा जा सकता है। अतः आनन्दवर्द्धन के अनुसार विद्वानों में सर्वप्रथम 'वैयाकरण' आते हैं (प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः) और व्याकरण सभी विधा के मूल में है (व्याकरण-मूलत्वात् सर्वविधानां—ध्वन्यालोक, पृ० ४७)

ध्वनि-सम्प्रदाय भी काव्य को 'शब्दार्थ' के आधार पर ही विश्लेषित करना चाहता है; वह भी भाषा और व्याकरण से संदर्भित कर ही काव्यशास्त्र का निरूपण करने के पक्ष में है पर इसके साथ ही वह अर्थ के क्षेत्र का व्यापक विस्तार करने का आग्रही भी है। वह काव्यार्थ की सीमा को केवल वाच्यार्थ तक सीमित करने के पक्ष में नहीं। अतः शब्द-शक्तियों के रूप में वह अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना की भी उद्भावना करता है। वह यह मानकर चलता है कि यद्यपि काव्य में अर्थ वाच्यपरक भी होता है और प्रतीयमान भी पर प्रतीयमान अर्थ ही मूलतः काव्यात्मा से सम्बद्ध होता है। लेकिन प्रतीयमान अर्थ शाब्दिक अर्थ से कहीं अधिक गहरा, उससे कहीं अधिक व्यापक होता है इसलिए उसे वाचक शब्द के संदर्भ में

नहीं अपितु पूरे काव्य के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। ध्वनि सम्प्रदाय, अपने पूर्ववर्ती सम्प्रदायों से इस आधार पर भी अलग किया जा सकता है कि वह अर्थग्रहण के लिए व्यक्तिगत शब्दों को नहीं वरन भाषा की बड़ी इकाइयों को अपना आधार बनाता है।

काव्यशास्त्रीय चिन्तन में आनन्दवर्द्धन का सर्वाधिक महत्त्व इस तथ्य में है कि उन्होंने ध्वनि को रस-सिद्धान्त के व्यापक संदर्भ में देखने का प्रयास किया। उन्होंने ध्वन्यालोक (पृ० १६३) में स्पष्ट स्वीकार किया है कि उनका लक्ष्य मात्र ध्वनि-सिद्धांत की प्रतिस्थापना ही नहीं है वरन ध्वनि का रस-सिद्धांत के साथ सामंजस्य स्थापित करना भी है। यह सत्य है कि आनन्दवर्द्धन रस को भावों के परिज्ञान के रूप में न देखकर उसका संबंध 'सहृदय' की 'चित्तवृत्ति' से जोड़ते हैं पर इसके साथ यह भी सच है कि उनका लक्ष्य मूलतः आर्थी (सिमेण्टिक) पक्ष के संदर्भ में काव्य-लक्षण की प्रकृति का निरूपण करना है। वे काव्य के अर्थ की व्यापकता को सार्वकालिक (यूनिवर्सल) लक्षण के संदर्भ में साधारणीकृत करके एक निश्चित पद्धति (सिस्टम) में रखना चाहते हैं। वे (काव्य) भाषा के आर्थी स्तर के मनो-वैज्ञानिक पक्ष ढूंढ़ने के लिए भी उद्यत दीखते हैं इसलिए 'सहृदय' की चित्तवृत्तियाँ उनके लिए वे संदर्भगत उपकरण (या पैरामीटर) हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में वे सामान्य भाषा और काव्यभाषा की आर्थी असमानता का विवेचन और काव्यात्मकता के आधारभूत गुणों का उद्घाटन करते हैं।

'सहृदय की चित्तवृत्तियाँ' (भाव/रस) आदि आर्थी पक्ष के संदर्भगत उपकरण हैं। यह इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्द्धन ध्वनि (व्यंग्यार्थ) को काव्यात्मा मानते हैं और उनके लिए 'रसादि ध्वनि' वस्तुतः तीन प्रकार की ध्वनियों (रसादि, अलंकार और वस्तु) में से एक प्रकार की ध्वनि है। साथ ही चित्र काव्य के संदर्भ में वे अपनी ही उठाई शंका से सहमत दीखते हैं कि 'सभी काव्य इस विश्व की किसी-न-किसी वस्तु का वर्णन हैं। काव्य में वर्णित सभी वस्तुएँ किसी-न-किसी रस अथवा भाव के विभाव के रूप में रहती हैं। क्योंकि रस और भाव, और कुछ नहीं वरन चित्तवृत्तियाँ ही हैं अतः विश्व में ऐसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती जो चित्तवृत्तियों के जन्म के कारण न हो। अतः विभिन्न वस्तुओं के वर्णन को समाहित करने वाला काव्य अनिवार्यतः रसयुक्त होता है। इसलिए रसविहीन चित्र काव्य की संकल्पना ही असंभव है।' (ध्वन्यालोक, पृ० ४९५-७)

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय के प्रवर्तक शैलीविज्ञान की इस मान्यता से सहमत रहे हैं कि काव्यशास्त्र, भाषा के संदर्भ में ही निरूपित हो सकता है; काव्य शब्दार्थ के मंजुल और विशिष्ट सम्बन्धों के आधार पर ही परिभाषित किया जा सकता है; और काव्य-विश्लेषण के लिए व्याकरणिक (भाषिक) उपकरणों को ही मूलतः साधन रूप में ग्रहण करना अपेक्षित है।

काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय, शब्दार्थ की विशिष्टता को समझने के लिए

प्रयुक्त भिन्न भाषिक उपकरणों के बीच किसी एक को मूलभूत उपकरण मानने के परिणाम हैं। वे काव्यात्मा के विवेचन के सन्दर्भ में उस 'तत्त्व' के अनुसंधान के परिणाम हैं जिसकी सत्ता काव्य में 'काव्यत्व' की प्रतिस्थापना करती है। यह तथ्य विशेष महत्त्व का है कि काव्यात्मा के जिस 'तत्त्व' को जिस भी सम्प्रदाय ने काव्य-सिद्धान्त अथवा काव्य-विश्लेषण के लिए अपना साध्य बनाया (अलंकार, रीति (गुण), वक्रोक्ति, ध्वनि आदि) उसकी प्रकृति उन्होंने मूलतः भाषिक ही स्वीकार की।

इसके साथ यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि 'प्राचीन भारतीय उच्चतर-संस्कृति (अमूर्त और अभौतिक संस्कृति) की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उसमें बौद्धिकता की जितनी व्याप्ति है, उतनी ही तीव्र अभिलाषा। उसमें सिद्धान्तों की तर्कसंगत स्थापना तथा तथ्यों के विश्लेषण और वर्गीकरण आदि करने की है।' (**एमेन्यू : ४५६**) अमेरिका के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री एमेन्यू के अनुसार—'प्राचीन भारतीय व्याकरणिक अध्ययनों में भी बौद्धिकता का वही स्तर दृष्टिगोचर होता है जो अन्य शास्त्रों या दर्शनों में दृष्टिगोचर होता है तथा व्याकरणिक अध्ययन, जो साक्षात्कृत 'वेद' को यथावत सुरक्षित रखने के मौलिक प्रयोजन से प्रेरित होकर प्रारंभ हुए थे, आगे चलकर भारतीय मनीषा की उपलब्धि के अन्यतम रूप में सिद्ध और प्रसिद्ध हुए।...इसीलिए वे हजारों वर्ष पहले 'व्याकरण' के लिए व्याकरण बनाने में प्रवृत्त हुए थे।...वस्तुतः पाणिनि के समय में ही विज्ञान 'धार्मिकता' से मुक्त और स्वतंत्र हो गया था, तथा जैसा कि पहले कहा जा चुका है उसका व्याकरण 'व्याकरण के लिए लिखा गया व्याकरण था।' (**एमेन्यू : ४५७**)

भारतीय काव्यशास्त्र का आविर्भाव पाणिनि काल के बहुत बाद आविर्भूत हुआ। वह उसी भारतीय चिन्तन की देन है जो अपनी दृष्टि में वस्तुपरक और प्रणाली में तर्कसंगत है; वह भी बौद्धिकता के एक उच्चतर आयाम की सृष्टि करता है तथा 'काव्यशास्त्र के लिए' काव्यशास्त्र बनाने का परिणाम है। पर इसके साथ ही वह काव्यशास्त्र के उस उचित संदर्भ को कभी भी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करता जो अपनी प्रकृति में वस्तुवादी और चिन्तन में भाषावादी रहा है।

अगर भामह ने काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतंत्रता से मुक्त कराया तो अभिनवगुप्त ने 'रस' को नाट्यशास्त्र के सीमित क्षेत्र से निकालकर उसका व्यापक प्रसार करते हुए एक बार फिर काव्यशास्त्र के नियामक तत्त्व के रूप में प्रतिस्थापित किया। उन्होंने 'रस' की सत्ता को काव्य के उस गुरुत्वाकर्षक शक्ति के रूप में स्वीकार किया जिसकी ओर काव्य के सभी अन्य उपादान—अलंकार, रीति, गुण आदि—न केवल अपने-आप खिंच जाते हैं वरन जिसके सन्दर्भ में ही वे अपनी सार्थकता की सिद्धि पा सकते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार रस-ध्वनि ही काव्यात्मा है तथा वस्तु और अलंकार ध्वनि के उद्देश्य एवं प्रकार्य का रसध्वनि में स्वयमेव पर्यवसान हो जाता है। रस-ध्वनि को काव्यात्मा मानने की इसी धारणा का प्रतिफलन पण्डितराज जगन्नाथ की इस उक्ति में होता है—'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' अथवा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'।

रसवादी साहित्यशास्त्री वस्तुतः काव्यात्मकता के केन्द्रक (लोकस) काव्य-कृति को न मानकर 'प्रेक्षक' या 'पाठक' को मानते हैं। काव्यात्मकता स्थित 'कहाँ' रहती है—इस प्रश्न के उत्तर में कई स्थान नियत किये जा सकते हैं—कवि, काव्यकृति अथवा पाठक। रस को काव्य की आत्मा मानने वाले कलाशास्त्री वस्तुतः पाठक (या प्रेक्षक) को ही कला का केन्द्रक मानते हैं। रस तो आस्वाद्य है 'रस इति कः पदार्थः ? आस्वाद्यत्वात्...' (**नाट्यशास्त्र ६/२६**) वह बिना सहृदय या रसिक के प्रतिफलित ही नहीं हो सकता। चाहे 'रस' कहिए या 'चमत्कारनिवेश', 'रसना', 'आस्वाद', 'भोग', 'सभापति', 'लय' अथवा 'विश्रान्ति', ये सभी सहृदय के अलौकिक अनुभव के साक्ष्य पर आधारित हैं। इसका अगर कोई प्रमाण है तो विश्वनाथ के अनुसार वह 'सहृदय' ही हो सकता है (**साहित्यदर्पण ; III, २०**) अतः रस मम्मट के अनुसार 'अनुभव-साक्षिक' है। अगर रस 'अनुभव साक्षिक' है तो निश्चित ही उसकी सत्ता 'सहृदय' में है और अगर काव्य की आत्मा यह 'रस' है तो यह आत्मा काव्य में स्थित न होकर सहृदय (पाठक या प्रेक्षक) में केन्द्रस्थ है।

अभिनवगुप्त ने अपने साहित्य-सिद्धान्त के आधार पर काव्यात्मकता के केन्द्रक को काव्यकृति से हटाकर सहृदय बना दिया और अपने पक्ष को इतनी सबलता और परिपूर्णता के साथ रखा कि परवर्ती विद्वान इस मत की उपेक्षा न कर सके। रस-सिद्धान्त की धारा आगे चलकर इतने प्रवाह के साथ आगे बढ़ी कि इस सहृदय के केन्द्रक को बदलने वाले साहित्य सिद्धान्त को आज (डॉ० डे जैसे) कुछ विद्वान प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त मानते हैं अथवा (डॉ० नगेन्द्र प्रभृत) कुछ विद्वान इसके विरोधी सभी सम्प्रदायों को देहवादी की संज्ञा दे बैठते हैं।

पर अभिनवगुप्त ने जिस 'ध्वन्यालोक' की टीका के रूप में 'लोचन' में अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया उसके प्रणेता के मत में रस की सत्ता काव्य के लिए आवश्यक तो है पर काव्यात्मकता का नियामक तत्त्व रस नहीं वरन 'ध्वनि' है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'। अतः उनके अनुसार न केवल रसध्वनि अपितु वस्तु और अलंकार ध्वनि भी काव्यात्मकता की नियामक शक्ति है। 'ध्वन्यालोककार' काव्यात्मकता का केन्द्रक काव्यकृति ही स्वीकार करते हैं अतः वे शब्द-अर्थ के सम्बन्धों की उपेक्षा करने के पक्ष में नहीं क्योंकि वे ही तो व्यंग्य के व्यंजक हैं। वे यह मानते हैं कि गुण, अलंकार आदि (जो व्यंजक-तत्त्व हैं) की सार्थकता व्यंग्य के साथ उनके सम्बन्धों की प्रकृति पर निर्भर करती है पर व्यंग्य की सिद्धि के साधन के रूप में उनकी सत्ता काव्यकृति में स्वयमेवसिद्ध रहती है। रसवादी आलोचकों ने काव्यात्मकता के केन्द्रक को काव्यकृति से स्थानान्तरित कर सहृदय (पाठक) में सीमित कर ध्वनि सिद्धान्त के आचार्य के काव्यशास्त्र की इस व्यापक पृष्ठभूमि—वस्तुवादी दृष्टिकोण और भाषिक चिन्तन को, सीमित कर आत्मवादी विचारसरणि में रूपान्तरित कर दिया। यह इसी रूपान्तरण का परिणाम है कि बाद में चलकर साहित्यशास्त्रियों ने 'काव्यास्यात्मा ध्वनिः' जैसी वस्तुवादी एवं भाषासन्दर्भित परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष देखना शुरू कर दिया और अविवक्षित वाच्य की बात

तो छोड़िए, संलक्ष्य क्रम व्यंग्य को भी काव्यात्मा मानने से इनकार कर दिया।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कुन्तक जैसे देहवादी आचार्य और आनन्दवर्द्धन जैसे रसवादी आचार्य की न तो अन्तर्दृष्टि में कोई मूलभूत अन्तर है और न भाषासंदर्भित चिन्तन पद्धति में ही आधारभूत विभेद है। कुन्तक काव्य में व्यंग्यार्थ की सत्ता के विरोधी न थे। उन्होंने प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को न केवल स्वीकार किया है अपितु 'विचित्र' मार्ग के अन्तर्गत वाक्यार्थ की प्रतीयमानता का सूक्ष्म विवेचन भी किया है। प्रतीयमान रूपक, प्रतीयमान व्यतिरेक, औपम्यगम्य प्रतीयमान उपमा आदि सभी व्यंग्यमुखेन वक्रोक्ति के उदाहरण कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार यद्यपि 'परिवृत्ति' को कुन्तक अलंकार्य मानते हैं पर उसके साथ उनका यह भी निर्देश है कि प्रतीयमानता मात्र अलंकरण नहीं होती; वह अलंकार्य वस्तु की द्योतिका भी होती है। कुन्तक और आनन्दवर्द्धन की अन्तर्दृष्टि की इस समानता को देखकर ही संभवतः महिमभट्ट ने यह संकेत दिया कि अगर कुन्तक की वक्रोक्ति की संकल्पना का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो वह व्यंजना से भिन्न नहीं दिखाई पड़ेगी।

वक्रोक्तिवाद पर महिमभट्ट की यह आलोचनात्मक उक्ति वस्तुतः वक्रोक्तिवाद की उस व्यापक दृष्टि को ही व्यंजित करती है जिसके भीतर ध्वनि के सभी प्रमुख भेद और उपभेदों का अन्तर्भाव मिल जाता है। पर अन्तर्दृष्टि एवं लक्ष्य की इस एकता के बावजूद देहवादी कुन्तक और आत्मवादी आनन्दवर्द्धन में विश्लेषणात्मक पद्धति एवं व्याख्यात्मक सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण विभिन्नता है। एक की दृष्टि अगर वस्तुपरक है तो दूसरे की आत्मपरक; एक भाषा के उपकरणों के आधार पर ही प्रतीयमानता की व्याख्या करने के पक्ष में है तो दूसरा प्रतीयमानता को मनोविज्ञान के सन्दर्भ में व्याख्यायित करने का अनुमोदक है, एक 'अभिधा' के भीतर ही व्यंजना का अन्तर्भाव कर लेता है तो दूसरा अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्ति से अनुपलब्ध पर शब्दप्रमाण से प्राप्त व्यापार के रूप में उसे सिद्ध करना चाहता है। अतः यह कथन सर्वथा उचित है कि 'काव्य के जिन सौन्दर्यभेदों की आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के द्वारा आत्मपरक व्याख्या की थी, उन सभीको कुन्तक ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना ही थी।'

यह बात नहीं कि जिन्हें देहवादी या रूपवादी आचार्य कहा जाता है उन्होंने 'काव्यात्मा' की बात न की हो अथवा काव्य के सारतत्त्व अथवा उसकी मूल शक्ति की चर्चा न उठाई हो। काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के अभ्युदय के पीछे की कहानी ही यही रही है कि उनके प्रवर्तक आचार्यों ने काव्यात्मा को न केवल भौतिक ढंग से निरूपित किया वरन अपनी मान्यता के अनुसार उसकी 'शक्ति' को परिभाषित भी किया। किसीने 'अलंकार' को मूल शक्ति माना और किसीने 'रीति' को काव्यात्मा कहा; किसीने 'गुण' को 'सारतत्त्व' कहा और किसीने 'वक्रोक्ति' को। पर ये सभी तथाकथित देहवादी आलोचक इस तथ्य के समर्थक

रहे कि काव्यात्मकता का केन्द्रक (लोकस) काव्यकृति है, पाठक (या सहृदय) अथवा कवि नहीं। यहाँ तक कि जो कुन्तक, काव्य को कवि व्यापार के रूप में देखने के समर्थक हैं और जो उसका लक्ष्य 'आह्लादकारिणी' मानते हैं वे भी काव्य शरीर और काव्यात्मा का भेद सामने रखते हुए शब्द और अर्थ को काव्य शरीर (अलंकार्य) के रूप में ग्रहण करते हैं और वक्रोक्ति को काव्यात्मा के रूप में।

सच तो यह है कि इन तथाकथित देहवादी आचार्यों ने न तो 'काव्यात्मा' की खोज और उसकी चर्चा से कभी अपना सम्बन्ध तोड़ा है और न कविता के हृदय पक्ष की ही कभी उपेक्षा की है। उदाहरण के लिए भामह 'काव्यपाक' (जो काव्य की सिद्धदशा के रूप में ग्रहीत है) को दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं—अहृद्य (कपित्थ पाक) और हृद्य। अहृद्य पाक की धारणा पहले से ही प्रचलित थी जिसके अनुसार सुबन्त एवं तिङन्त पदों के समुचित संयोग का परिणाम ही काव्यार्थ माना जाता था। भामह के अनुसार यह असुकुमार मार्ग है; हृदय के रंजन में असमर्थ है अतः इसे काव्यपाक न कहकर 'सौशब्द्य' ('सुशब्दता' अथवा सुन्दर शब्दों का विलास) कहना अधिक उचित होगा।

आज शैलीविज्ञान यह मानता है कि 'शैली' की संकल्पना के मूल में 'चयन का सिद्धान्त' (थियरी ऑव सेलेक्शन) काम करता है। चयन की इसी संकल्पना को आधार बनाते हुए भामह, काव्यपाक को 'पदनिवेश निष्कम्पता' के रूप में देखते हैं। इसी पदस्थैर्य के नियामक की खोज के परिणामस्वरूप वामन काव्यपाक को 'परिवृत्ति विमुखता' के सन्दर्भ में परिभाषित करते हैं अर्थात पदस्थैर्य तभी संभव है जब पद का पर्याय शब्दों द्वारा स्थानान्तरित करना असंभव हो, और न ही उसकी रूप च्युति करना ही संभव हो।

यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥—**काव्यालंकार १/३/१५**

अतः भामह के अनुरूप ही वामन भी काव्यपाक को दो वर्गों में विभाजित करते हैं—वृन्ताक पाक (जो सुप, लिङ्; नाम, क्रियापद का समुचित संयोग है पर जहाँ गुण, अस्फुट रहते हैं) और सहकार पाक (जो पदों की परिवृत्ति विमुखता है और जहाँ गुण स्फुट रूप में रहता है।)

स्पष्ट है भामह और वामन दोनों शब्द सौन्दर्य (कपित्थ और वृन्ताक पाक) और गुणों से स्फुट और हृदय के रंजन में समर्थ शक्ति (हृदय और सहकार पाक) में अन्तर देखते हैं।

'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने काव्यशास्त्र-सम्बन्धी विभिन्न सम्प्रदायों के उदय के सन्दर्भ में व्यापार (काव्य प्रक्रिया) को सामने रखकर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले दो आचार्यों का नाम लिया है—वक्रोक्तिवादी कुन्तक और मुक्तिवादी भट्टनायक। दोनों व्यापार-प्राधान्यवादी आचार्य यह मानते हैं कि काव्य-व्यापार के सन्दर्भ में तीन अंश हैं—(१) कवि, (२) काव्यकृति, और (३) सहृदय। शब्दार्थ के सन्दर्भ में भट्टनायक तीन भिन्न प्रकार के व्यापार मानते

हैं—(१) अभिधा (जो अपने व्यापक अर्थ में कवि के अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति है, (२) भावकत्व (जो कृति के सन्दर्भ में परिभाषित होता है और विभाव-अनुभाव के साधारणीकरण का व्यापार है), और (३) भोजकत्व (जो सहृदय के सन्दर्भ में वह भोक्तृत्व व्यापार है जिसके आधार पर प्रेक्षक (पाठक) रस का भोग करने में सक्षम होता है)। कुन्तक भी एक ओर कवि के वक्रव्यापार की बात उठाते हैं और दूसरी ओर काव्य को 'तद्विदाह्लाददायी' कहते हैं और इनको काव्य के 'व्यवस्थित बन्ध' के सन्दर्भ में रखने के पक्ष में हैं। कुन्तक कवि कौशल को जीवन्त तभी मानते हैं जब कि उनमें कविस्वभाव (कौशल), अलंकार (काव्यात्मकता) तथा रस की प्रतीति हो। (रसस्वभावालंकाराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम्—व० जी०, १४६)। लेकिन इन दोनों आचार्यों की उद्भावना काव्यप्रक्रिया के तीनों अंशों—कवि, कृति और सहृदय को—समान रूप में स्वीकार कर भी काव्यात्मकता के केन्द्रक (लोकस) के सन्दर्भ में नितान्त भिन्न है। भट्टनायक 'सहृदय' को केन्द्रक मानते हैं अतः अभिधा और भावकत्व दोनों भोजकत्व (रसविषयक चर्वणव्यापार) के अधीन हैं। पर कुन्तक 'व्यवस्थित बन्ध' (काव्यकृति) को ही काव्यात्मकता का केन्द्रक (लोकस) मानते हैं। अतः वक्रोक्ति को काव्यात्मा मानते हुए उस (काव्यात्मकता) को 'विशिष्टा अभिधा' द्वारा परिभाषित करते हैं।

केंद्रक के रूप में काव्यकृति को स्वीकार करने के फलस्वरूप ही ये तथाकथित देहवादी आचार्य रस को काव्यात्मकता के अनिवार्य तत्त्व के रूप में ग्रहण करने के मत में नहीं। तथ्य द्रष्टव्य है कि 'रस' की सत्ता से ये आचार्य भी अपरिचित नहीं। अगर 'भामह' ने काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतंत्रता से मुक्त कराया तो इस वक्तव्य का यह भी अर्थ है कि वे भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से परिचित और नाट्यशास्त्र के 'रसवादी' सिद्धान्त से पूरी तरह अवगत थे। पर उन्होंने 'काव्य' के परिप्रेक्ष्य में 'रस' को काव्यात्मा मानने से इनकार कर काव्य के लक्षण को काव्य-कृति में ढूंढ़ने का आग्रह किया; उसे 'शब्दार्थ' के 'विशिष्ट' सन्दर्भ में परिभाषित करने का प्रयास किया और 'अतिशय कथन' के रूप में 'वक्रोक्ति' की सत्ता को काव्यात्मा के रूप में प्रतिस्थापित किया। अन्यथा 'रसोक्ति' अलंकार की चर्चा तो इनके विरचित काव्यशास्त्र में भी है। भामह की 'वक्रोक्ति' की संकल्पना के भीतर ही स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति तीनों का समाहार है। दण्डी ने स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के भेद को सामने रखकर रस-सम्बन्धी सभी अलंकारों को वक्रोक्ति के भीतर स्वीकार किया। कुन्तक तो रस सिद्धान्त से पूर्णतया परिचित थे। उनका जीवनकाल भी आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त और राजशेखर के काल के बाद का है। उनके सिद्धान्त में 'रसवत' अलंकार अथवा रस की सत्ता का पूर्ण विधान है। रस के प्रति उनका कितना अधिक आग्रह है वह इस कथन से ही स्पष्ट हो जाता है :

> यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितं
> काव्यैकसारतां याति·····' —व० जी०, १७४

प्रबन्ध तथा प्रकरण वक्रता के सन्दर्भ में कुन्तक ने रस चमत्कार के कई उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इसकी विवेचना करते हुए बलदेव उपाध्याय (पृ० ३३५) का कथन है—'यह अनुशीलन हमें इसी परिणाम पर पहुँचाता है कि कुन्तक काव्य में रस के सूक्ष्म उन्मेष के गौरव को भली भाँति जानते थे, वे रस के मर्म से परिचित थे। रस कुन्तक की वक्रोक्ति के नाना प्रकारों में से एक सुन्दर प्रकार है।'

लेकिन यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि कुन्तक अथवा अन्य वे सभी आचार्य जो काव्यात्मकता का केन्द्रक काव्यकृति मानते हैं, रस का एक छोर अगर सहृदय में मानते हैं तो उसका दूसरा छोर काव्यवस्तु (काव्य-शरीर) में। इनके मत में यह दूसरा छोर ही रस का नियामक है। अतः काव्यवस्तु अर्थात वर्ण्य विषय और उसके अभिव्यक्त बाह्य शरीर के स्वभावाधायक रूप में ही वे रस की सत्ता स्वीकार करते हैं। वे आनन्दवर्द्धन की भाँति यह मानते हैं कि रस, 'स्वशब्दावाच्य' है, परन्तु आनन्दवर्द्धन के विपरीत वे रस की सत्ता को सहृदय के भीतर न मानकर काव्यवस्तु के भीतर मानते हैं। इसीलिए उनके अनुसार 'रसवत' अलंकार अलंकार नहीं अलंकार्य है, वह काव्य का गुण नहीं, काव्यशरीर की शोभा है। जिस प्रकार 'स्वभावोक्ति' 'अलंकृति' नहीं अपितु 'अलंकार्य' है और जिस प्रकार उसमें वर्ण्य वस्तु के स्वभाव का सहज सौन्दर्य रहता है उसी प्रकार रस भी काव्य शरीर की सहज शोभा है और रसवक्रता, और कुछ नहीं वस्तुवक्रता का प्रतिफलन है। अलंकारवादी कुन्तक स्वभावोक्ति या रसोक्ति के लालित्य से न तो अपरिचित हैं और न वे उसकी उपेक्षा ही करते हैं। रसवादियों से अन्तर है तो इतना ही कि वे 'रस' की सत्ता को स्वीकार कर भी उसे 'काव्यात्मकता' (काव्य-कृति) के अधीन रखने के आग्रही हैं और साथ ही वे 'रस' को पारिभाषिक रूप में वर्ण्यविषय से सन्दर्भित करने के पक्ष में हैं।

ध्वनि संदर्भित रस-सिद्धान्त के पहले के अन्य आचार्यों में यद्यपि 'रस' की संकल्पना भिन्न भूमि पर स्थित है पर यह भूमि भी 'सहृदय' की न होकर 'काव्य-कृति' की है। यथा दण्डी के अनुसार यह रीति के अनेक गुणों में एक गुण के रूप में है। 'माधुर्य' के संदर्भ में दण्डी शब्द और वस्तु के भीतर रस को 'स्थित' मानते हैं ('वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः १/५१) लेकिन अन्यत्र (II, २९२) के माधुर्य गुण को 'अग्राम्यता' से सम्बद्ध करते हैं। उनके अनुसार माधुर्य गुण दो भिन्न स्थितियों में व्यक्त होता है—श्रुत्यनुप्रास के रूप में 'वागरस' और अग्राम्यता के रूप में 'वस्तुरस'। अन्यत्र दण्डी ने (१/६४) स्पष्ट निर्देश दिया है कि वर्ण्य-वस्तु की 'अग्राम्यता' ही माधुर्य गुण का कारण है। वामन भी 'रस' को 'काव्यात्मकता' के संदर्भ में ही परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार गुण, शब्द और अर्थ के धर्म हैं और वे ही काव्यात्मकता के नियामक हैं, अतः रस की स्थिति अर्थ-गुण की क्रान्ति में ही स्थित है (**दीप्त-रसत्वम् III, २/१५**)

कहने का तात्पर्य यह है कि जिन साहित्याचार्यों को सामान्यतः देहवादी या रूपवादी बतलाकर यह कह दिया जाता है कि 'रस' के मर्म को उन्होंने ठीक से

नहीं समझा, यह उचित नहीं। वे न तो मात्र रूपवादी हैं और न रसविरोधी। रस-वादियों से उनका विरोध इस तथ्य में निहित है कि वे काव्यात्मकता का केन्द्रक (लोकस) काव्यकृति मानते हैं, सहृदय नहीं; 'रस' की जो स्वीकृति उनके काव्य-सिद्धान्त में है उसका संबंध वर्ण्य-वस्तु या शब्दार्थ की अपनी प्रकृति से है, पाठक की 'चित्तवृत्ति' अथवा 'वासनागत संस्कार' से नहीं। रस उनकी दृष्टि में काव्य का उपजीव्य है पर 'आत्मा' नहीं, वह काव्य का एक रूप है पर उसका मुख्य रूप नहीं।

शैलीविज्ञान की यह आधारभूत मान्यता है कि साहित्य व्यापक रूप में भाषा क्रिया (लैंग्वेज ऐक्ट) ही है जो अपनी (कलात्मक) विशिष्टताओं के फलस्वरूप भाषा अध्ययन के शास्त्र के भीतर ही एक उपश्रेणी अथवा उपशास्त्र का निर्माण करता है। साहित्य को वह 'शाब्दिक कला' के रूप में देखता है अतः उसकी रूप-प्रकृति को समझने में उसके 'शाब्दिक' पक्ष की वह उपेक्षा नहीं करता। पर उसके साथ यह तथ्य भी उपेक्षणीय नहीं कि साहित्य 'शाब्दिक' (भाषिक) है, मात्र शब्द (भाषा) नहीं; उसकी आत्मा कला के 'सौन्दर्य' व्यापार से रंजित रहती है, न कि भाषा के सामान्य लौकिक व्यापार से बाधित। अतः साहित्य के संदर्भ में वह 'शैली' को शब्द (भाषा) और कला (सौन्दर्य) के अनुबन्ध की संकल्पना के रूप में ग्रहण करता है।

शैलीविज्ञान की इन आधारभूत मान्यताओं एवं अन्तर्दृष्टि के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र की भी दृष्टि मूलतः भाषावादी ही है। वह यह पहले मानकर चलता है कि शब्द और अर्थ के युगल संबंध ही काव्य हैं। प्रायः सभी भारतीय साहित्याचार्यों ने अपने सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए काव्य-सौन्दर्य की आधारशिला 'शब्दार्थ' को ही माना है। पर इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि मात्र शब्दार्थ, साहित्य नहीं हो सकता क्योंकि वह तो व्याकरणिक तथ्य है, 'वार्ता' है, 'अहृदय' अथवा 'बुन्ताक' पाक है। साहित्य 'विशिष्ट' शब्दार्थ है जो व्याकरणिक होने के साथ ही साथ 'रमणीय' (सौन्दर्य-परक) भी होता है; वह 'हृदय' अथवा 'सहकार' पाक है जो सौन्दर्यबाधित शब्दार्थ की विशिष्टता की सिद्धावस्था है। काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह को भी यह स्पष्ट था कि केवल सुबन्त और तिङन्त के संयोग पर आधारित शब्दार्थ काव्यपाक (काव्यात्मक शब्दार्थ की सिद्धावस्था) नहीं हो सकता; वह तो मात्र 'सौशब्द्य' (सुशब्दता) है, जो काव्य का बाह्य उपकरण हो सकता है पर उसके अन्तस्तल की प्रकृति नहीं बन सकता। काव्यात्मा तो 'सौन्दर्य' है, चारुत्व है जो काव्य में ही नहीं अपितु सभी ललितकलाओं की प्राणशक्ति के रूप में स्थित होती है।

विवाद अथवा मतवैभिन्नय के कितने भी आधार क्यों न देखने को मिलें—यथा, काव्य 'रसात्मक' होता है या नहीं; काव्यार्थ का मूलाधार अभिधा, लक्षणा है अथवा व्यंजना; व्यंजना अनुमानाश्रित है, भाषाश्रित है अथवा वह अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्ति से अनुपलब्ध प्रकाशन व्यापार है आदि, पर इस तथ्य से सभी भारतीय आचार्य सहमत हैं कि काव्य की आत्मा सौन्दर्य ही है—'चारुत्व-

प्रतीतिः तर्हि काव्यस्य आत्मा इति तद् अंगीकृतं एव। नास्ति खल्वयं विवाद इति।' (अभिनवगुप्त, 'लोचन', पृ० ३३) शैलीविज्ञान की ही भाँति भारतीय काव्यशास्त्र का भी चिन्तन वस्तुवादी रहा है। अतः इस 'सौन्दर्य' की संकल्पना को उसने वस्तुवादी पद्धति से ही देखने का आग्रह किया।

यह ध्यान देने योग्य है कि विषय पक्ष का भावपरक या वस्तुपरक होना एक बात है और विश्लेष्य विषय सामग्री के प्रति चिन्तनद्वारा का भाववादी या वस्तु-वादी होना—उससे नितान्त भिन्न बात है। मनोभाव, अनुभूतियों या संवेदनात्मक प्रतीति की प्रकृति 'भाव' परक हो सकती है पर इसके साथ उसके अध्ययन का दृष्टिकोण अथवा विज्ञान (मनोविज्ञान) का पूर्णतः वस्तुवादी (ऑब्जेक्टिव) होना भी संभव है। शैलीविज्ञान यह स्वीकार कर चलता है कि शास्त्र के रूप में उसकी चिन्तन पद्धति की प्रकृति का वस्तुवादी होना उसकी पहली शर्त है। वह यह मानता है कि 'सौन्दर्य' की प्रकृति अगर 'अबौद्धिक कथ्य' और 'भावजगत' की जीवनदृष्टि पर आधारित भी हो तो काव्यकला के सन्दर्भ में भाषा (शब्दार्थ) की प्रकृति के आधार पर ही समझा जा सकता है। स्पिट्ज़र (१९६२ : १४१-२) के शब्दों में 'यह कहने के बजाय कि कविता शब्दनिर्मित नहीं होती और कविता में शब्द अपने अर्थ से मुक्त होकर बौद्धिक प्रत्यय के पार लयात्मक प्रत्यय का सृजन करते हैं, मैं यह कहना चाहूँगा कि कविता शब्दनिर्मित होती है और उन शब्दों का अर्थ भी उसमें स्थित होता है। लेकिन कवि की चमत्कारपूर्ण प्रतिभा, जो काव्य संघटना को एक समग्र दृष्टि के लयात्मक प्रत्यय में बाँधती है, इन शब्दों में एवं उसमें स्थित अर्थ को बौद्धिक प्रत्यय के पार ले जाकर लयात्मक प्रत्यय तक पहुँचा देती है। और यह भाषाशास्त्र के अध्येता (शैली वैज्ञानिक) का कार्य है कि वह इस तथ्य का विश्लेषण करे कि निर्देशित रूपान्तरण की प्रक्रिया क्या है। कविता के अबौद्धिक पक्ष भाषावैज्ञानिक (शैलीवैज्ञानिक) के हाथों में अपनी सत्ता खो नहीं देते अथवा उनके हाथों उनकी सत्ता समाप्त नहीं हो जाती। इसके ठीक विपरीत ढाँचापरक विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लेते हुए वह उस पथ को ढूँढ़ने का प्रयास करेगा जो बौद्धिक से अबौद्धिक की ओर कविता को ले जाता है और किस दूरी को कवि अपनी एक छलाँग में ही तय कर लेता है।'

शैलीविज्ञान की ही भाँति भारतीय काव्य-सम्प्रदाय भी यह देखने का प्रयास करता है कि किस प्रकार भाषिक प्रत्यय (शब्दार्थ) का रूपान्तरण 'अबौद्धिक लयात्मक कथ्य' (सौन्दर्य) में हो जाता है; वह भी शैलीविज्ञान की ही भाँति विश्लेषण की इस प्रक्रिया के आधार को भाषा के प्रकार्य (फ़ंक्शन) और उसकी संघटना में ही ढूँढ़ता है। विभिन्न काव्य सम्प्रदायों के मूल में इसी वस्तुवादी चिन्तन पद्धति की स्वीकृति है। अन्तर है तो इस प्रश्न के उत्तर में कि 'अनेक भाषिक तत्त्वों में कौन तत्त्व सौन्दर्यविधायक है और कौन नहीं? सौन्दर्यविधायक इन भाषिक तत्त्वों की मूलप्रकृति अन्य किन उपकरणों द्वारा बाधित या विचलित है?'

उदाहरण स्वरूप अलंकारवादी आचार्यों की मान्यता को ही देखें। वे पहले

यह मानते हैं कि काव्य की मूलशक्ति (प्राणतत्त्व) सौन्दर्य है और इस काव्यात्मक सौन्दर्य का अभिधायक 'अलंकार' है। दण्डी के शब्दों में अलंकार और कुछ नहीं अपितु काव्यशोभाकारक धर्म है—"काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ॥२॥"। पर उनके अनुसार अलंकार, शरीरभूत शब्दार्थ नहीं वरन शब्दार्थ के वे सभी मूलभूत तत्त्व हैं जो सौन्दर्य विधायक हैं। इन अलंकारवादियों की 'अलंकार' की संकल्पना काफ़ी व्यापक है। वह वस्तुतः 'सौन्दर्य' का काव्यशास्त्रीय संकल्पनात्मक रूपान्तरण है। यह इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाता है कि दण्डी आदि आचार्यों ने उपमा, रूपक आदि प्रसिद्ध अलंकारों को मात्र 'साधारण अलंकार' कहा है। पर इस 'अलंकार' की समतुल्य भाषिक रचनात्मक इकाई क्या है ? इसके उत्तर में अगर भामह या कुन्तक 'वक्रोक्ति' की संकल्पना सामने लाते हैं तो वामन 'गुण' की। भामह के अनुसार वक्रोक्ति ही 'अलंकार के मूल में है—'कोऽलंकारोऽनया विना'। यह वक्रोक्ति वस्तुतः काव्यशास्त्रीय प्रत्यय 'अलंकार' का ही भाषाशास्त्रीय संकल्पनात्मक रूपान्तरण है। काव्य के सभी रूपों में यह वक्रोक्ति तत्त्व देखा जा सकता है—'युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैत दिष्यते। १/३०॥' परिभाषित रूप में अन्यथा यह 'लोकातिक्रान्तगोचरं वाक्यम्' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' के संदर्भ में यह 'लोकातिक्रान्तगोचरता' और कुछ नहीं अपितु 'लोकोत्तरचमत्कारकारि', 'प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि' अथवा 'शास्त्रादि प्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि' है।

वामन भी काव्य की आत्मा अन्ततोगत्वा 'सौन्दर्य' ही स्वीकार करते हैं। अलंकार शब्द तो सौन्दर्य का पर्यायवाची है 'सौन्दर्यमलंकारः' (**काव्यालंकार** १/१/२) पर जिस अलंकार को, भामह और कुन्तक 'वक्रोक्ति' के आधार पर निरूपित करना चाहते हैं उसके लिए वे 'रीति' की संकल्पना सामने लाते हैं। पर 'रीति' का पारिभाषिक आधार उन्होंने भी भाषिक ही माना है, इसीलिए रीति उनके अनुसार और कुछ नहीं वरन विशिष्ट पदरचना है—'विशिष्टा पदरचना रीतिः'। पर वामन इस भाषिक स्तर की संकल्पना तक ही अपनी विवेचना सीमित नहीं कर देना चाहते। वे 'विशिष्ट पदरचना' के रूप में परिभाषित 'रीति' को और भी गहराई में विश्लेषित करने के लिए भाषिक धरातल (पदरचना की विशिष्टता) को प्रभेदक उन उपलक्षणों (डिस्टिन्क्टिव फ़ीचर्स) के आधार पर समझाना चाहते हैं जिनकी प्रकृति भाषेतर है। पद रचना के वैशिष्ट्य के उपलक्षण वामन के अनुसार 'गुण' है ('विशेषीगुणात्मा' १/२/८) अतः उसके अनुसार ये ही गुण अन्ततोगत्वा काव्यार्थ के शोभाकारक धर्म हैं (२/२/१) ध्वनिवादी आचार्य भी काव्य की आत्मा, 'चारुत्व प्रतीति' (सौन्दर्य) ही मानते हैं। पर काव्यात्मक संकल्पना के रूप में वे 'रीति' के स्थान पर 'ध्वनि' और भाषिक संकल्पना के धरातल पर 'विशिष्ट पदरचना' के स्थान पर 'व्यंजना' की स्थापना करते हैं। भाषेतर प्रभेदक उपलक्षण के रूप में वे 'गुण' के स्थान पर अधिक सूक्ष्मतर इकाई 'मनोभाव' (रस) की परिकल्पना करते हैं। अन्यथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'गुण' और 'भाव' दोनों मनःस्थितियों के ही परिचायक हैं। पर ध्वनिवादियों के 'भाव/रस' की परिकल्पना मानवमन की सार्वकालिक (यूनिवर्सल) मनःस्थितियों के घटक (कन्स्ट्रक्ट) के रूप में सिद्ध होने के कारण कहीं अधिक व्यापक, गहरे और आधारभूत हैं।[१]

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्र का चिन्तन वस्तुवादी और दृष्टि भाषावादी रही है और इस वस्तुवादी चिन्तन और भाषावादी दृष्टि की एक निर्दिष्ट विकासात्मक दिशा है। यह कहना कि 'पाश्चात्य साहित्यालोचन की ही भाँति भारतीय साहित्यालोचन की परम्परा बड़ी पुरानी है; परन्तु वह अपने पश्चिमी प्रतियोगी की-सी सुनिर्दिष्ट नहीं है, अथवा 'भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय, जैसे रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति इत्यादि अपने आरंभिक और मूलरूप में केवल काव्य सिद्धान्त के विभिन्न पक्ष ही थे न कि सम्पूर्ण काव्यदर्शन के स्थानापन्न।' (वाजपेयी १९५९ : १०१) भारतीय-काव्यशास्त्र के वस्तुवादी चिन्तन और भाषावादी दृष्टि के निरन्तर गुणात्मक परिवर्तन की विकासमान प्रकृति को न समझने का परिणाम ही है। यहाँ यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने पूर्ववर्ती सम्प्रदायों के आधारभूत प्रत्यय एवं संकल्पनाओं को अपने सम्प्रदाय की आँखों से देखा है। यथा, जो 'अलंकार' की संकल्पना भामह ने की उसी रूप में उसे वामन ने नहीं परिभाषित किया और जिस 'गुण' के प्रत्यय को वामन ने रीति के धर्म के रूप में प्रतिस्थापित किया उसी गुणात्मक स्तर के साथ ध्वनिवादियों ने उसे नहीं अपनाया। पर काव्यात्मक प्रकार्य के रूप में भामह ने अलंकार 'वक्रोक्ति' की संकल्पना की, उसी के समानान्तर (पर प्रभेदक उपलक्षणों के समुच्चय के रूप में उससे भिन्न) वामन की रीति। गुण, आनन्दवर्द्धन की ध्वनि—व्यंजना भाव की संकल्पना कही जा सकती है।

यही नहीं कि भारतीय काव्यशास्त्र की मूल परम्परा शैलीविज्ञान की ही भाँति चिन्तन में वस्तुवादी और दृष्टि में भाषावादी है वरन जब तक वह चिन्तन में वस्तुवादी और दृष्टि में भाषावादी रही वह काव्यात्मा की 'सौन्दर्य' और काव्यात्मकता के केन्द्रक (लोकस) को शैलीविज्ञान की ही भाँति 'काव्यकृति' मानती रही। पर परवर्ती रसवादियों ने 'केन्द्रक' को काव्यकृति से हटाकर 'सहृदय' में

१. यहाँ इस ओर संकेत दे देना अनुचित न होगा कि किसी एक धरातल की इकाई अथवा संकल्पना को समझने के लिए दूसरे धरातल की इकाइयों की स्थापना अथवा इन स्थापित इकाइयों के सन्दर्भ में दूसरे धरातल की इकाइयों की व्याख्या न तो अनुचित है और न अवैज्ञानिक ही। उदाहरण के लिए अगर भाषावैज्ञानिक 'स्वनिम' (फ़ोनीम) को प्रभेदक उपलक्षणों के समुच्चय के रूप में परिभाषित करता है तब इन उपलक्षणों के निरूपण के लिए वह भाषेतर धरातल का आश्रय लेते हुए कभी शारीरिक (उच्चारणात्मक अथवा श्रवणात्मक) और कभी भौतिक (ध्वनितरंगात्मक) पैरामीटर की स्थापना करता है। इसी प्रकार 'अर्थ' पक्ष की विवृति के लिए वह कभी 'सामाजिक' और कभी 'मनोवैज्ञानिक', पैरामीटर के आधार पर प्रभेदक उपलक्षणों को परिभाषित करता है।)

स्थापित कर दिया; काव्यात्मक संकल्पना एवं उसके सृजनात्मक घटक के भाषा-शास्त्रीयरूपान्तरण इकाइयों को समझने के लिए प्रयुक्त भाषेतर प्रभेदक उपलक्षणों को साधन के स्थान पर साध्य बना दिया। परिणाम भी स्पष्ट है। काव्यात्मक की 'सौन्दर्यवादी' प्रकृति का पर्यवसान 'रसवाद' में हो गया; रस भोक्ता का वैयक्तिक विषय बनकर वस्तुवादी चिन्तन को 'आत्मवादी' बनने के लिए बाध्य करने लगा और सौन्दर्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र, काव्यशास्त्र तथा भाषाशास्त्र, भाषाशास्त्र तथा भाषेतर शास्त्र की शृंखला का उच्छेदन कर उसने भाषावादी दृष्टि को 'भाववादी' बनने पर मजबूर किया।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के इतिहास के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि 'शैलीविज्ञान' वस्तुतः आलोचना की प्रभाववादी (इम्प्रेशनिस्टिक) अथवा आत्म-परक (सब्जेक्टिव) धारा की प्रतिक्रिया के रूप में आविर्भूत धारा का ही एक विकासमान चरण है। इसकी पूर्वपीठिका के रूप में विभिन्न देशों में उद्भूत विभिन्न काव्यसम्प्रदाय के उदय की कहानी है—यथा, रूप में 'रूपवादी' (फ़ॉर्मल) आलोचना, जर्मनी में Stilforschung, फ्रांस में 'पाठ्यविश्लेषवादी' समीक्षा और अमेरिका में नव्य समीक्षा। पर आज हिन्दी समीक्षा सिद्धान्त और साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में हम आलोचना सिद्धान्त का वही प्रभाववादी और साहित्यशास्त्र का वही आत्मपरक चिन्तन पाते हैं जो भारतीय काव्यशास्त्र की अपनी मूल चिन्तनधारा के प्रतिकूल है और जिसे पाश्चात्य साहित्यशास्त्र भी आज के ज्ञान के सन्दर्भ में अपनाने से इनकार करता जा रहा है।

इतिहास की दृष्टि सर्वांगीण होती है। वह दर्शन की ही भाँति समग्रतावादी दृष्टि पर आधारित और ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र के घात-प्रतिघात की सक्रिय चेतना से स्पन्दित रहती है। काव्यशास्त्र के इतिहास के सन्दर्भ में यह तथ्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि जब तक भाषाचिन्तन के सन्दर्भ में नयी-नयी उद्भावनाएँ होती रहीं तब तक न केवल काव्यात्मकता का केन्द्रक काव्यकृति मान्य रहा, उसकी आत्मा 'सौन्दर्य' की वस्तुवादी संकल्पना के रूप में परिभाषित होती रही और इस आत्मा की व्याख्या तथा विश्लेषण भाषिक आधार पर विकसित होता रहा। पर भर्तृहरि के पश्चात कोई भाषाशास्त्र का ऐसा विचारक ही नहीं उत्पन्न हुआ जिसने भाषा-चिन्तन को नई दिशा और उसकी चिन्तन प्रक्रिया में कोई गुणात्मक परिवर्तन किया हो।

आनन्दवर्द्धन और कुन्तक (दोनों ही का काव्यचिन्तन भर्तृहरि के व्याकरण दर्शन से प्रभावित रहा है) के बाद काव्यशास्त्र का सर्जनात्मक युग समाप्त हो जाता है। ध्वनिसिद्धान्त और वक्रोक्तिसिद्धान्त वस्तुतः व्याकरण परम्परा की उस निर्बाध धारा से सम्बद्ध काव्यसिद्धान्त है जो अपना चरम उत्कर्ष भर्तृहरि के 'स्फोट' सिद्धान्त और 'वाक्यार्थ' की सूक्ष्म विवृति में पाते हैं। इसके बाद या तो ध्वनिसम्प्रदाय की मान्यताओं की आलोचना के रूप में काव्य सिद्धान्त के प्रणेता सामने आए (यथा, मुकुलभट्ट और महिमभट्ट) अथवा उसकी पुष्टि अथवा व्यव-

स्थापन के लिए काव्यचिन्तन का आचार्यों ने प्रसार किया (यथा, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि)।

यहाँ यह भी संकेत दे देना अनुचित न होगा कि जिस प्रकार रूसी 'रूपवादी' आलोचना या अमेरिकी 'नव्य समीक्षा' वस्तुवादी चिन्तन और भाषावादी दृष्टि से अनुप्राणित होकर भी 'शैलीविज्ञान' नहीं है (अपितु उसकी केवल पूर्वपीठिका के रूप में ही मान्य है) उसी प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र भारतीय शैलीविज्ञान (अगर ऐसा कोई काव्यसिद्धान्त है) की मात्र सन्दर्भगत पूर्वपीठिका ही है; स्वयं शैलीविज्ञान नहीं।

आलोचना का भाषावादी दृष्टिकोण

सामान्य भाषा का बोधपक्ष जिस संकेतन एवं प्रतीकीकरण प्रक्रिया को लेकर चलता है उसकी प्रकृति व्यक्तिगत (विशिष्ट) न होकर जातिगत (सामान्य) होती है। ध्यान देने की बात है कि इन प्रतीकों की जातिगत प्रकृति का सम्बन्ध मूलतः इन्द्रियगत अनुभव संसार से सम्बद्ध होता है। इन्द्रियगत अनुभव का यह संसार मनुष्य की चेतना और बाह्य जीवन के तथ्यों के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप उद्भूत संस्कारों पर आधारित एवं निर्मित होता है। विषयी की चेतना, मूलरूप में एक होते हुए भी विभिन्न अनुभव-रीतियों के आधार पर विभिन्न अनुभवगत संसार को जन्म देने में समर्थ है, और ये विभिन्न संसार भिन्न अभिव्यक्ति पद्धतियों की माँग करते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'सामान्य' को 'विशिष्ट' अथवा 'अमूर्त' को 'मूर्त' रूप में रूपान्तरण की अभिव्यक्ति प्रक्रिया, इन्द्रिय-सम्मत, विज्ञान-सम्मत और कला-सम्मत संसारों की अपनी माँग के अनुसार तीन भिन्न प्रतीक पद्धतियों का निर्माण करती हैं। वैज्ञानिक और कवि, दोनों के सामने अभिव्यक्ति की एक मूल समस्या यह भी है कि किस रीति से इन्द्रियसम्मत अनुभव संसार को व्यक्त करने वाली सामान्य भाषा के माध्यम से अपने विशिष्ट अनुभवगत संसार के अमूर्त एवं मूर्त पक्ष को व्यक्त किया जाए। एक अनुभव संसार की अभिव्यक्ति पद्धति में क्या गुणात्मक परिवर्तन किये जाएँ कि दूसरे अनुभव संसार के अपने गुणों का उद्घाटन सम्भव हो सके इस मूल समस्या से न तो वैज्ञानिक ही अपने को मुक्त कर सकता है और न साहित्यकार ही।

विद्वानों का एक वर्ग यह स्वीकार करके चलता है कि विज्ञानसम्मत अनुभव-संसार को अभिव्यक्त करने वाली तर्कभाषा शुद्ध रूप में प्रतीकात्मक होती है। इसके विपरीत कलासम्मत अनुभव संसार को अभिव्यक्त करने वाली काव्यभाषा, प्रतीकात्मक होने के साथ ही साथ बिम्बपरक भी होती है। तर्कभाषा एवं काव्य-भाषा के इस मूलभूत अन्तर का सम्बन्ध कुछ विद्वान अभिव्यक्तीकरण के उस विभेद के साथ भी जोड़ना चाहते हैं जो 'सामान्यीकृत अमूर्त प्रकथन' के 'विशिष्ट मूर्त प्रकथन' में रूपान्तरण से सम्बद्ध है। अभिव्यक्ति की निर्वचनात्मक रीति पर आग्रह रखने के कारण विज्ञान जो प्रतीकों की पद्धति अपनाता है वह निश्चय ही उस प्रतीक पद्धति से भिन्न होगी जिसे प्रस्तुतीकरण (प्रजेंटेशन) की रीति को अपनाने वाली कविता स्वीकार करती है।

रूपान्तरण प्रक्रिया के सन्दर्भ में प्रतीक पद्धति पर विचार करने वाले विद्वानों

की यह मान्यता है कि बिम्बपरक भाषा मनुष्यों के निजी और जातिगत अनुभवों की तीव्र गत्यात्मक शक्ति एवं आन्तरिक अनुभूतियों की सघनीभूत क्रियात्मक प्रक्रिया से परिचालित होती है। अनुभवों की गत्यात्मक शक्ति और अनुभूतियों की क्रियात्मक चेतना की मूल प्रकृति एवं अर्थवत्ता जीवन की गतिविधियों को परिचालित करते रहने के बावजूद सामान्य मनुष्यों की चाक्षुष दृष्टि से छिपी रहती है। भाषा की बिम्बपरक अभिव्यक्ति इन अमूर्त एवं अगोचर आदिम मूल-वृत्तियों को मूर्तरूप देने में सक्षम सिद्ध होती है। काव्यभाषा में दिखाई पड़ने वाली बिम्बनिर्माण की इस प्रक्रिया को विद्वानों ने अन्य क्षेत्रों में पाई जाने वाली बिम्ब प्रक्रिया के साथ जोड़कर देखना चाहा है। यथा—फ्रायड बिम्बनिर्माण को 'स्वप्नचित्रों' के रूप में देखना चाहते हैं, युंग ने (१९४५), 'आर्कीटाइप' को अचेतन स्तर पर जीवन्त बनाने के सन्दर्भ में बिम्ब प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया है, कुमारस्वामी ने (१९४२) कल्पनाप्रकथन मूर्तविधान (इमेजिनेटिव आइकोनोग्राफ़) के रूप में बिम्ब को स्वीकार किया है, केसिरर (१९२५) बिम्ब प्रक्रिया को 'मिथ' निर्माण की प्रक्रिया के साथ जोड़कर देखने के पक्ष में हैं।

'सामान्यीकृत अमूर्त प्रकथन' के 'विशिष्ट मूर्त प्रकथन' में रूपान्तरण प्रक्रिया के सन्दर्भ में अभिव्यक्ति की बिम्बपरक पद्धति को काव्यसमीक्षा का मूल आधार मानकर चलने वालों में कुमारस्वामी, केनेथ बर्क, मांड बोदलिन, एडमण्ड विल्सन, लिओनेल ट्रिलिंग, रिचर्ड चेज़, नार्थ्रप फ्राई आदि विद्वान हैं। इनको सैद्धान्तिक एवं वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान करने वालों में जेम्स फ्रेज़र, जेन हैरिसन, एमिल डुर्खीम, लार्ड रागलान आदि उन्नसवीं सदी के दार्शनिक एवं नृतत्त्वशास्त्री और बीसवीं सदी के मनोविश्लेषण-सिद्धान्त के दो प्रमुख आधारस्तम्भ—फ्रायड और युंग हैं। बिम्बनिर्माण को प्रतीकात्मक प्रक्रिया से जोड़कर अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने वालों में कैसिरर, सूसन के० लैंगर, एरिक फ्राम आदि का नाम लिया जा सकता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (१९६७) के शब्दों में "कलाकार के हृदय में जो मिथकीय सिसृक्षा उदित होती है वह अवचेतन चित्त की वेगवती शक्ति है। वह समष्टि चित्त की ऐसी अनुभूति है जो विवित्तपूर्ण भाषा के प्रादुर्भाव के पहले की है। उसे आर्कीटाइप कहिए, समष्टि चेतना कहिए, या यांत्रिका की भाषा में 'सर्वात्मिका संवित' कहिए, बात एक ही है।" द्विवेदी जी के अनुसार सामान्य भाषा भावमूर्ति को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है अतः भाषा के सामान्य पक्ष के जो बाहर है उस अप्रस्तुत को कवि मिथकतत्त्व से पूरित करता है।

द्विवेदी जी यह स्वीकार करके चलते हैं कि "शब्दों से मनुष्य के इन्द्रियगत बिम्बों का एक सामान्य अंश ही प्रकट हो पाता है। बाकी बहुत-सी बातें छूट जाती हैं। इन छूटी हुई बातों को अभिव्यक्त करने के लिए कभी-कभी मनुष्य का मन व्याकुल हो उठता है। कैसे इनको प्रकट किया जाए? भाषा के अधिकाधिक प्रयोग होने से शब्द रूढ़ हो जाते हैं। और प्रायः जिन गुणों के नाम पर उनका नामकरण

किया गया होता है वे भी भुला दिए जाते हैं। इस प्रकार गद्यात्मक भाषा मनुष्य की अधिकांश अनुभूतियों को छोड़ती जाती है और भाव की अभिव्यंजना में असमर्थ होती जाती है।" द्विवेदी जी के अनुसार भाषा की इसी असमर्थता को दूर करने के लिए कवि, मिथकतत्त्व का उपयोग करता है क्योंकि अन्तर्जगत के भावों को बहिर्जगत की भाषा में व्यक्त करने का एकमात्र साधन यह मिथक तत्त्व ही है जो **ऊपर-ऊपर से देखने से यह झूठ है, परन्तु गहराई पर देखने से यह सत्य है।**

यहाँ ध्यान देने की बात है कि अन्तर्जगत के भावों को जब हम बहिर्जगत की भाषा में व्यक्त करते हैं तो काव्यवस्तु के सन्दर्भ में बहिर्जगत की उपस्थिति का एक सीमा तक हम निषेध भी करते जाते हैं। शब्दों द्वारा संकेतित बाह्य जगत के रूपान्तरण के माध्यम द्वारा ही कविता की विषयवस्तु अन्ततः काव्यवस्तु का रूप ग्रहण करती है। पर जब अन्तर्जगत के भाव को भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया जाए कि बिम्बविधान, बहिर्जगत का निषेध न कर अप्रस्तुत तक पहुँचने के बजाय स्वयं उससे प्रतिबद्ध होकर रह जाए तब वह (बिम्ब) काव्य का सही उपादान बनने की क्षमता खो देता है। इस स्थिति में पूरी रचना चित्रकाव्य बनकर रह जाएगी जिसे साहित्याचार्यों ने अधमकाव्य की संज्ञा दी है। रीतिकालीन कविताओं में पाई जाने वाली कई चित्र-छवियाँ इसी कोटि की हैं, यथा :

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेहबस सखी सबै ढिग जाति॥
छाले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकति हियें गुलाब के झवा झवावति पाइ॥ —**बिहारी**

द्विवेदी जी यह कहते हैं कि 'डाह' का मूल संस्कृत शब्द 'दाह' है अर्थात जलन; लेकिन मन में की हुई जलन को किस शब्द के द्वारा प्रकट किया जाए? जलन या दाह स्पर्शबिम्ब है। इसी स्पर्शबिम्ब के माध्यम से मनुष्य अपनी मानसिक ईर्ष्याभाव को अभिव्यक्त करना चाहता है। उसे दाह या जलन कहना अमूर्त अनुभूति को किसी-न-किसी प्रकार मूर्तबिम्बों में अनुवाद करना है। इसी प्रकार रूप को 'मधुर' कहना या सौन्दर्य को 'लावण्य' कहना वस्तुतः एक अमूर्त अनुभूति को स्वादेन्द्रिय द्वारा अनुभूत बिम्ब के माध्यम से गोचर कराने का प्रयास मात्र है। तब बहिर्जगत की वस्तुओं को आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य रूप में ग्रहण करने वाली शब्दों की लक्षणाशक्ति को एक बार फिर इन्द्रियगत संवेदनाओं से जोड़कर वे बहिर्जगत की वस्तु बना देने के पक्ष में दीखते हैं।

पर जैसा ऊपर संकेत दिया जा चुका है, इन्द्रियगत संवेदनाओं के आधार पर निर्मित संसार और कलागत अनुभूतियों से संचालित संसार, दो भिन्न अनुभव-संसारों को जन्म देते हैं जो अपनी प्रकृति में कुछ विशिष्ट आन्तरिक गुणों के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न रूप में सिद्ध रहते हैं। अनुभवरीतियों (मोड्स ऑफ़ एक्सपीरिएन्स) के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि एक की निर्माणकर्त्री इन्द्रिय-

गत संवेदनाएँ हैं और दूसरे की कलात्मक अनुभूतियाँ। इन्द्रियगत संवेदनाओं के आधार पर निर्मित अनुभव संसार का कलागत अनुभूतियों के आधार पर स्थित अनुभव संसार में रूपान्तरण की प्रक्रिया के रूप में काव्यसृजन को देखना वस्तुतः काव्यक्षेत्र की अपनी प्रक्रिया को झुठलाना ही होगा। काव्य संसार, अन्य किसी संसार का प्रतिरूप या परिवर्तित रूप नहीं होता वरन अपने आन्तरिक गुणों एवं अपनी प्रकृति के आधार पर स्वयं अपना संसार होता है। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि कैसिरर भाषा और मिथ दोनों के मूल में प्रतीकन प्रक्रिया के संवेग को स्वीकार करते हैं पर इन दोनों को "साधारण ऐन्द्रिय अनुभूतियों का तीव्र और सान्द्रीभूत रूप (कांसेंट्रेसन एंड हाइट्निंग ऑफ़ सिम्पल सेन्सरी एक्सपीरियेन्स) मानने के बावजूद वे इन्हें एक-दूसरे के रूपान्तर के रूप में स्वीकार नहीं करते।" केसिरर ने इस बात का जोरदार विरोध किया है कि "भाषा, मिथकीय प्रक्रिया से उत्पन्न है।" वे भाषा और मिथक तत्त्व को एक ही मूल से निकली हुई दो अलग-अलग शाखाएँ मानते हैं। सच तो यह है कि भाषा और मिथकतत्त्व अथवा मिथकतत्त्व और काव्यतत्त्व के अन्तर को ठीक से समझने के लिए जितना इनके मूल में कार्य करने वाली शक्तियों की एकरूपता का पता लगाना है उससे कहीं अधिक यह जानना आवश्यक है कि एक ही मूल (प्रतीकन प्रक्रिया) से उत्पन्न होकर भी किन कारणों के आधार पर ये (शक्तियाँ) भिन्न रूप धारण कर भिन्न शक्तिरूप हो जाती हैं।

यह तथ्य विशेष महत्त्वपूर्ण है कि बिम्ब का इन्द्रियपरक मूर्त रूप अगर एक ओर अमूर्त कथ्य को दृष्टिपरक बनाता है तब दूसरी ओर बाह्य संसार से सीधे जुड़े रहने के कारण इन्द्रियजन्य संवेदनाओं से भी अटूट सम्बन्ध बनाए रखता है। बिम्ब द्वारा उद्भूत चाक्षुष अथवा अन्य इन्द्रियजन्य संवेदनाएँ विषयवस्तु को भले ही अतिरंजित करने में समर्थ हों काव्यवस्तु को उसके सही सन्दर्भ के साथ उभरने और समझने में अवरोध ही डालते हैं। कविता, 'बाह्य तथ्य' को नहीं वरन 'सम्भावित यथार्थ' को लेकर चलती है; उसके अपने उपादान बाह्य जीवन के प्रतिनिधि नहीं अपितु काव्यात्मक जीवन के उपांग होते हैं। 'बिम्ब' कविता का मूल उपांग नहीं बन सकता क्योंकि वह मूलरूप में ऐन्द्रिय अनुभूतियों को अपना साध्य बनाता है, वह बाह्य संसार से अपने को असम्पृक्त करने की क्षमता ही नहीं रखता। कविता में जिस बिम्ब की चर्चा की जाती है उसको 'भावबिम्ब' के रूप में स्वीकार करना अधिक उचित है। वस्तुबिम्ब के स्थान पर भावबिम्ब बनाने की क्षमता 'शब्दों' में निहित होती है न कि उसमें जिसे विद्वान मिथकतत्त्व, आर्कीटाइपल इमेज (आदिम बिम्ब), स्वप्नचित्र अथवा कभी-कभी भ्रमवश 'काव्य-बिम्ब' कहते हैं।

रूसी विद्वान झिरमुन्स्की (१९२८) के अनुसार "कविता का उपादान न तो बिम्ब है और न भावनाएँ। वह मात्र शब्द होता है क्योंकि कविता प्रकृति रूप में शाब्दिक कला है।" सम्भवतः इसी मान्यता की पुष्टि करते हुए हिन्दी के कवि-

आलोचक 'अज्ञेय' ने 'तारसप्तक' के द्वितीय संस्करण में 'पुनश्च' के अन्तर्गत यह लिखा—'काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य, शब्द है।' जब कवि काव्यकृति की संरचना करता है तब न तो उसके सामने श्रोता रहता है और न स्वयं कवि का अपना व्यक्ति-जीवन। रहते हैं तो केवल शब्द जो कवि के काव्य-व्यक्तित्व को तराशते चले जाते हैं। अमूर्त काव्य-चेतना को शब्दों के साथ रूपायित करने के क्षणों में कवि का काव्य-व्यक्तित्व उसके अपने व्यक्ति-जीवन से असम्पृक्त रहता है। सम्भवतः इसी तथ्य को ध्यान में रख-कर कवि इलियट ने कविता को आत्माभिव्यक्ति न मानकर उसे आत्मा से पलायन के रूप में स्वीकार किया है। और सम्भवतः यही कारण है कि कवि साही ने काव्यकृति को अकसर अपनी मृत्यु के भीतर से अनायास उद्‌भूत होते पाया है। इन्हीं शब्दों के साथ काव्यकृति अपना जन्म पाती है और इसीके न रहने पर कृति 'न जाने किस खोखल में समा' जाती है।

सचमुच जब मैं बातें कर रहा था
तब तुम भी नहीं थे—
सिर्फ़ वे शब्द थे
जो मुझे तराशते चले जा रहे थे
और तब मैं तुम्हें नहीं, ख़ुद को भी नहीं
उस तीसरे को देख रहा था
जो अकसर मेरी मृत्यु के भीतर से
अनायास उद्‌भूत होने लगता है।
और जब तक मैं बोलता रहा
कलाकृति की तरह
वह निर्मित होता रहा।
और जब मैं चुप हो गया
बाज़ीगर की गेंदों की तरह
वह लुंज-पुंज
न जाने किस खोखल में समा गया।

'एकालाप'—विजयदेवनारायण साही

(इस कविता में 'मैं', 'तुम' और 'तीसरा' क्रमशः कवि का व्यक्तिगत जीवन, श्रोता और काव्यकृति को व्यक्त करता है और 'बोलना' उस सृजनात्मक प्रक्रिया की ओर संकेत करता है जिसके मूल में शब्द की सार्थकता सिद्ध रहती है।)

कवि शब्दों को इनकार कर काव्यकृति का सृजन कर ही नहीं सकता। उसके लिए जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न है वह यही कि सामान्य भाषा के प्रतीकवत शब्दों का प्रयोग वह किस रीति से करे कि वे शब्द काव्यजगत के उपादान बन जाएँ। वस्तुतः सामान्य भाषा में वह गुणात्मक परिवर्तन इस प्रकार लाता है कि रूपांतरित

भाषा, 'सामान्य भाषा' का मात्र आभास देती हुई छन्दों के आन्तरिक लय की तरह उमड़-घुमड़कर निःशब्द (प्रतीकरहित) भाव से उसकी काव्यचेतना को ध्वनित करने में सक्षम बन जाती है। यह भाषा, चीजों को उसके 'नाम' के आधार पर नहीं, वरन चीजों को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण कर एक ऐसे समन्वित अर्थ को प्रतिष्ठित करती है जो सामान्य भाषा की सामान्य प्रतीकन पद्धति द्वारा सम्भव नहीं। पर इस भाषा के मूल में भी शब्द की ही सत्ता रहती है :

शब्द, अब भी चाहता हूँ
पर वह कि जो जाए वहाँ वहाँ होता हुआ
तुम तक पहुँचे
चीजों के आरपार दो अर्थ मिलाकर सिर्फ़ एक
स्वच्छन्द अर्थ दे
मुझे दे। देता रहे जैसे छन्द केवल छन्द
घुमड़-घुमड़कर भाषा का भास देता हुआ
मुझको उठाकर निःशब्द देता हुआ।

'नया शब्द'—रघुवीर सहाय

काव्यभाषा को 'बिम्ब' के 'होने' और 'न होने' की स्थिति से जोड़कर देखने वाले विद्वान यह भूल जाते हैं कि बिम्ब, काव्यभाषा का एक उपादान मात्र है और कविता में बिम्ब हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। बिम्ब की अनु-पस्थिति में भी सुन्दर कविता का निर्माण सम्भव है। उदाहरण के लिए रूसी भाषा के महान कवि पुश्किन की नीचे दी गयी प्रसिद्ध कविता को ही लें जो बिम्ब के अभाव में भी काव्यभाषा के अपने आन्तरिक गुणों से युक्त है :

मैंने चाहा था तुम्हें तुमसे मुहब्बत की थी
क्या ख़बर आज भी हो दिल में चिनगारी
ख़ैर, अब आँच में क्यों उसकी जलाऊँ तुमको
जी नहीं मानता कुछ ठेस लगाऊँ तुमको
थी मुहब्बत में न ग़िले की न सिले की परवाह
बेज़बानी से कभी रश्क से दिल टुकड़े था
यूँ नज़ाकत से लगन से तुम्हें चाहा मैंने
चाहने वाला कोई ऐसा ख़ुदा और भी दे।

अनूदित होने के कारण इसमें भाषा का वह सौष्ठव और वैसी भंगिमा भले ही न हो जैसी मूल कविता में है पर बिम्बविहीन काव्यभाषा की सक्षमता को यह अनुवाद भी प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करता है। भावानुवाद उर्दू के प्रसिद्ध कवि-आलोचक जाँ अन्सारी ने रूसी की मूल कविता के आधार पर किया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रस्तुतीकरण की अभिव्यक्ति प्रणाली को

कविता अपनाती है उसकी मूल इकाई के रूप में बिम्ब नहीं अपितु शब्द होता है। कविता में प्रयुक्त बिम्ब, वस्तुचित्र न देकर भावचित्र उपस्थित करता है जिसकी प्रकृति आपाततः शब्दों द्वारा संप्रेषित भावचित्र के ही समान होती है। काव्य-बिम्ब भाषिक प्रक्रिया से उत्पन्न विशिष्ट शब्दसमूह रूप की इकाई के रूप में स्थिर रहते हैं अतः जो बिम्ब, भाषा की इस विशिष्ट इकाई रूप के समान सिद्ध नहीं होते, उन्हें 'स्वप्नचित्र', 'आर्कीटाइप', 'मिथ' अथवा अन्य कुछ भी नाम क्यों न दे दिया जाए पर 'काव्यबिम्ब' कहना तर्कसंगत नहीं जान पड़ता।

ऊपर की विवेचना से यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक होगा कि कविता में बिम्ब का कोई महत्त्व ही नहीं होता अथवा बिम्बयोजना, काव्येतर प्रक्रिया का परिणाम होती है। इसमें सन्देह नहीं कि बिम्ब विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषयवस्तु से होता है उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त और 'दीप्त' (केदारनाथ सिंह : १९५)। यहाँ बल इस तथ्य पर दिया जा रहा है कि विषय को मूर्त और रूप को दीप्त करने वाली बिम्ब-शक्ति का स्रोत, शब्दों की अपनी संयोजना में निहित होता है।

बिम्ब की परिभाषा और विश्लेषण दो दृष्टियों से करना सम्भव है। ब्रुक-रोज़ ने बिम्ब-सम्बन्धी आलोचना को दो मुख्य भागों में विभाजित किया है :

(१) भाववादी आलोचना : यह आलोचना पद्धति यह मानकर चलती है कि बिम्ब विश्लेषण का क्षेत्र प्रधानतः भावक्षेत्र होने के कारण भाषा और शब्दों के विश्लेषण के उपरान्त प्रारम्भ होता है। इस दृष्टि के अनुसार शब्द की स्थिति संचरना की इकाई के रूप में उसी प्रकार की होती है जैसे किसी 'प्रासाद' के 'रूप-निर्माण' में 'ईंट' की होती है अर्थात बिम्बरूपी प्रासाद के लिए शब्द, ईंट के समान होते हैं। पर बिम्ब को सार्थकता प्रदान करने वाली काव्यार्थवर्द्धक शक्ति उस सृजनात्मक प्रक्रिया का परिणाम होती है जो पूरी संरचना के कथ्य के भीतर से उद्भूत होती है और जो शब्दों के सामान्य अर्थ के साथ-साथ एक अतिरिक्त अर्थ को जन्म देती है। बिम्ब का मूल सम्बन्ध इस अतिरिक्त अर्थ से सम्बद्ध होने के कारण इस दृष्टि के समर्थकों के अनुसार, बिम्बों की सार्थकता की चर्चा शब्दशक्तियों की अपनी क्षमता के विवेचन के बाहर की वस्तु ठहरती है। (विनोग्रादोव : १९६०)

(२) भाषावादी आलोचना : इस दृष्टिकोण के अनुसार बिम्ब का निर्माण भाषा की अपनी विशिष्ट संरचना का परिणाम होता है और काव्यबिम्ब से उद्भूत 'अतिरिक्त' अर्थ वस्तुतः शब्द-रूप और शब्दार्थ की आन्तरिक टकराहट का ही परिणाम होता है। इस टकराहट को विम्सैट काव्यभाषा की लाक्षणिक शक्ति के आधार पर समझाते हैं, एम्पसन संदिग्धार्थता एवं अनेकार्थता, टेट शब्दों के अंतर्मुखी एवं बहिर्मुखी अर्थों के तनाव (टेन्शन) और क्लेनथ ब्रुक्स, विडम्बना एवं व्यंग्य के आधार पर स्पष्ट करते हैं।

बिम्ब की भाषावादी परिभाषा देते हुए कहा जा सकता है कि बिम्ब दो या दो से अधिक कथ्य का वह संश्लिष्ट रूप है जो अर्थ के धरातल पर विरोधी होने के

उपरान्त भी वाक्य संरचना के धरातल पर आपस में संबद्ध होता है।

तर्कपरक और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के अन्तर का दूसरा धरातल सामान्यीकृत अमूर्त प्रकथन में प्रयुक्त होने वाले प्रतीकों की प्रकृति-भिन्नता पर आधारित है। इस मान्यता को लेकर चलने वाले विद्वानों के अनुसार कविता और कुछ नहीं अपितु एक प्रकार की विशिष्ट भाषा ही है। अतः कविता को समझने का एकमात्र माध्यम उसमें प्रयुक्त होने वाली भाषा की प्रतीक पद्धति ही हो सकती है। काव्य-भाषा की इस प्रतीक पद्धति की अपनी विशिष्टता का उद्घाटन तर्कभाषा और उसमें प्रयुक्त होने वाली प्रतीक पद्धति के विरोध में ही सम्भव है। तर्कभाषा को कभी बोलचाल की भाषा और कभी वैज्ञानिक पाठों की भाषा की प्रतीक पद्धति के रूप में स्वीकार कर काव्यभाषा की प्रतीक पद्धति का अवमूल्यन ठीक उसके विरोध में लाकर किया गया है। इस दृष्टि को स्वीकार कर कविता की व्याख्या एवं मूल्यांकन करने वालों में रिचर्ड्स, विनोकुर एम्पसन, रैन्सम, विवस, क्रेव-गर, ह्वीलरायट, ब्लैकमूर, एलन टेट, ब्रुक्स, वारेन, बेटसन, विम्सैट, विनोग्रादोव आदि विद्वान प्रमुख हैं।

तर्कभाषा और काव्यभाषा की प्रतीक पद्धति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए प्रायः यह कहा गया कि कवि को अपनी दृष्टि और अनुभूति की प्रेरणा से अनुप्राणित होने के कारण काव्यभाषा 'भावात्मक' (इमोटिव) होती है जबकि विज्ञान की तटस्थ दृष्टि और सिद्धांतविशेष से बाधित होने के कारण तर्कभाषा की प्रकृति 'संकेतात्मक' (रिफ़रेंशियल) है (रिचर्ड्स : १९२५:२६१-७१); काव्यभाषा की प्रतीकपद्धति प्रत्यय और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध को लचीला बनाने के प्रयत्न में अर्थ को विकल्प के रूप में ग्रहण करती है जबकि तर्कभाषा में इस सम्बन्ध को रूढ़ और निश्चित बनाने के कारण अर्थ में विकल्प की सम्भावना ही नहीं रहती; विकल्प की स्थिति में रहने के कारण काव्यभाषा में संदिग्धार्थता और अनेकार्थता रहती है जो कविता में काव्यात्मकता को जन्म देती है जबकि तर्कभाषा निर्विकल्प होने के कारण एकार्थी प्रकथन के समान होती है (एम्पसन:१९४७); काव्यभाषा भी अपने भीतर तर्कप्रधान, बौद्धिक और गद्यात्मक अर्थ को अपने भीतर अन्तर्निहित किए रहती है पर मूलतः वह काव्यभाषा इसलिए है कि अर्थ और ध्वनि-संयोजन के अन्तर्विरोध एवं उनके बीच के तनाव के फलस्वरूप उसमें अबौद्धिक, अनिर्णीत एवं अतर्क्य अर्थ का भी समावेश रहता है (रैन्सम : १९४१); काव्यभाषा वस्तुतः सामान्य भाषा की संकेतार्थ प्रकृति के बाध और बाध्य संकेत के निषेध का परिणाम है अतः उसकी अर्थप्रकृति अन्तर्मुखी और आन्तरिक प्रक्रिया संकेतार्थ से मुक्ति को लेकर चलती है (टेट : १९५९); काव्यप्रतीक की प्रकृति संश्लेषणात्मक है और विरोधी तत्त्वों की घनीभूत इकाई होने के फलस्वरूप वह अपारदर्शी होती है जबकि तर्कभाषा की प्रतीक पद्धति विश्लेषणात्मक होती है और व्याकरण के सुनिश्चित नियमों में बँधे होने के कारण व्यवहार में वह पारदर्शी रहती है (बैट्सन : १९५०); विज्ञान जो कुछ कहता है वह 'भाषा के माध्यम'

से कहता है पर कविता जो कुछ कहती है वह भाषा को माध्यम बनाने के अतिरिक्त भाषा में कहती है (एल्स्को विवस : १९५५,१२१) जिसे क्रेयगर के शब्दों में कह सकते हैं कि तर्क भाषा, 'खिड़की के पारदर्शी शीशे' के समतुल्य होती है और काव्यभाषा अपने कार्यफलन में 'खिड़की के पारदर्शी शीशे' और 'दर्पण के सेट' दोनों ही के समरूप होती है (क्रेयगर : १९६४); काव्य प्रतीक का अर्थ तर्क प्रतीक के समान सिद्धान्त परिभाषित न होकर सन्दर्भ संबलित होता है। (क्लीन्थ ब्रुक्स : १९४७,८-९)

तर्कभाषा और काव्यभाषा के अन्तर के सन्दर्भ में ऊपर दी गई प्रतीक-पद्धति की विवेचना को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—एक, जो प्रतीक पद्धति के बाह्य पक्ष को लेकर विवेचना प्रस्तुत करती है और दूसरी जो उसके आन्तरिक पक्ष तक ही अपने विश्लेषण को सीमित रखती है। बाह्य पक्ष के परिप्रेक्ष्य में काव्यभाषा की विवेचनात्मक पद्धति मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, कवि-जीवन आदि विभिन्न साहित्येतर क्षेत्रों का अवलम्बन लेकर काव्यभाषा को तर्क-भाषा से अलग करने के पक्ष में है। इस श्रेणी के आलोचकों में रिचर्ड्स और विनोकुर के सिद्धान्त सर्वाधिक प्रभावशाली एवं बहुचर्चित रहे हैं।

रिचर्ड्स के अनुसार प्रकथन की दो स्पष्ट प्रतीक पद्धतियां हैं—एक, जिसका सम्बन्ध भाषा के संकेतार्थ पक्ष के रहने के कारण अर्थ की सत्यता अथवा असत्यता का बोध कराता है और दूसरा, जो उन अनुभवों एवं कविदृष्टिकोण को व्यक्त करता है जिसे एक विशेष संदर्भ में एक विशेष ढंग से भाषा उद्‌बुद्ध करती है। पहला, भाषा का वैज्ञानिक अथवा तर्कसिद्ध रूप है और दूसरा, भाषा का भावात्मक अर्थात काव्यसिद्ध रूप (रिचर्ड्स, १९२५ : ६७-८)। भाषा का भावात्मक रूप कवि की अपनी अनुभूति, भावना, अभिप्राय और दृष्टिकोण का वाहक होता है जिसको कथन की सत्यता-असत्यता के मापदण्ड द्वारा नापा नहीं जा सकता।

रिचर्ड्स की आलोचना पद्धति कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने एक ओर अपने साहित्यिक सिद्धान्त को मनोविज्ञान की चिन्तन प्रणाली से जोड़कर उसे वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया है और दूसरी ओर कविता को वस्तुनिष्ठ सिद्ध करते हुए पूर्ववर्ती आलोचनासिद्धान्त की भाववादी एवं सौंदर्यवादी मान्यताओं का खण्डन भी किया है। भाषा के कार्यफलन के आधार पर भावात्मक एवं संकेतात्मक प्रतीक पद्धतियों का विभाजन वस्तुतः उनके साहित्यिक सिद्धांत की अपनी माँग के परिणामस्वरूप है। रिचर्ड्स के अनुसार यह सही है कि कविता, विज्ञान की भाँति 'सत्यता' को आँका नहीं करती लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि कविता निरर्थक भावों की सार्थक अभिव्यक्ति है, उनकी दृष्टि में कविता, तीव्र मनोभावों की एक ओर अभिव्यक्ति है और दूसरी ओर इन तीव्र मनोभावों की व्यवस्थापक भी। महान कवि में स्वभावतः तीव्र मनोभावों का सघन रूप मिलता है। कविता का इन मनोभावों के साथ सम्बन्ध दो स्तरों पर होता है—(१) सृजनात्मक प्रक्रिया के स्तर पर जो कविसापेक्ष है, और (२) अनुभावन

प्रक्रिया के स्तर पर जो पाठकसापेक्ष है। मनोभावों के इन दोनों स्तरों पर पायी जाने वाली संघटना एक-दूसरे से सम्बद्ध एवं संसक्त होती है लेकिन कवि और पाठक के बीच पाये जाने वाले मनोभावों की संघटना में सम्बन्ध भी इसलिए संभव है कि इनके बीच प्रभावसंचार के लिए कविता का ठोस रूप स्थित है और अनुभव का काव्यभाषा के आधार पर साधारणीकृत होना सम्भव है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि रिचर्ड्स कवि और पाठक के मनोभावों की संघटना को संसक्त मानने के बावजूद कविता के सन्दर्भ में उसे एकरूप अथवा समरूप नहीं स्वीकार करते। इन दोनों मनोभावों की अपनी संघटना सिद्धान्त-रूप में मान्य है पर उनके बीच न पायी जाने वाली समरूपता ही वह कारण है कि कविता में सत्य का 'वस्तुरूप' नहीं पाते। इसके विपरीत वैज्ञानिक प्रकथन, वक्ता और श्रोता के बीच स्थित अनुभव संसार की एकरूपता को लक्ष्य बनाता है, वह बौद्धिक चेतना का निर्माण ही इस रीति से करता है कि वक्ता और श्रोता का मानस, चेतना के एकरूप धरातल का निर्माण कर सके जिसे रिचर्ड्स 'सत्य' नाम से बोधित करते हैं। एकरूप होने के कारण चेतना के इस धरातल (सत्य) को मापना, दुहराना और प्रामाणिक सिद्ध करना सम्भव है। कविता का 'सत्य' नहीं हुआ करता; उसका मात्र अर्थ होता है जो मनोभावों के दो संघटनात्मक सन्दर्भों (कवि और पाठक) के आन्तरिक संघर्षों का परिणाम होता है। अतः भाषा के भावपरक कार्यफलन का सीधा सम्बन्ध तीव्र मनोभावों के व्यवस्थापन से है।

रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित संकेतार्थ और भावार्थ सन्दर्भों के आधार पर भाषा की तर्कपरक और काव्यपरक प्रतीकपद्धति की आलोचना करने वालों में रैन्सम, ब्लैकमूर, टेट, ब्रुक्स और एम्पसन प्रमुख हैं। इनके अनुसार रिचर्ड्स की आलोचना पद्धति 'अभिप्रेत' (इन्टेंशनल) और अनुभाव (एफ़ेक्टिव) हेत्वाभास (फ़ेलेसी) पर आधारित है क्योंकि कविता के सही विश्लेषण के लिए यह आवश्यक नहीं कि कवि क्या कहना चाहता है वरन आवश्यक तो यह है कि हम जानें कि कविता स्वयं में क्या कहती है।

ध्यान देने की बात है कि पहले के कवि-आलोचक भी अपनी रचनाओं के मूल में भाषा की सार्थक सत्ता को स्वीकार करते रहे हैं। पर उनके लिए भाषा मात्र उपकरण थी और वह भी कविता या काव्यभाषा के कार्यफलन का नहीं अपितु कविता के किसी विशेष पक्ष का विशेष साधनरूप। उदाहरण के लिए 'सिडनी' के अनुसार कवि भाषा का उपयोग इसलिए करता है कि वह वस्तुपक्ष को हृदय-ग्राही बना सके, सामान्य जीवन के वे अंश जो बिना शंका के ग्रहण नहीं हो सकते उसे संशयहीन ढंग से काव्यपरक भाषा के सहारे सम्प्रेषित किया जा सके। ड्राय-डन के अनुसार भाषा का उपयोग उस तत्त्व को 'जीवन्त' बनाने में है जिसे हमारे ज्ञान और पर्यवेक्षण-शक्ति ने 'सत्य' के रूप में स्वीकार किया है। कोलरिज के लिए भाषा का महत्त्व कवि की कल्पनाशक्ति के लक्ष्य की पूर्ति का साधन रहा है और शेली के मतानुसार भाषा कवि की रचनात्मक कल्पना के एक महत्त्वपूर्ण

सहयोगी के रूप में ही सिद्ध रहती है।

लेकिन आज का कवि भाषा को कविता के माध्यममात्र के रूप में ही स्वीकार नहीं करता। यह इससे आगे बढ़कर यह भी कहता है कि 'कविता, भाषा की ही एक विधा है'। वह कविता को भाषा की एक शैली-विशेष के रूप में स्वीकार करता है और शैली को 'नॉर्म' से अलग हटी हुई भाषा की स्थिति-विशेष मानता है। वह आज कविता में प्रयुक्त शब्दों के इर्द-गिर्द चक्कर लगाकर यह सुनना चाहता है कि स्वयं में शब्द क्या बोलते हैं। अतः अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि 'काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।' (अज्ञेय) आलोचक भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि कविता, भाषा का ही एक विक्षेप रूप है (तोपोरोव १९६२ : २६४), विशेष रीति से व्यवस्थित भाषा की शैली-विशेष है (रोमन याकोब्सन १९६० : २६४)

काव्यभाषा की प्रतीक पद्धति के आन्तरिक पक्ष को अपनी विवेचना की विषयवस्तु बनाने वाले विद्वान यह मानकर चलते हैं कि कविता, स्वनिष्ठ है और उसकी सत्ता, स्वायत्त होती है। कविता को दो आधारों पर स्वनिष्ठ कहा जा सकता है। पहले आधार के अनुसार 'कविता' अपने में पूर्ण होती है। कोई भी साहित्यिक कृति अपनी सत्ता धारण करने के उपरान्त अपना निजी व्यक्तित्व ग्रहण कर लेती है अर्थात अपने जन्म के पश्चात कृति को अपनी जीवनसत्ता के लिए बाह्य तथ्यों का मुखापेक्षी नहीं होना पड़ता। कविता की स्वायत्त स्थिति इस तथ्य में निहित होती है कि उसके अनुभावन के लिए काव्य-सम्बन्धी जिस सन्दर्भ की अपेक्षा रहती है उसके सभी संकेत स्वयं कविता में उपलब्ध रहते हैं। कविता का कथ्य स्वयं कविता के दायरे में बँधा होता है। उस दायरे से बाहर जा वस्तुचयन कर न तो श्रोता के लिए कविता को दूषित करना अभीप्सित है और न अतिरिक्त वक्तव्य देकर काव्यानुभूति को विकृत करना ही कवि के लिए वांछित है। 'अज्ञेय' के शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि 'कविता ही कवि का परम वक्तव्य है।' अतः 'यदि कविता के स्पष्टीकरण के लिए स्वयं उसके रचयिता को गद्य का आश्रय लेकर कुछ कहना पड़े तो साधारणतः इसे उसकी पराजय ही समझना चाहिए।'

कविता को 'स्वनिष्ठ' कहने का दूसरा अर्थ यह है कि कविता को न तो उस अभिप्राय के आधार पर जाँचा-परखा जा सकता है जिसे लेकर कवि अपनी कृति की रचना करता है और न पाठकों पर पड़े प्रभाव के सन्दर्भ में ही उसकी उचित व्याख्या की जा सकती है। होता यह है कि रचना को अपने 'होने' की स्थिति में पहुँचने के पहले तक जिस अभिप्राय को लेकर रचनाकार आगे बढ़ता है, सृजनात्मक प्रक्रिया से गुजरने के बाद उसकी रूपप्रकृति ही बदल जाती है और कभी-कभी तो उसमें इस सीमा तक गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है कि अभिप्राय का अन्तिम प्रतिफलित रूप काव्य में अभिव्यक्त होने के पूर्व-रूप के ठीक विरोध में आ खड़ा होता है।

जिस संवेदनात्मक उद्देश्य को लेकर कवि, काव्यसृजन करने चलता है उसकी

प्रकृति से स्वयं कवि भी प्रारम्भिक अवस्था में परिचित नहीं होता। यह संवेदनात्मक उद्देश्य रूपी 'अनागत' कवि के चेतन मन में अपने होने का मात्र आभास और संकेत देता रहता है, वह उसके मानस-दर्पण में बिजली की चपलता के साथ अपने स्वरूप का प्रतिबिम्ब छोड़ता हुआ उसकी आँखों के सामने से ओझल हो जाता है। तड़ितवेग से कौंधकर अदृश्य हो जाने के कारण वह उसके स्वरूप और उसकी प्रकृति से परिचित नहीं हो पाता और कवि को अनुभूति के धरातल पर यह लगता है मानो अनागत उसके अवचेतन मन की अतल गहराई में डूबकर वहीं से अपनी अभिव्यक्ति के लिए 'चीख-चीख' कर उसके कवि-व्यक्तित्व को पुकार रहा है—**फूल जैसे अँधेरे में दूर से ही चीख़ता हो। इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है** (केदारनाथ सिंह)। कवि के लिए कविता का संवेदनात्मक उद्देश्य उस अज्ञात व्यक्ति के समान है जो उसकी—**जिन्दगी के·····/ कमरे में अँधेरे / लगाता है चक्कर / आवाज़ पैरों की देती है सुनाई / बार-बार···बार-बार।/ पर वह अज्ञात व्यक्ति है कि / भीत-पार आती हुई पास से / गहन रहस्यमय अंधकार ध्वनि-सा।/ अस्तित्व जनाता / है पर बावजूद सभी कोशिशों के / वह चेतना की दृष्टि से बँध नहीं पाता, / सुनाई जो देता, पर नहीं देता दिखाई** (मुक्तिबोध)

कहने का तात्पर्य यह है कि जो संवेदनात्मक उद्देश्य स्वयं कवि की चेतन-आँखों की पकड़ के बाहर होता है जो स्वयं उसके लिए एक अनबूझ पुकार सदृश है उसको जानने के लिए कवि भी उतना ही असमर्थ या समर्थ माना जाएगा जितना उस कविता का कोई अन्य पाठक। सच तो यह है कि इस संवेदनात्मक अनुभूति से परिचित होने के लिए ही कवि, कविता की रचना करता है :

> कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
> उमग कर,
> जन्म लेना चाहता हूँ फिर से,
> कि व्यक्तित्वान्तरित होकर,
> नये सिरे से समझना और जीना
> चाहता हूँ, सच
>
> **'चकमक की चिनगारी'—मुक्तिबोध**

कविव्यक्तित्व और कविता के सम्बन्धों को लेकर यह संकेत दे देना आवश्यक है कि कवि, कविता का रचयिता है, उसका नियामक नहीं, वह उसका जनक है पिता-धाता नहीं। दूसरी बात यह भी है कि कविता एक बार जब अपने अस्तित्व में आती है तब उसके बाद वह कवि से स्वतन्त्र हो जाती है। कविनियन्त्रण से मुक्त हो जाने के बाद ही वह 'कालयात्री' बनती है। 'कालयात्री' बनकर अपने भीतर समाविष्ट कथ्य एवं मूल्यों का वह स्वयं निर्देशन एवं निरूपण करती है। कविता में समाहित संवेदनात्मक कथ्य अथवा तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक मूल्यों के परिवर्तन एवं परिवर्द्धन करने की क्षमता स्वयं उसके रचनाकार में भी नहीं होती।

कविता पर अपना अलग से वक्तव्य देकर न तो कवि उसकी प्रकृति को बदल सकता है और न उसकी भिन्न व्याख्या कर आलोचक ही उसे परिवर्तित कर सकता है। बदलने में अगर कवि अथवा आलोचक समर्थ है तो केवल कविता के प्रति पाठकों की भावदृष्टि को। कालजयी कविता अपनी मूल प्रकृति एवं आन्तरिक संरचना में 'एक' होती है। बदलती है तो कविता और पाठक के बीच की सम्बन्ध-प्रकृति जिसको लक्ष्य में रखकर विभिन्न युगों में विभिन्न साहित्येतर आलोचक उक्त कविता-सम्बन्धी अपनी समीक्षा प्रस्तुत करते हैं :

नहीं होती, कहीं भी ख़त्म कविता नहीं होती
कि वह आवेग-त्वरित काल यात्री है
मैं उसका नहीं कर्ता
पिता-धाता
कि वह कभी दुहिता नहीं होती
परम स्वाधीन है वह विश्व-शास्त्री है।

'चकमक की चिनगारी'—मुक्तिबोध

कविता और भाषा के अन्तस्सम्बन्धों को दो भिन्न पर आपस में सम्बद्ध दृष्टि-कोणों के आधार पर कविता की आन्तरिक समीक्षा करने वाले विद्वानों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहले वर्ग का ध्यान 'कविता' पर केन्द्रित होता है। कविता की अपनी माँग के सन्दर्भ में वे काव्यभाषा की विवेचना करते हैं और इस दृष्टि से उनकी विवेचना में काव्यभाषा के गुण कविता के सन्दर्भ में मात्र उदाहरण एवं प्रमाण रूप में उद्धृत मिलते हैं। दूसरा वर्ग कविता और काव्यात्मकता में स्पष्ट भेद कर अपनी आलोचना प्रस्तुत करना चाहता है। उसके अनुसार कविता, वस्तुरूप होती है और उसमें निहित काव्यात्मकता, काव्य-संबंधी लक्षणरूप होती है। लक्षणरूप में होने के कारण 'काव्यात्मकता' केवल कविता में ही नहीं वरन अन्य साहित्यरूपों में भी मिल सकती है। वह कविता, कहानी, उपन्यास और यहाँ तक कि विज्ञान-सम्बन्धी लेखों में भी पायी जा सकती है। जो वर्ग कविता और काव्यात्मकता में स्पष्ट अन्तर मानकर चलता है वह 'काव्यात्मकता' का सम्बन्ध भाषा के विशिष्ट कार्यफलन के साथ जोड़कर भी देखने के पक्ष में है। अगर पहले वर्ग की आलोचना पद्धति 'कविता' को केन्द्र में मानकर काव्यात्मक लक्षणों की विवृति कविता-उद्धरणों के माध्यम से करती है तब दूसरे वर्ग की आलोचना पद्धति 'काव्यात्मकता' पर अपना ध्यान केन्द्रित कर कविता की विवेचना को इन 'काव्यात्मक लक्षणों' की समष्टि अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में रखती है और 'काव्यात्मक लक्षणों' की व्याख्या भाषा के विभिन्न कार्यफलन के आधार पर करने के पक्ष में है।

अगर 'कविता भाषा की ही एक विधा है', तब यह भी कहा जा सकता है कि 'काव्यात्मकता' का गहरा सम्बन्ध भाषा की प्रतीक पद्धति की अपनी संयोजना

से है। और अगर यह माना जाए कि विज्ञान, अपनी अभिव्यक्ति प्रणाली के संदर्भ में कविता के ठीक विरोध में है तब तर्कभाषा और काव्यभाषा की प्रतीक पद्धति, विज्ञान और कविता के बीच पाये जाने वाले प्रभेदक लक्षणों के दो छोर ही सिद्ध होगी। इसके साथ अगर यह भी स्वीकार कर लें कि भाषा की मूल प्रकृति सामान्य बोलचाल की भाषाशैली में प्रतिफलित होती है और उसमें तर्क और काव्य, दोनों ही भाषारूप मिलते हैं, तब यह भी कहा जा सकता है कि विज्ञान और कविता दोनों ही सामान्य भाषा को मूलाधार मानकर उसे अपनी प्रतीकपद्धति के अनुरूप बनाने के लिए सृजनात्मक प्रयास करते हैं।

यहाँ संक्षेप में उन प्रभेदक लक्षणों पर विचार कर लेना असमीचीन न होगा जो अपनी प्रकृति और कार्यफलन के आधार पर तर्कभाषा और काव्यभाषा को दो भिन्न प्रतीक पद्धति सिद्ध करते हैं।

(१) तर्कभाषा और काव्यभाषा का अन्तर मूलतः 'संहिता' और 'सन्देश' का अन्तर है; तर्कभाषा, सामान्य भाषा के सन्दर्भ में प्रधानतः 'संहिता सापेक्ष' होती है और काव्यभाषा, 'संदेश सापेक्ष'।

संहिता, भाषा की वह आन्तरिक व्यवस्था होती है जो अपनी प्रतीक पद्धति के संदर्भ में ही परिभाषित होती है और जिसकी इकाइयाँ अपने पारस्परिक संबंधों के आधार पर ही निर्णीत और निर्धारित होती हैं। 'सन्देश' का सम्बन्ध भाषा की उस प्रतीकव्यवस्था से रहता है जो वक्ता के अपने अनुभवों से संयुक्त रहती है और जो बाह्य जगत से अपना अविछिन्न सम्बन्ध बनाये रखती है।

सामान्य भाषा में 'सन्देश', वक्ता के अपने दृष्टिकोण और बाह्य जगत-सम्बन्धी अन्य सूचनाएँ सम्प्रेषित करने में सक्षम रहता है। बाह्य जीवन की ये सूचनाएँ काव्यवस्तु का उपांग बनने के कारण कविता की अपनी वस्तु बनती हैं और एक बार जब वे कविता में बँध जाती हैं तब अपनी सत्ता के लिए बाह्य जीवन की मुखापेक्षी नहीं रह जातीं। सामान्य भाषा के शब्द इन्द्रियग्राह्य बहिर्जगत के किसी न किसी पदार्थ अथवा भाव के सूचक होते हैं पर काव्यभाषा के शब्द, बहिर्जगत के सूचक तत्त्व से मुक्त होकर काव्यार्थ को उद्घाटित करते चलते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अर्न्तजगत के भावों को जब बहिर्जगत की भाषा में व्यक्त किया जाता है तब एक ओर काव्यवस्तु के सन्दर्भ में बहिर्जगत की उपस्थिति का एक सीमा तक बाध भी होता चलता है और दूसरी ओर संकेतार्थ के इस बाध के परिणाम-स्वरूप, सामान्य भाषा द्वारा संकेतित बिम्ब की इन्द्रियग्राही प्रकृति में गुणात्मक अन्तर भी उत्पन्न होता जाता है। उदाहरण के लिए 'ज्वलन्त सरसिज', 'अंगारी उत्तर', 'चीखते शब्द' आदि प्रयोगों को ही लें। सरसिज, उत्तर और शब्द के ऊपर अगर हम क्रमशः 'ज्वलन्त', 'अंगार' और 'चीख' शब्दों के बहिर्जगत की इन्द्रिय-ग्राह्य मूर्त छवियों का आरोपण करें तब अर्थ का अनर्थ ही होगा। इन मूर्त छवियों के संकेतार्थ का बाध कर ही हम काव्यार्थ तक पहुँच सकते हैं।

उदाहरण के लिए नारीजीवन-सम्बन्धी गुप्त जी का यह काव्य-कथन लें :

अबला जीवन, हाय, तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी

'आँचल' शब्द को ही देखें। आँचल और दूध के बीच का सम्बन्ध 'में' परसर्ग से स्पष्ट है। वाच्यार्थ के द्वारा आँचल, दूध के लिए आधारपात्र के रूप में सामने आता है ठीक उसी प्रकार जैसे आँसू के लिए 'आँखें' आधारपात्र रूप में सिद्ध हैं। लेकिन दूध तरल पदार्थ है और आँचल अनेक रन्ध्रों से युक्त पदार्थ। लोक-व्यवहार से यह सिद्ध है कि आँचल में दूध के लिए आधारपात्र बनने की क्षमता ही नहीं। पर जिस प्रकार 'आँख' से सन्दर्भित होकर 'पानी' शब्द का संकेतार्थ 'आँसू' रूपान्तरित हो जाता है उसी प्रकार 'दूध' शब्द के सान्निध्य से 'आँचल' का भी संकेतार्थ 'स्तन' में ढल जाता है। 'स्तन' चन्दन-लेप से सुशोभित होकर शृंगारभाव का उद्दीपक भी बन सकता है और दूध से संयुक्त होकर मातृत्वभाव की प्रबलता का आलम्बन भी। अतः 'आँचल में है दूध' उपवाक्य का अर्थ हुआ 'नारी जीवन के मातृत्वभाव की प्रबलता'। पर यह उपवाक्य संयोजक 'और' शब्द द्वारा संयुक्त है एक दूसरे उपवाक्य से—'आँखों में पानी'। जलसिक्त आँखें, नारीजीवन की परवशता और करुण स्थिति की अभिव्यंजक हैं। 'और' शब्द से जुड़कर ये दोनों कथन एक-दूसरे से टकराकर एक 'अण्डरटोन' को ध्वनित करते हैं जो कथन के पूर्वपक्ष 'अबला जीवन, हाय, तुम्हारी यही कहानी' को बेधकर नारी-जीवन की एक विशिष्ट विडम्बना को उद्घाटित करने में समर्थ बन जाते हैं। 'अबला' शब्द नारीजीवन की बलहीनता और करुण स्थिति दोनों की ओर संकेत करता है और उसकी जीवन-कहानी, 'आंखों में पानी' की ओर संकेत करती है। लेकिन यह तो स्थिति की विद्रूपता या परिस्थितियों की विडम्बना नहीं। सम्पूर्ण कथन के सन्दर्भ में प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'हाय' शब्द से जो व्यंग्य ध्वनित होता है वह 'आँचल में है दूध' और 'आँखों में पानी' के वाच्यार्थ की टकराहट में अपना उत्तर पाता है—'मातृत्व की गरिमा में मण्डित' और फिर भी 'परवश, दयनीय और करुण जीवन-यापन !'

ध्यान देने की बात है कि काव्यभाषा, सन्देशसापेक्ष तो होती है पर साथ ही बल उसमें 'सन्देश' की अपनी संघटना पर होता है। परिणामस्वरूप उसके द्वारा सम्प्रेषित सूचनाएँ बाह्य संसार की ओर न मुड़कर शाब्दिक रूप के निर्माण की ओर प्रवृत्त होती हैं। स्टैंकविक्ज़ (१९६१, १५) के अनुसार इस प्रकार वह कांट द्वारा निर्देशित कलात्मक लक्ष्य—'उद्देश्यविहीन उद्देश्य' के निर्माण का कारण बनती है, काव्यभाषा, सन्देश की आन्तरिक संघटना पर बल देने के कारण उद्देश्यपूर्ण होती है पर 'सन्देश' का यह रूप बाह्य संसार के सन्दर्भ से कटकर निरुद्देश्य हो जाता है।

कविता का विशिष्ट अर्थ वस्तुतः 'सन्देश' की इस आन्तरिक संघटना का परिणाम होता है और यही कारण है कि नयी आलोचना, काव्यार्थ को काव्यसंरचना के भीतर ही पाना चाहती है। उसके अनुसार कविता की सिद्धि, 'सन्देश' की

अपनी इकाइयों द्वारा निर्मित आत्यन्तिक मूल्यों (टर्मिनल वैल्यूज़) के अलग, विशिष्ट और अपने में पूर्ण संसार की सृष्टि में है। वास्तविक संसार और आत्यन्तिक मूल्यों के सहारे निर्मित संसार दो भिन्न इकाइयाँ हैं। पहले संसार का अनुभवबोध हमें भाषा के सामान्य प्रयोग द्वारा होता है जब कि आत्यन्तिक मूल्यों के सहारे निर्मित संसार, पूरा-का-पूरा साहित्यिक कृति की सीमारेखा में बंधे होने के कारण भाषा की एक विशिष्ट शैली के माध्यम द्वारा ही जाना-पहचाना जा सकता है (लीच, १९६९, १४७)।

यहाँ यह भी तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि 'कलात्मक लक्ष्य' के रूप में स्वीकृत 'उद्देश्यविहीन उद्देश्य' का सम्बन्ध काव्यात्मक लक्षण के साथ है, न कि कृति के साथ। भाषा के काव्यपरक कार्यफलन का सम्बन्ध प्रभावसंचार प्रक्रिया के 'संदेश' तत्त्व के साथ रहता है और इसी 'सन्देश' की आन्तरिक संघटना को 'काव्यात्मकता' अपना लक्ष्य बनाती है पर कृति के रूप में कविता, न तो मात्र 'सन्देश' होती है और न उसका भाषा में मात्र 'काव्यपरक' कार्यफलन ही रहता है। यह पहले संकेत दिया जा चुका है कि कार्यफलन के रूप में भाषा के किसी एक लक्षण की प्रमुखता का यह अर्थ नहीं होता कि अन्य 'लक्षणों' की सत्ता ही समाप्त हो गयी है।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अकाव्यात्मक भाषा केवल खिड़की के उस पारदर्शी शीशे के समान होती है जिसके सहारे बाह्य जीवन को देखा, समझा और उसका अनुभव किया जा सकता है। पर कविता के लिए भाषा मात्र माध्यम का ही कार्य नहीं करती अपितु वह उसकी संरचना और उसमें निहित 'सन्देश' की संघटना का अंग भी बनती है अर्थात कविता भाषा द्वारा मात्र अभिव्यक्त नहीं होती वरन 'काव्यात्मकता' को जन्म देती हुई भाषा का अभिन्न अंग भी बनती है। यही कारण है कि काव्यभाषा एकसाथ 'खिड़की का पारदर्शी शीशा' भी है और 'दर्पण का सेट' भी (मरे क्रियगर, १९६४)। 'पारदर्शी शीशे' के रूप में एक स्तर पर वह बाह्य जीवन के उपादानों की ओर संकेत देती रहती है और काव्यात्मकता को बाँधते हुए एक दूसरे स्तर पर 'दर्पण के सेट' के रूप में बाह्य जीवन की छवि को एक गुणात्मक भेद के साथ अनन्त रूप में अपने भीतर प्रतिबिम्बित भी करती रहती है।

(२) तर्कभाषा और काव्यभाषा अपनी वर्णन विधि और प्रतीक पद्धति की संयोजना के आधार पर भी एक-दूसरे की विरोधी हैं। तर्कभाषा में प्रतीक और संकेतित वस्तु (रिफ़रेण्ट) के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति समानाधिकरणिक (इक्वेशनल और अपोज़िटिव) होती है और उसकी प्रतीक पद्धति का संयोजन समीकरण के सिद्धांत को लेकर चलता है। काव्यभाषा में बल इस हेत्वाभास पर रहता है कि प्रतीक और संकेतित वस्तु एक होकर भी एक नहीं हैं। काव्यात्मकता का मूल लक्ष्य इस हेत्वाभास को यथार्थता प्रदान करना है। प्रतीक पद्धति की जिस प्रकृति को काव्यभाषा अपनाती है वह समीकरण के सिद्धांत पर नहीं वरन सममूल्य और

तुल्यार्थक (इक्यूवैलेंस) सिद्धांत पर आधारित होती है।

प्रतीक पद्धति की तुल्यार्थक संयोजना को याकोब्सन ने प्रतीकों के चुनाव और संसर्ग के आधार पर समझाने का प्रयास किया है। अगर किसी कथन में 'स्त्री' प्रकरण है तब कवि, उससे मिलते-जुलते प्रतीकों में से किसी एक का चुनाव करता है। 'स्त्री' के समानार्थी 'नारी, रमणी, वनिता, ललना, अंगना, वामा, महिला, अबला, कुलजा, तरुणी, प्रमदा, सुन्दरी, सुभगा' आदि कई अन्य शब्दप्रतीक हैं। गुप्त जी ने ऊपर उद्धृत काव्यांश 'अबला जीवन, हाय, तुम्हारी यही कहानी', में इनके बीच से एक निश्चित प्रतीक 'अबला' का चयन किया है। चयन में भी सार्थकता होती है और यह सार्थकता, संकेतार्थ में एक अतिरिक्त अर्थ को व्यंजित करने में समर्थ है। 'अबला' में 'स्त्री' संकेतार्थ के अतिरिक्त स्त्री-जीवन की निर्बलता, अशक्यता और दारुण स्थिति की भी अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार 'प्रकरण' की व्याकृति (कॉमेंट) के सन्दर्भ में एक शब्द-प्रतीक है 'कहानी'। इसके समानार्थी 'गल्प, गाथा, वृत्तान्त, आख्यान' आदि कई शब्द-प्रतीक हैं पर 'कहानी' के चुनाव में घटनाओं की क्रमिकता, और इतिहास का समयप्रवाह दोनों सम्मिलित हैं।

'चुनाव' के प्रश्न का निराकरण 'तुल्यार्थक' सिद्धांत के आधार पर किया जाता है अर्थात शब्द-प्रतीकों के 'चुनाव' के विकल्प की स्थिति में पहले तुल्यार्थक सिद्धांत के आधार पर उपकथनों के बीच की समता-विषमता, पर्याय और विपर्यय आदि का कवि मूल्यांकन करता है और फिर सन्निधि (कांटीगुयूटी) के सिद्धांत के आधार पर एक निश्चित प्रतीक पद्धति के अंक के रूप में शब्दप्रतीकों को योजनाबद्ध करता है। याकोब्सन के अनुसार 'काव्यात्मक कार्यफलन, चुनाव के धरातल से सन्निधि के धरातल पर तुल्यार्थक सिद्धांत का प्रक्षेपण करता है।' (The poetic function projects the principle of equivalence from the axis of selection into the axis of combination. R. Jakobson. 1960 : 358)।

(३) ऊपर संकेत दिया जा चुका है कि कविता में प्रतीक और 'संकेतित वस्तु' के सम्बन्धों को लेकर इस हेत्वाभास को यथार्थता प्रदान की जाती है कि ये दोनों एक होकर भी एक नहीं हैं। समानता और असमानता के इस अन्तर्विरोध का बोध और उस अन्तर्विरोध का निराकरण ही लाक्षणिक प्रयोग का मूलाधार बनता है। कहने का तात्पर्य यह है कि तर्कभाषा, अभिधामूलक होती है पर काव्यभाषा मूलतः लाक्षणिक।

लक्षणाशक्ति की स्वीकृति और काव्यसंवेदना के मूल में इस शक्ति की सत्ता की अनिवार्य स्थिति मानने वालों में संस्कृत काव्यशास्त्रियों में भामह और उद्भट का नाम लिया जा सकता है। इनके अनुसार कविता में कलात्मकता का मूलाधार लक्षणाशक्ति ही है। आनन्दवर्द्धन लक्षणाशक्ति की सत्ता से इनकार नहीं करते पर इसके कार्यक्षेत्र को सीमित कर 'लक्षणा' के स्थान पर 'व्यंजना' को 'काव्यात्मकता' की चरम परिणति मानने के पक्ष में हैं। जिन आलोचकों ने 'काव्यपाठ' के भीतर ही काव्यात्मकता को ढूंढ़ने का प्रयास किया है, उन्होंने काव्य के मूल में इस लक्षणाशक्ति को ही मूल काव्यशक्ति माना है। उदाहरण के लिए जयदेव के अनुसार ध्वनिरस का एक ओर अलंकार में अन्तर्भाव है और दूसरी ओर विभिन्न अलंकारों के मूल में लक्षणाशक्ति कार्य करती है :

शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे संख्यायां कारके तथा।
लिंगे चेयमलंकारांकुरबीजतया स्थिता॥

—चन्द्रालोक १/१६

लक्षणाशक्ति का प्रयोग वैसे सामान्य भाषा में भी देखा जा सकता है, यथा—"किसी काम से हाथ खींचना, किसीका रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना, उदासी टपकना" आदि। पर सामान्य भाषा में पाये जाने वाले लक्षणा के ये प्रयोग 'कवि समयसिद्ध' उक्तियाँ हैं जो बोलचाल में रूढ़ होकर आ गई हैं। इनमें भाषा की वह जीवन्त शक्ति नहीं रह जाती जिसके सहारे काव्यभाषा 'असामान्य' और 'संवेदना के नये धरातल' को पकड़ना चाहती है। सामान्य भाषा में पाई जाने वाली लक्षणापरक ऐसी रूढ़ और मृत उक्तियों को ही देखकर सम्भवतः एमर्सन ने कहा है कि, "(सामान्य) भाषा, कविता का ही जड़रूप है।"

सामान्य भाषा और कविता के सन्दर्भ में लक्षणाशक्ति के कार्य भिन्न-भिन्न हैं। गद्य के सन्दर्भ में विषयवस्तु को वह पाठक (श्रोता) की संवेदना के अधिक समीप लाती है, वह कथ्य के अभिप्रेत को केन्द्रीभूत करती है और सूक्ष्म अगोचर भावनाओं को मूर्त गोचर रूप प्रदान करती है। कविता के सन्दर्भ में वह अर्थ को घनीभूत बनाती है, काव्यवस्तु को 'सामान्य' से 'असामान्य' की ओर ले जाती है और विषयवस्तु को 'संवेदनाओं के एक नये धरातल' पर पहुँचाती है।

श्कालोव्स्की (१९१९) के अनुसार जिस प्रकार समुद्र के किनारे रहने वाले व्यक्ति समुद्र के गर्जन और कोलाहल के संगीत के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उसका नादसौन्दर्य उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखता, उसी प्रकार जिन शब्दों एवं उक्तियों का जिन सन्दर्भों में हम बार-बार प्रयोग करते हैं उनके हम इतने अभ्यस्त हो उठते हैं कि वे उक्तियाँ हमारे लिए स्थिर एवं निर्जीव-सी प्रतीत होती हैं। उन सन्दर्भों में हमारी संवेदनाएँ इतनी जड़ और स्थिर हो जाती हैं कि हम उनके द्वारा संकेतित वस्तु को केवल पहचान पाते हैं लेकिन अनुभव नहीं कर सकते। काव्यभाषा के सन्दर्भ में 'लक्षणा' का हर नया प्रयोग अभ्यस्त जीवन की हमारी स्थिर एवं जड़ीभूत संवेदनाओं के प्रस्तर धरातल को तोड़कर अनुभूतियों के गतिशील और तरल संसार का निर्माण करता है, वह परिचित वस्तुओं को भी अपरिचित धरातल पर खड़ा कर नूतन सन्दर्भ प्रदान करता है।

(४) तर्कभाषा और काव्यभाषा के अन्तर का चौथा प्रभेदक लक्षण है—

अर्थ का एकस्तरीय और बहुस्तरीय पक्ष। 'सन्देश' पर ध्यान केन्द्रित करने के कारण अकाव्यात्मक वाक्य में क्रमबद्ध ढंग (लीनियर ऑर्डर) से अपने-अपने स्तरों पर स्थित स्वनिष्ठ इकाइयाँ रूपान्तरित होकर अस्वनिष्ठ (नॉन-आटोनोमस) और बहुस्तरीय (मल्टीडाइमेन्सनल) बन जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विशिष्ट अर्थ को बाँधने के प्रयास में इकाइयों की क्रमबद्धता टूटकर केन्द्रीभूत हो जाती है और शब्द, प्रतीकत्व की सीधी प्रकृति छोड़ कर लाक्षणिक अर्थनिर्माण के कारण 'अबौद्धिक' और 'अतर्क्य' इकाई बन जाते हैं।

तर्कभाषा की प्रतीक पद्धति की क्रमबद्ध योजना के विपरीत काव्यभाषा सन्देशसम्प्रेषण के लिए जिस पद्धति को अपनाती है वह सापेक्षतया क्रमहीन होती है। (पर इसके साथ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस क्रमहीनता में भी एक निश्चित क्रम होता है, काव्यभाषा की लचीली पद्धति में भी एक काठिन्य नैयमिक विधान होता है।) काव्यभाषा का यह नैयमिक अतिक्रम, भाषा के विभिन्न स्तरों की इकाइयों को बहुस्तरीय बनाने के कारण आता है। स्तरों की टकराहट, व्याकरण और शब्दकोष, अर्थ और ध्वनि, वाक्य और उपवाक्य, उपवाक्य और पदबन्ध आदि स्तरों के आपसी तनाव के रूप में व्यक्त होती है। इस तनाव का मूल कारण यह है कि काव्यभाषा की इकाइयाँ एक तरफ़ 'संहिता' के साथ सम्बद्ध होने के कारण अपने-अपने स्तरों पर स्वनिष्ठ बनने की ओर प्रवृत्त होती हैं और दूसरी तरफ़ 'सन्देश' के 'अबौद्धिक' और 'अतर्क्य' पक्ष को पकड़ने के हेतु वे 'अस्वनिष्ठ' और 'बहुस्तरीय' बनने के लिए बाध्य भी रहती हैं।

(५) कलात्मक संघटना काव्यवस्तु के बहुस्तरीय पक्ष की अभिव्यक्ति का परिणाम होती है। यहाँ ध्यान देना आवश्यक है कि काव्यवस्तु के बहुस्तरीय पक्ष के निर्माण में उसके विभिन्न पक्षों की विषमता को मिटाया नहीं जाता अपितु उनकी विषमता को बिना मिटाए ही उनके बीच एक आन्तरिक अन्विति स्थापित की जाती है। (इसका विवेचन विस्तारपूर्वक पहले किया जा चुका है।)

(६) जिस अभिव्यक्ति पद्धति को विज्ञान अपनाता है उसकी प्रकृति निर्वचनात्मक (ऑपरेशनल) होती है अतः उसके प्रकथन को अपने निम्नतर प्रकथन और 'डेटा' के सन्दर्भ में असत्य एवं अप्रामाणिक सिद्ध किया जा सकता है। पर जैसा दूसरे भाषण में विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है, कविता की अभिव्यक्ति पद्धति की प्रकृति प्रस्तुतीकरण की होती है अतः उसकी उक्तियों का खण्डन इस रीति से सम्भव भी नहीं। आगे बढ़कर तो यह भी कहा जा सकता है कि कविता की उक्तियाँ होती ही ऐसी हैं जो तर्कविरोधी और व्यावहारिक ज्ञान के सन्दर्भ में असंगत लगती हैं पर ऊपर से असंगत प्रतीत होने वाली उक्तियों को कविता की पूरी संरचना के सन्दर्भ में रखने पर उनका सहज समाधान भी हो जाता है।

(७) शब्द या वाक्य के रूप में प्रतीक प्रत्यय (कथ्य) और अभिव्यक्ति के एकीकरण का परिणाम होता है। कालिदास का कथन 'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये', लिंगपुराण की उक्ति 'अर्थः शम्भुः शिवा वाणी' अथवा तुलसीदास की

पंक्ति 'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' पूर्णतः सार्थक कथन है। संस्कृत के व्याकरणाचार्यों ने भी प्रत्यय और अभिव्यक्ति की अखण्डता की ओर संकेत दिया है :

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

—वैयाकरणभूषणसार

प्रतीक के अभिव्यक्तिपक्ष के श्रवण के साथ उसका प्रत्यय भी मन में तत्काल उभरता है और प्रत्यय का बोध बिना उसके अभिव्यक्तिपक्ष का अवलम्बन लिये असम्भव है।

तर्कभाषा और काव्यभाषा का सातवाँ प्रभेदक लक्षण प्रतीक के प्रत्यय और अभिव्यक्तिपक्ष के सम्बन्धों की प्रकृति है, तर्कभाषा में इस सम्बन्ध को स्थिर बनाकर प्रतीक को एकार्थी बनाने का प्रयास होता है और काव्यभाषा की सृजनशीलता इस सम्बन्ध को लचीला बनाकर प्रतीक को अनेकार्थी बनाने में रहती है।

एक ओर एक ही प्रत्यय को भिन्न-भिन्न अभिव्यक्ति रूपों में व्यक्त करना सम्भव है और दूसरी ओर एक ही अभिव्यक्ति रूप, भिन्न-भिन्न प्रत्ययों की ओर संकेत देने में सक्षम है। शब्द के रूप में 'अंक' के 'संख्या, चिह्न, गोद, अक्षर, पार्श्व आदि' बत्तीस अर्थ हैं (देखिये, हिन्दी शब्दसागर, प्रथम भाग) और 'कमल' फूल के संकेतार्थ को व्यक्त करने के लिए 'पंकज, जलज, नीरज, सरसिज, पद्म आदि' कई अन्य शब्द हैं। वाक्य के रूप में एक ही कथन, यथा—'सुन्दर लड़की ने आम खाया' को कई अभिव्यक्तिरूप देना सम्भव है, जैसे—(१) लड़की जो सुन्दर है उसने आम खाया, (२) आम सुन्दर लड़की ने खाया आदि। इसी प्रकार एक ही अभिव्यक्तिरूप वाक्य के एक से अधिक अर्थ भी सम्भव हैं, यथा—'राम ने दौड़ते हुए शेर को मारा' को दो अर्थ देना सम्भव है—(१) राम ने शेर को मारा, राम दौड़ रहा था; (२) राम ने शेर को मारा, शेर दौड़ रहा था।

'शब्द' वैसे तो यहाँ प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया है पर सामान्य भाषा में वर्णविन्यास (अभिव्यक्तिपक्ष) की एकरूपता के आधार पर भिन्न-भिन्न अर्थों को व्यक्त करने वाले भिन्न-भिन्न प्रतीक एक ही 'शब्द' के रूप में स्वीकृत मिलते हैं। भामह, 'प्रत्यय' और 'अभिव्यक्ति' के सम्बन्धों के विशिष्ट (चमत्कारपूर्ण) प्रयोग को ही काव्य का मूलाधार मानते हैं पर उनका कथन है—'शब्दार्थौ काव्यम्'। काव्यभाषा में इन सम्बन्धों का सोद्देश्य बहुस्तरीय प्रयोग कर श्लेष-अलंकार की योजना मिलती है। मम्मट के अनुसार अर्थभेद के कारण शब्द-प्रतीक वर्णविन्यास की एकरूपता के बावजूद भिन्न-भिन्न प्रतीक इकाइयाँ हैं पर ये भिन्न प्रतीक इकाइयाँ (शब्द) जब (जतुकाष्ठन्याय से) मिलकर एकरूपी हो जाते हैं तब श्लेष अलंकार उत्पन्न होता है :

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः
श्लिष्यन्ति शब्दाः, श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।

दण्डी ने 'श्लेष' को ही उपमा, रूपक, आक्षेप और व्यतिरेक आदि अलंकारों के अंगभूत रूप में स्वीकार किया है। (काव्यादर्श २/३१३) और इसे प्रत्यय और अभिव्यक्ति के सम्बन्धों की विशिष्ट परिणतिस्वरूप काव्यात्मकता का जनक स्वीकार किया है—'श्लेषः पुष्णाति सर्वासु प्रायो वक्रोक्तिषुश्रियं।'

यह भी द्रष्टव्य है कि तर्कभाषा द्वारा व्यंजित अर्थ प्रायः संकेतार्थ की ओर मुड़ा रहता है अतः कमल, पंकज, नीरज आदि शब्द-प्रतीकों में किसी एक का चुनाव एवं प्रयोग उसके लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। पर काव्यभाषा का अर्थ संकेतार्थ से बँधकर भी उससे मुक्त हो सकता है। साथ ही वह व्युत्पत्तिमूलक अर्थ को भी ध्यान में रखता है। 'पंकज' और 'जलज' दोनों ही 'कमल' वस्तु की ओर संकेत करते हैं पर एक उसे कीचड़ के साथ जोड़कर 'गूदड़ी के लाल' अथवा 'विपन्नता में भी स्थिर, कोमल और उदात्त' रूप को सामने लाता है और दूसरा जल के साथ उसे जोड़ कर राजा जनक की भाँति अपने वातावरण से अप्रभावित और निश्च्छल सिद्ध करने की ओर प्रवृत्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यार्थ की काव्यात्मकता, शब्द रूपों के पर्याय और विपर्यय पक्ष को छोड़कर सिद्ध नहीं हो सकती है।

प्रत्यय और अभिव्यक्तिपक्ष के सम्बन्धों की लचीली प्रकृति को काव्यात्मक परिणति देखने के लिए नीचे दिए काव्यांश में 'गोल-गोल' शब्द के अभिव्यक्त रूप को ही लें :

मात्र अनस्तित्व का इतना बड़ा अस्तित्व
ऐसे घुप्प अँधेरे का इतना तेज़ उजाला
लोग-बाग
अनाकार ब्रह्म के सीमाहीन शून्य के
बुलबुले में यात्रा करते हुए गोल-गोल
गोल-गोल
खोजते हैं जाने क्या ?
बेछोर सिफ़र के अँधेरे में बिला बत्ती सफ़र
भी ख़ूब है।

—'एक अरूप शून्य के प्रति'—मुक्तिबोध

अभिव्यक्ति रूप में 'गोल-गोल' शब्दप्रतीक एक होते हुए भी प्रत्यय और अभिव्यक्ति के सम्बन्धों के आधार पर दो हैं। पहला 'गोल-गोल' विशेषणरूप है जो यात्रा की निरर्थकता को व्यंजित करता है। इसका एक अर्थ 'अँधेरे में बिला-बत्ती सफ़र' है। दूसरा 'गोल-गोल' संज्ञारूप है जो 'बेछोर सिफ़र' 'अनाकार ब्रह्म'

है जो मूलरूप में 'अनस्तित्व' और 'घुप्प अँधेरा' है, यह 'सीमाहीन शून्य' है उस 'अनाकार ब्रह्म' का जिसका कोई अस्तित्व नहीं, फिर भी लोग हैं कि उसको ढूंढ़ने के निमित्त 'गोल-गोल' (व्यर्थ में) चक्कर लगाते हैं।

(८) तर्कभाषा, जिस ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है उनके सिद्धान्तों द्वारा 'प्रतीक' को परिभाषित कर एकार्थी बनाती है। इसके विपरीत काव्यभाषा में प्रयुक्त प्रतीक भी एकार्थी हो सकता है पर उसके अर्थ की विशिष्टता वस्तुतः सन्दर्भअनुप्राणित होती है।

तर्कभाषा का प्रतीक, वैज्ञानिक शब्द (टर्म) होता है पर काव्यभाषा का प्रतीक 'विशिष्ट' होकर भी 'सामान्य' बना रहता है। वैज्ञानिक शब्द और काव्यपरक शब्द, दोनों दो विभिन्न क्षेत्रों के प्रभुत्व में रहते हैं, दोनों ही एक दृष्टि से सामान्य भाषा के सामान्य प्रयोग से दबे रहते हैं पर जब एक विज्ञान के विभिन्न सिद्धान्त-क्षेत्रों के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित होता है (जैसे 'पद' समाजशास्त्र, भाषाशास्त्र, सामान्य जीवन आदि क्षेत्रों में भिन्न अर्थों की ओर संकेत देता है) तब दूसरा जीवन के विभिन्न सन्दर्भों में संयुक्त होकर 'सामान्य' से 'असामान्य' बनता है। उदाहरण के लिए 'चलना' शब्दप्रतीक में अभिव्यक्ति पक्ष की बाह्य समानता भले ही दिखलाई पड़े पर निम्नलिखित वाक्यों में जिस 'प्रत्यय' की ओर संकेत देने में वह समर्थ है, उसकी विभिन्नता का कोई भी हिन्दीभाषी अनुभव कर सकता है : (१) शीला चल रही है। (२) दुकान चल रही है। (३) सिक्का चल गया। (४) हवा चल रही है। (५) साइकिल चल रही है। (६) मोटर पेट्रोल से चलती है। (७) इस बात की हवा ऐसी चली कि···(८) शीला की शादी की बात चल रही है। (९) ऐसे अवसर पर उसकी बुद्धि चलती ही नहीं। (१०) वह पढ़ाई में अच्छी चल रही है। (११) यहाँ पर यह शब्द चल जाएगा। (१२) सिनेमा चल रहा है।···आदि।

अतः यह कहा जा सकता है कि तर्कभाषा और काव्यभाषा, दोनों ही प्रतीकों के 'सामान्य' अर्थ को 'विशेष' की ओर मोड़ती हैं पर जहाँ एक की विशिष्टता, सिद्धान्तवाधित है वहाँ दूसरे की सन्दर्भअनुप्राणित।

(९) कविता के 'विशिष्ट' एवं 'असामान्य' अर्थ को पकड़ने के लिए काव्य-भाषा एक 'विशिष्ट' शैली का प्रयोग करती है। 'विशिष्टता' को 'सामान्य' के अतिक्रम के रूप में ही परखना सम्भव है क्योंकि 'विशिष्ट' और 'सामान्य' सापेक्षिक प्रत्यय हैं और सामान्य का परिचय सहजसाध्य होता है। भाषा का सामान्य रूप बोलचाल की भाषा पर आधारित होता है अतः कविता की भाषाशैली को सामान्य बोलचाल की भाषा की संघटना के अतिक्रम के रूप में ही देखना तर्क-सम्मत है।

अतिक्रम के कार्यफलन को प्रभावसंचार सिद्धान्त में प्रचलित दो परस्पर विरोधी प्रत्ययों—उद्रिक्तता (रिडनडैंसी) और सूचना के आधार पर समझा जा सकता है। सूचनाग्रहण तभी सम्भव है जब कथन में संशय हो और संशय विकल्प

की अपेक्षा रखता है अर्थात सूचना, चुनाव की क्षमता के अनुपात में सिद्ध रहती है। इसके विपरीत वे कथन उद्रिक्त माने जाते हैं जिनमें कथ्य, पूर्वज्ञान के सन्दर्भ में अनुमेय (प्रिडिक्टेबल) होते हैं अर्थात जिस कथन में अधिकतम सूचना होगी वहाँ न्यूनतम उद्रिक्तता मिलेगी और जहाँ अधिकतम उद्रिक्तता होती है उसमें न्यूनतम सूचना होगी।

उद्रिक्तता और सूचना जिन आधारों को जन्म देती हैं उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

उद्रिक्तता	सूचना
१—निर्धारित व्यवस्थापरक नियम	१—नवरीति स्थापक नियम
२—ज्ञात	२—अज्ञात
३—साधारण (कथ्य)	३—मौलिक (कथ्य)
४—अनुमेय	४—सम्भाव्य
५—बुद्धिपरक	५—कल्पनाप्रवण

दोनों—उद्रिक्तता और सूचना की अतिशयता कथ्य को चित्तरंजक बनाने में अक्षम होती हैं। दोनों ही एक निश्चित पारस्परिक अनुपात के अभाव में ध्यान आकर्षित करने में असफल सिद्ध होती हैं। बोलचाल की सामान्य भाषा में दोनों ही पक्षों के अनुपात की एक निश्चित मात्रा-सीमा होती है। तर्कभाषा इस सीमा की तुलना में अधिक उद्रिक्त होती है और काव्यभाषा अधिक सूचनासम्पन्न।

अरस्तू ने बहुत पहले कविता के आधारभूत तत्त्व के रूप में कविता की भाषा-शैली की विशिष्टता को सामान्य बोलचाल की भाषा के अतिक्रम के रूप में देखा है। प्राग स्कूल ने इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है। लेविन (१९५८) तो इस अतिक्रम को कविता के बाह्य एवं आन्तरिक, दोनों ही स्तर पर स्वीकार करते हैं। पर अतिक्रम के सिद्धांत को सही सन्दर्भ में न देखने के कारण प्रायः विद्वान यह समझ बैठते हैं कि अतिक्रम का सिद्धांत भ्रामक है। वेलेक (१९६०) ने यह आपत्ति उठाई है कि 'भाषाविज्ञान से अनुप्राणित शैलीविज्ञान मूलतः अपना ध्यान अतिक्रम रूप पर केन्द्रित करता है, वह 'नॉर्म' से हटे हुए विद्रूप रूप को ही महत्त्व देता है।' इस प्रकार हम एक ओर प्रतिरूप व्याकरण का निर्माण करने लगते हैं जिसे अतिक्रम विज्ञान पर आधारित कहा जा सकता है—सामान्य शैलीविज्ञान व्याकरणाचार्यों के लिए और अतिक्रमिक शैलीविज्ञान साहित्य के विद्यार्थियों के लिए। लेकिन यह सामान्य तथ्य है कि सर्वाधिक ग्राह्य भाषारूप भी साहित्यिक संघटना का अंग बनता है।

काव्यभाषा की सृजनशीलता और मौलिकता न तो निर्धारित व्यवस्थात्मक नियमों की अपेक्षा करती है और न अतिक्रमिक शैलीविज्ञान को ही जन्म देती है। यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि ज्ञात का अवलम्बन लिये बिना अज्ञात का,

बुद्धिगम्य कथ्य के बिना कल्पनाप्रवण उक्ति का अथवा निर्धारित व्यवस्थापरक नियमों के अभाव में नवरीतिस्थापक नियमों का कोई मूल्य नहीं अर्थात उद्रिक्तता के अभाव में सूचना का सम्प्रेषण सम्भव नहीं।

यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि अतिक्रम का सम्बन्ध नवरीतिस्थापक नियमों से है। नियमों से सम्बद्ध होने के कारण ये अतिक्रम भी नियमबद्ध होते हैं। उनको 'सामान्य' से हटा मनमाना एवं उच्छृंखल प्रयोग नहीं कहा जा सकता। साथ ही यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि नवरीतिस्थापक नियम, साहित्यिक शैली के नियम हैं अतः उन्हें सामान्य भाषा के निर्धारित व्यवस्थात्मक नियमों के सन्दर्भ के साथ-साथ साहित्यिक भाषा के परम्परा अनुमोदित निर्धारित नियमों के सन्दर्भ में भी देखना चाहिए। इस स्थिति में बहुत सम्भव है कि साहित्यिक परम्परा अनुमोदित व्यवस्थात्मक नियम, सामान्य भाषा के 'नॉर्म' के अतिक्रम का परिणाम हो और नवरीतिस्थापक नियम, पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा के नियमों का तो अतिक्रम करते हों पर भाषा के 'नॉर्म' के अधिक समीप हों। उदाहरण के लिए द्विवेदी युग की हिन्दी कविता के सन्दर्भ में छायावादी कविता सामान्य भाषा के नियमों का अतिक्रमण करती दिखाई पड़ती है पर छायावादी कविता की तुलना में प्रगतिवादी कविता जिन नवरीतिस्थापक नियमों को जन्म देती है, वे सामान्य भाषा के 'नॉर्म' के अधिक समीप हैं। इसी प्रकार 'प्रयोगवादी' कविता, अभिव्यक्ति के धरातल पर जिन नवरीतिस्थापक नियमों के अन्वेषण एवं स्थापना की बात उठाती है वे एक बार फिर 'छायावादी' प्रयोगों की याद दिलाते हैं पर उसकी तुलना में जब 'नयी कविता' की अभिव्यक्ति प्रणाली पर ध्यान देते हैं तब उसे फिर सामान्य भाषा के 'नॉर्म' के अधिक निकट पाते हैं।

संस्कृत साहित्यशास्त्र के जिन आचार्यों ने 'काव्यात्मकता' को लक्षण (गुण) के रूप में मानकर 'कविता' के भीतर ही उसकी सत्ता को स्वीकार किया है, उन्होंने साहित्य की एक ओर वस्तुवादी व्याख्या प्रस्तुत की है और दूसरी ओर उसे (संस्कृत भाषा के) व्याकरण के सन्दर्भ में ही परखने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए पाँच अधिकरण अध्यायों में विभक्त वामन का 'काव्यालंकार सूत्र' संस्कृत व्याकरण पर आधारित काव्यसमीक्षा का अनूठा उदाहरण है। वामन के अनुसार काव्य की आत्मा रीति है—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। रीति का अर्थ है विशिष्ट पदरचना—'विशिष्टा पदरचना रीतिः'। पद रचना की विशिष्टता ही गुण (काव्यलक्षणों) का जनक है—'विशेषो गुणात्मा', क्योंकि गुण का अर्थ ही है काव्यशोभाकारक शब्द-अर्थ की अन्विति।

इसी प्रकार 'काव्यालंकार' के प्रणेता 'भामह' 'वक्रोक्ति' को काव्य का प्राण मानते हैं। वक्रोक्ति से तात्पर्य है अर्थ और शब्द की वक्रता—'वाचां वक्रार्थ-शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते'। यह वक्रता वस्तुतः सामान्य कथन के अतिक्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट लिखा है—'शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्'। काव्य-सौन्दर्य की व्याप्ति ही

इस 'वक्रोक्ति' पर आधारित है—'कोऽलंकारोऽनया विना'। कुन्तक ने इसी वक्रोक्ति की स्थापना करते हुए इसे सर्वग्राही रूप प्रदान किया है जहाँ वक्रोक्ति को 'शास्त्र आदि में उपनिबन्ध शब्द-अर्थ के प्रसिद्ध प्रयोग से भिन्न' और 'व्यवहार सरणि का अतिक्रमण करने वाली' कहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय काव्यशास्त्र की मूल प्रकृति भाषावादी रही है। वह कृति को केन्द्र में रखकर उसकी भाषिक संघटना के अध्ययन के आधार पर कलात्मकता का पता लगाने के पक्ष में रही है। कृतिकार और कृति के बाहर का संसार कभी भी उसकी आलोच्य सामग्री नहीं बने। संस्कृत काव्यशास्त्र की इस वस्तुवादी परम्परा को परवर्ती हिन्दी समीक्षकों ने साहित्येतर बना दिया। संस्कृत काव्यशास्त्र के ऊपर निर्णय देते समय उन्होंने अपनी धूमिल और अधूरी दृष्टि का परिचय अधिक दिया है और काव्यशास्त्र के मूल उपादानों और उसकी काव्य-दृष्टि को उचित सन्दर्भ कम ही प्रदान किया है। इसमें सन्देह नहीं कि 'संस्कृत काव्यशास्त्र का मूलाधार शब्द और अर्थ है और उसमें भी चाहे अलंकार-विधान हो, लक्षणा-व्यंजना का प्रयोग हो, गुणों के अन्तर्गत वर्णव्यवस्था पर विचार हो अथवा रसप्रक्रिया को ग्रहण करने की बात हो, चिन्तन की दृष्टि शब्दप्रयोग पर ही केन्द्रित रहती है।' (रघुवंश, १६६७:५६)

विद्यानिवास मिश्र का यह कथन सारगर्भित है कि न केवल भारतीय चिन्तन मूलतः वाक्केन्द्रित चिन्तन है अपितु भारतीय साहित्यशास्त्र की पीठिका भी वाक् है। 'ऋग्वेद से ही वाग्व्यापार को सृष्टि के पर्याय के रूप में देखा गया और वाक् के ही तीन स्तरों के रूप में द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी की कल्पना की गयी, वाक् की परिशुद्धि पर बल दिया गया, क्योंकि परिशुद्ध वाक् में ही कल्याण का निधान है।···वाक् की भीतरी खोज ही मन्त्रसाधना का पर्याय बनी।···इसीलिए व्याकरण को वेद का मुख कहा गया है। दूसरे शब्दों में भारत का विवर्तमान ज्ञान-राशि के भीतर पैठना है, तो यह केवल व्याकरण के आधार से सम्भव है।···यहाँ तक कि भारतीय काव्य को भी यथावत समग्र रूप में तभी ग्रहण किया जा सकता है, जब उसकी बीजभूत भावना के इन नानाविध प्रत्ययों के साथ नानाविध आकार ग्रहण किए जाते हुए भी उसमें एक अखण्ड एकवाक्यता ग्रहण की जाय। भारतीय काव्यशास्त्र ने इसीलिए काव्यार्थ की खोज में बुधों (वैयाकरणों) की स्फोटवादी सरणि अपनाई है।' संस्कृत की यह भाषावादी चिन्तनदृष्टि, हमारी साहित्यिक समीक्षा की परम्परित दृष्टि है।

शैलीविज्ञान के मूलाधार में कलाबोध की यही वाक् पीठिका है जहाँ 'काव्यार्थ प्रत्यक्ष शब्द व्यापार समर्पित है'। यद्यपि 'शैलीविज्ञान' और 'नयी समीक्षा' के सिद्धान्त और प्रणाली एक नहीं परन्तु साहित्यशास्त्र के इस वस्तुनिष्ठ एवं रूप-वादी चिन्तन और भाषावादी दृष्टि को दोनों ही समान रूप से अपनाते हैं। डॉ० नगेन्द्र (१६७०:५७-८) का यह आक्षेप कि 'शब्द-अर्थ के कुशल प्रयोग से उत्पन्न

चमत्कार को ही यदि काव्य का प्रयोजन मान लिया जाय तो काव्य का माहात्म्य सीमित हो जाएगा', अथवा 'शब्द-विधान की स्वतन्त्र और मौलिक सत्ता स्वीकार कर लेने से चमत्कार को काव्य में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है'—युक्तिसंगत इसलिए नहीं प्रतीत होता क्योंकि इन वक्तव्यों द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परित दृष्टि को अकारण ही नकारा गया है। 'नयी समीक्षा में सिद्धांत का महत्त्व न होकर प्रविधि का महत्त्व है' और शैलीविज्ञान अथवा नयी समीक्षा 'कविता का सिद्धांत-विवेचन न होकर पाठ-विश्लेषण या अर्थ-मीमांसा है'—डॉ० नगेन्द्र की लेखनी से निःसृत ऐसी उक्तियाँ वस्तुतः नयी समीक्षा के पूरे ऐतिहासिक दायित्व, उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि और चिन्तनसरणि के प्रति उनके उपेक्षा भाव को ही व्यक्त करता है। नयी समीक्षा को भारतीय टीकापद्धति के साथ जोड़कर देखने का आग्रह इसी तथ्य की ओर संकेत देता है कि डॉ० नगेन्द्र ऐसे सुधी आलोचक भी काव्य विश्लेषण और काव्य मूल्यांकन अथवा कविता और काव्य-फलन की सूक्ष्म विभाजक रेखा को ठीक से पकड़ने के असमर्थ हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि शैली विज्ञान भी कविता को पहले कविता के रूप में ग्रहण करता है। वह भी यह मानता है कि 'कविता' सूखे काठ की चीज नहीं है, मानवमन के मोम की अन्तर्दीप्त प्रतिमा है जो उसके विविध अनुभवों की आँच में पिघलकर नाना रूप धारण करती रहती है। शैलीविज्ञान इस तथ्य का कदापि विरोध नहीं करता कि कविता के एक पक्ष का सम्बन्ध 'अबौद्धिक कथ्य' और 'भावजगत की जीवनदृष्टि' के साथ बना रहता है। पर इन सबकी स्वीकृति के पश्चात भी उसकी यह मान्यता बनी रहती है कि 'अबौद्धिक कथ्य' तक भाषा का अवलम्बन लेकर ही पहुँचना सम्भव है, 'मानवमन के मोम की अन्तर्दीप्त प्रतिमा' का निर्माण कवि जिस अपने संस्कार और प्रातिभ ज्ञान के बल पर अनायास कर लेता है उसको समझने और पाने का मार्ग शब्द और उसमें निहित अर्थ का ही है। शैलीविज्ञान 'अबौद्धिक कथ्य' और 'अन्तर्दीप्त प्रतिमा' का ही अध्ययन प्रस्तुत करता है पर उसका सम्बन्ध वह शब्द-अर्थ व्यापार से जोड़कर देखने के पक्ष में है, यह देखने के लिए कि बौद्धिक कथ्य किन स्थितियों में और किन उपकरणों द्वारा 'अबौद्धिक कथ्य' में रूपान्तरित होकर 'अन्तर्दीप्त प्रतिमा' बन जाता है।

काव्यविश्लेषण और 'जीवनमर्म'

सामान्यतः यह माना जाता है कि साहित्य, शाब्दिककला है । पर अगर साहित्य शाब्दिक कला है तब यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि कोई भी काव्यकृति या कविता एक शाब्दिक प्रतीक है । कविता को शाब्दिक प्रतीक मानते समय यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि हर शाब्दिक प्रतीक, कविता नहीं हो सकता । कविता, शाब्दिक प्रतीक होकर भी व्यापक अर्थों में एक कला प्रतीक भी है । कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ शाब्दिक प्रतीक ऐसे हो सकते हैं जो कला-प्रतीक की श्रेणी में आते हैं और कुछ इस कोटि के भी संभव हैं जिन्हें कला का स्तर नहीं दिया जा सकता । इसलिए साहित्य, शाब्दिक कला ही नहीं 'विशिष्ट' शाब्दिक कला है और कविता केवल शाब्दिक प्रतीक ही नहीं 'विशिष्ट' शाब्दिक प्रतीक है । यह 'विशिष्टता' ही वस्तुतः 'कलात्मकता' (काव्यात्मकता) है जो उसे सामान्य रचना से भिन्न सिद्ध करती है ।

किसी भी काव्यकृति का अध्ययन-विश्लेषण करते समय वस्तुतः खोज इसी 'कलात्मकता' की होनी चाहिए । पर यह 'कलात्मकता' है क्या ? इसको कैसे पकड़ा या पहचाना जाए ? प्रायः यह मान लिया जाता है कि किसी भी कलाकृति के विश्लेषण का अर्थ है उसके काव्य-शरीर की चीर-फाड़, उसके बाहरी रूप की आलोचना-प्रत्यालोचना । पर कलात्मकता तो कला का शरीर नहीं, उसकी आत्मा है; वह कलाकृति का बाहरी रूप नहीं, उसकी प्राणशक्ति है । इसलिए यह कहा जा सकता है कि कलाकृति के विश्लेषण-अध्ययन के माध्यम से कलाकृति की आत्मा से परिचित करना-कराना संभव ही नहीं ।

यहाँ एक-दो सवाल का मन में उठना स्वाभाविक है । अगर यह मान भी लिया जाए कि कलात्मकता कलाकृति की जीवन्त प्राणशक्ति है, वह रचना का बाहरी रूप या अलंकरण नहीं वरन आत्मा का आन्तरिक सौंदर्य है तब भी यह प्रश्न तो उठता ही है कि यह अमूर्त जीवनशक्ति अभिव्यक्त किस प्रकार होती है ? हम उसका अनुभव किन संदर्भों और किन उपकरणों के आधार पर करते हैं ? क्या आत्मा, शरीर के अभाव में अनुभवगम्य है ? क्या अमूर्त प्राणशक्ति किसी मूर्तमान रूप के अभाव में सिद्ध रह सकती है ? इसीके साथ यह भी सवाल जुड़ा हुआ है कि आत्मा और शरीर अथवा अमूर्त प्राणशक्ति और मूर्तमान रूप में कोई आन्तरिक ऐसा सम्बन्ध भी है जो एक-दूसरे की प्रकृति को प्रभावित करने में समर्थ है ? अर्थात आत्मा का गुण, रूप की प्रकृति अथवा शरीर के गुण, आत्मा की प्रकृति को निर्धारित करने में क्या सक्षम है अथवा इनमें ऐसा कोई अन्योन्याश्रित संबंध नहीं ?

जो विचारक यह मानकर चलते हैं कि काव्यकृति एक विशिष्ट शाब्दिक प्रतीक है वे यह भी मानने के पक्ष में हैं कि कलात्मकता, अमूर्त होकर भी मूर्त शाब्दिक प्रतीक के माध्यम से व्यक्त होती है, वह कृति की प्राणशक्ति होकर भी कृति की जीवंत संरचना के उपकरणों द्वारा ही अनुभवगम्य हो पाती है । इसके साथ वे इस मत को भी मानने के पक्ष में हैं कि आत्मा (काव्यात्मकता) और शरीर (काव्याभिव्यक्ति) में अन्योन्याश्रित संबंध है, इसलिए एक के आधार पर दूसरे का पता पाना संभव है । कलात्मकता और काव्याभिव्यक्ति के संबंधों की प्रकृति द्वन्द्वात्मक होती है अतः इस द्वंद्वात्मक प्रकृति की जानकारी अगर हो तो एक पक्ष को सही रूप में समझने का अर्थ ही है दूसरे को सही संदर्भ में जानना । वैज्ञानिकता इसीमें है कि हम ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ें, मूर्त के माध्यम से अमूर्त को पहचानें । इसलिए काव्याभिव्यक्ति के माध्यम से कलात्मकता की खोज ही सही रास्ता है ।

काव्याभिव्यक्ति अनिवार्यतः शाब्दिक अर्थात भाषापरक होती है । अतः यह स्वाभाविक है कि काव्यकृति की भाषाभिव्यक्ति के विश्लेषण के माध्यम से काव्यात्मा को अनुभवगम्य बनाया जाए । साहित्य की संरचनात्मक व्याख्या का प्रणालीगत सिद्धांत इस तथ्य को स्वीकार कर चलता है कि काव्यकृति एक भाषा-परक कला प्रतीक है अतः भाषिक उपलक्षणों के साक्ष्य पर कलात्मकता का पता लगाना न केवल संभव है वरन यही एक ऐसी पद्धति है जिसे दृष्टि में वस्तुवादी और प्रयोग में वैज्ञानिक कहा जा सकता है ।

यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि कलाप्रतीक, सर्जनात्मक प्रक्रिया का परिणाम होता है और सर्जन संश्लेषणात्मक होता है, विश्लेषणात्मक नहीं । साहित्य की संरचनात्मक व्याख्या जब भाषाभिव्यक्ति के विश्लेषण की ओर प्रवृत्त होती है तब विश्लेषण उसका साध्य नहीं, साधन ही रहता है । साध्य तो विश्लेषण के उपरान्त उपलब्ध भाषिक उपलक्षणों के आधार पर संश्लिष्ट कलाप्रतीक का सृजन होता है । अतः साहित्यिक व्याख्या के संदर्भ में काव्यकृति के विश्लेषण अथवा काव्याभिव्यक्ति के भाषिक उपलक्षणों के अनुसंधान तक आलोचना के दायित्व को सीमित करना एक अधूरी दृष्टि ही मानी जाएगी । आलोचना का महत्त्वपूर्ण चरण तो विश्लेषणात्मक उपलब्धियों के उस सृजनात्मक संश्लेषण में है जो काव्यकृति की अमूर्त संकल्पना को भी मूर्तमान बनाता है ।

काव्यकृति अथवा उसकी संरचना को दो स्तरों पर प्रतिस्थापित किया जा सकता है । एक उसका स्थूल स्तर है—जिसे भारतीय कला सिद्धांत में उसका 'प्रत्यक्ष' रूप कहा गया है । प्रत्यक्ष रूप, इन्द्रियगम्य होता है । दूसरा सूक्ष्म स्तर है जहाँ कृति 'परोक्ष' रूप में स्थित रहती है । परोक्ष रूप इन्द्रियेतर होता है । यह ऐसा स्तर है जहाँ मानसिक संकल्पना (विचार) स्वयं यथार्थ बन जाती है, भौतिक उपादानों से मुक्त होकर भी जहाँ वस्तु अनुभवगम्य रहती है । शब्दशक्तियों के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि वस्तु के प्रत्यक्ष धरातल पर भाषा की अभिधा-

शक्ति काम करती है और जहाँ संकेतार्थ का सम्बन्ध बाह्य जगत के स्थूल रूप से नहीं होता अपितु बाह्य जगत के उन उपकरणों की जातीय गुणात्मक संकल्पना से रहता है।

परोक्ष स्तर पर काव्यकृति की संकल्पना उसकी उस संरचना को लेकर चलती है जो यथार्थ की संभाव्य स्थिति है और जो कलात्मक सत्य की उस व्यापक चेतना से संबद्ध रहती है जो भौतिक उपादानों **'में'** नहीं वरन उसके **'पार'** जाकर सिद्ध रहती है। प्रत्यक्ष स्तर पर काव्यकृति तो इस परोक्ष स्तर की संभाव्य संरचना का एक दृष्टान्त मात्र होती है, भौतिक धरातल पर संकेतार्थ के रूप में स्थित बाह्य जगत के उपकरण तो अनेक संरचनात्मक संभावनाओं के बीच प्रयुक्त एक प्रतिनिधिरूप होते हैं। साहित्य की संरचनात्मक व्याख्या का एक प्रमुख लक्ष्य यह भी रहता है कि वह 'प्रत्यक्ष' के आधार पर 'परोक्ष' कलारूप को उद्भासित करे, दृष्टान्तपरक बाह्य संरचना के आधार पर संभावनापरक कलासंरचना का पता लगाए और काव्यकृति में प्रयुक्त सामान्य प्रतीकों की संघटना के विश्लेषण के आधार पर कलाप्रतीक के संश्लिष्ट रूप का सृजन करे।

कविता को 'प्रत्यक्ष' और 'परोक्ष' के जिस आन्तरिक संतुलन का परिणाम माना गया है उसीको पाश्चात्य समीक्षक एलेन टेट ने 'एक्सटेन्शन' और 'इण्टेन्शन' के आन्तरिक द्वन्द्वात्मक स्थिति से उद्भूत 'टेन्शन' की अपनी मान्यता द्वारा व्यक्त किया है। 'टेन्शन' शब्द वस्तुतः उन दो धरातलों पर व्यक्त संकेतार्थ के बीच संतुलन की संकल्पना को व्यक्त करता है जहाँ पहला धरातल 'एक्सटेन्शन' का है जो बहिरंग वस्तुपरक अर्थ को संकेतित करता है, जहाँ भाषिक प्रतीक की प्रकृति अभिधापरक (रिफ़रेंशियल) होती है और दूसरा धरातल 'इण्टेन्शन' का है जो वस्तुओं के आन्तरिक गुणों पर आधारित अमूर्त रूप का परिचायक है, जहाँ भाषिक प्रतीक की प्रकृति लक्षणापरक (मेटाफ़ॉरिकल) होती है। टेट के अनुसार कविता, प्रतीकीकरण का परिणाम होती है, यह इस प्रक्रिया से उद्भूत एक ऐसी व्यवस्थित और सजीव संघटनात्मक भाषिक कलाप्रतीक है जिसमें अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच पाई जाने वाली द्वन्द्वात्मक स्थिति में आन्तरिक संतुलन (तनाव) बना रहता है।

साहित्य की संरचनात्मक व्याख्या न केवल काव्यकृति को कलाप्रतीक मानने के पक्ष में है वरन वह उसे प्रतीकीकरण की प्रक्रिया से उद्भूत विशिष्ट भाषिक प्रतीक के रूप में स्वीकार करने के भी मत में है और विश्लेषण के रूप में यह कलाप्रतीक के प्रत्यक्ष (एक्सटेन्शन) और परोक्ष (इण्टेन्शन) रूप की द्वन्द्वात्मक प्रकृति के बीच की संतुलन (तनाव) की स्थिति का पता लगाते हुए कलाप्रतीक को उद्भासित करने का आग्रही है।

: २ :

अज्ञेय की स्वायत्त एक छोटी सी कविता है—**जीवन मर्म**। व्यावहारिक व्याख्या के संदर्भ में इस कविता का विश्लेषण यहाँ अनुचित न होगा :

झरना : झरता पत्ता
हरी डाल से
अटक गया।

(१) मानवोचित व्यवहार के प्रतीकीकरण के संदर्भ में केनेथ बर्क ने पाँच तत्त्वों की ओर संकेत दिया है : (१) क्या किया (ऐक्ट), (२) कब और कहाँ किया (सीन), (३) किसने किया (एजेण्ट), (४) कैसे किया (एजेन्सी) और (५) क्यों किया (पर्पज)। पर अगर व्यापार प्राकृतिक हो, स्वचालित और आत्मनियंत्रित हो, वहाँ स्वभावतः लौकिक कर्ता (एजेण्ट) की उपस्थिति संभव नहीं (वैसे प्रकृति के मानवीकरण की प्रक्रिया के आधार पर सजीव कर्ता के रूप में चित्रित करना संभव है), लौकिक कर्ता के अभाव में रीतिवाचक क्रियाविशेषण (एजेन्सी) भी अनुपलब्ध होगा।

प्रतीक के संदर्भ में वाक्यार्थ का मुख्य केन्द्रक 'क्रिया' (ऐक्ट) होता है, संज्ञा पद तो व्यापार के साधन हैं। प्रस्तुत कविता में क्रिया—'अटक गया' की भाषिक प्रकृति पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि वह अकर्मक है तथा प्रस्तुत संदर्भ में उसके दोनों प्रयोग (कर्ता—झरना और पत्ता) अप्राणिवाचक हैं। लौकिक कर्ता तथा रीतिवाचक क्रिया विशेषण से रहित और अप्राणिवाचक (व्याकरणिक) कर्ता से संबद्ध होने के कारण क्रिया के लिए यह कहा जा सकता है कि वह अपनी आन्तरिक संरचना में सहज, स्वाभाविक और प्राकृतिक व्यापार को ध्वनित कर रही है; वह कर्ता की अपनी इच्छा-प्रेरणा से अनुप्राणित नहीं और न यह व्यापार उसकी अपनी शक्ति या सीमा से ही नियंत्रित और परिचालित है। अगर यह मानवोचित व्यवहार से संबद्ध है तब भी वह मानव की आन्तरिक प्रकृति या उसके सहज स्वभाव का प्रकाशक है।

(२) भाषाभिव्यक्ति के धरातल पर यह कविता तीन पंक्तियों में फैली पर केवल एक व्याकरणिक वाक्य की सीमा में बंधी रचना है। वाक्य, ऊपरी धरातल पर दो उपवाक्यों से गठित है जो अपने संबंधों में समानाधिकरणिक है अतः इन दोनों उपवाक्यों के कर्ता एक ही क्रिया से संबद्ध हैं—जैसे, 'झरना अटक गया' और 'पत्ता अटक गया'। साथ में पहले कर्ता—'झरना' के बाद कोलन का प्रयोग है जो यह संकेत देता है कि दूसरा उपवाक्य (झरता पत्ता/हरी डाल से/अटक गया।) पहले उपवाक्य (झरना/अटक गया) के अर्थ के रंजन के लिए प्रयुक्त है। (कोलन चिह्न का प्रयोग प्रायः किसी विषय के साथ तत्संबंधी निष्कर्ष, दृष्टान्त अथवा अर्थच्छाया की संध्वनि के लिए प्रयुक्त होता है।)

कविता में दो दृश्य बिम्ब हैं—एक, झरना-संबंधी और दूसरा, पत्ता-संबंधी। इन दोनों दृश्य-बिम्बों को जोड़ने वाली कड़ी है क्रिया जो उन्हें एक-दूसरे से संबद्ध करती है। दूसरी ओर 'झरना' के बाद प्रयुक्त कोलन चिह्न इन दोनों दृश्य बिम्बों के अन्तरंग सम्बन्धों को तो उभारता ही है, साथ में यह भी संकेत देता है कि पत्ता-सम्बन्धी दृश्य बिम्ब, पूर्ववर्ती झरना-सम्बन्धी दृश्य बिम्ब का पूरक एवं विस्तारक

बिम्ब है। इससे यह तथ्य भी उभरता है कि इन्द्रियगम्य प्रत्यक्ष स्तर पर जो दो दृश्य बिम्ब चित्रित हैं उनके पीछे इन्द्रियेतर परोक्ष स्तर पर स्थित कला बिम्ब सादृश्य-विधान के आधार पर दोनों प्रत्यक्ष दृश्य बिम्बों के समानधर्मी गुण-रूपों के संश्लिष्ट यथार्थ चित्र रूप के रूप में सिद्ध होगा।

(३) कविता का पहला शब्द 'झरना', झर-झर कर प्रवाहित जल प्रवाह का दृश्य सामने लाता है, वह नैरंतर्य और गति की संकल्पना को उभारता है। पर सन्निधि के स्तर पर पहले उपवाक्य का यह उद्देश्य, 'अटक गया' विधेय पक्ष से जुड़कर विरोधाभास की स्थिति की ओर संकेत करता है। जो झर-झर कर निरन्तर प्रवाहित होने वाला जल है, जो अपनी प्रकृति में प्रवहमान और स्वभाव में गतिशील है, वह किसी कारणवश 'अटक गया', किसी परवशतावश ठहर गया। जल की स्वाभाविक गति और प्रवहमान होने की आन्तरिक प्रकृति के विरोध में इस 'ठहराव' या 'अवरोध' की विवशता का कारण निश्चय ही कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होगा। पर पहले दृश्य बिम्ब से इस परवशता का कारण स्पष्ट नहीं हो पाता। उससे तो केवल वस्तुस्थिति का ही संकेत मिलता है कि कोई वस्तु है जिसे अपने सहज स्वभाव एवं आन्तरिक प्रकृति के विरोध में 'घटित' होना पड़ रहा है।

(४) 'झरना' संज्ञापद के समानार्थी रखा गया है दूसरे बिम्ब का उद्देश्यपरक संज्ञापदबंध 'झरता पत्ता' जिसमें 'पत्ता' संज्ञा पद है और झरता कृदन्तीय विशेषण। 'पैटर्न' के अनुसार 'झरना' संज्ञापद को भी विशेषणयुक्त होना चाहिए क्योंकि उसको छोड़कर अन्य दोनों संज्ञापदबंधों की संरचना—(विशेषण + संज्ञा) के अनुरूप है। वस्तुतः 'झरना' शब्द, एक ओर जातिवाचक संज्ञा है, दूसरी ओर वह 'क्रियार्थक संज्ञा' है। क्रियार्थक संज्ञा के सन्दर्भ में इस शब्द का धातुरूप 'झर' है और झर-झर कर बहने की विशेषता से जातिवाचक संज्ञा के अर्थ को सीमित करता है। यही झर धातुरूप 'पत्ता' के साथ संयुक्त कृदन्तीय विशेषण—'झरते' में प्रयुक्त है। इस दृष्टि से भी 'झरना' और 'झरते पत्ते' अपनी अभिरचना में समानरूपी हैं।

'झरना' के झर-झरकर निरन्तर बहने के भाव को 'झरता पत्ता' और भी रंजक बना रहा है। एक तो पत्ता के झरने से इकाई-रूपों के झरने का कालक्रम है और दूसरी ओर इस कालक्रम का निरंतर प्रवाह है। अगर परोक्ष स्तर पर झरना, समय प्रवाह की सतत नैरन्तर्य का बोध कराता है तब 'झरता पत्ता' इसे क्षण-क्षण (अनुभवखण्डों) के अटूट इतिहास क्रम की संभावना से उसे रंजित कर देता है।

(५) 'झरता पत्ता' अभिव्यक्ति भी अपने में विरोधाभास की स्थिति को ध्वनित करता है। एक ओर 'झरता' का आर्थी पक्ष उसमें झर-झर कर गिरते हुए पत्तों का संकेत देता है जहाँ 'पत्ता' बहुवचन की संकल्पना को जगाता है और दूसरी ओर 'पत्ता'···अटक गया' की भाषाभिव्यक्ति पत्ते के एकवचन रूप की ओर इंगित करती है। इस विरोधाभास के फलस्वरूप जो अर्थ उद्भूत हो रहा है उससे ध्वनित है कि झर-झर कर गिरते पत्तों में कोई एक ऐसा 'विशिष्ट' पत्ता है जो 'अटक

गया'। परोक्ष स्तर पर अर्थसृष्टि पर ध्यान दें तो ऐसा प्रतीत होता है कि निरंतर प्रवाह के रूप में क्षण-क्षण कर अनुभवखंडों के कालक्रम में एक ऐसा 'विशिष्ट' क्षण या अनुभवखंड है जो इतिहासक्रम से टूटकर स्थिर रह गया है।

(६) 'झरना' दृश्यबिम्ब के सन्दर्भ में प्रवाह के रुकने का भाव तो व्यक्त हो जाता है पर उससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वह प्रवाह का विशिष्ट 'खण्ड' कहाँ रुक गया। 'पत्ता' दृश्य बिम्ब के सन्दर्भ में उचित है कि एक विशिष्ट पत्ता, काल-प्रवाह से अलग होकर 'हरी डाल से' अटक गया।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि जो वस्तु (पत्ता) टूटकर झर-झर गिर रहा है और वह जहां अटक गया (डाल), वे दोनों एक समान वस्तु (वृक्ष) से जुड़े हैं। दूसरा तथ्य यह भी महत्त्वपूर्ण है कि पत्ते के लिए प्रयुक्त 'विशेषण', 'डाल' की विशेषता के ठीक विरोध में है। पत्ते अगर झर-झर कर गिर रहे हैं तब 'डाल' अपने स्थान पर 'स्थिर' है। उसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'डाल' के लिए प्रयुक्त विशेषण (हरी) के ठीक विरोध में पत्ते की स्थिति होगी। अगर 'हरापन' जीवन की निशानी है और यह रंग ताजगी के साथ ही साथ 'कच्चेपन' अर्थात अपरिपक्व स्थिति का सूचक है तब इसके ठीक विरोध में पत्ते के साथ 'पीला' रंग रखा जा सकता है। पीलापन एक ओर रसहीन, सूखे जीवन की ओर संकेत देता है तो दूसरी ओर समय (या अनुभव) से पके स्थिति का सूचक भी माना जा सकता है।

झर-झर कर गिरते हुए अनेक पत्ते तो सूखे और जीर्ण हैं, वे समय से पककर अपने आधार से टूट रहे हैं पर जो पत्ता 'विशिष्ट' है और टूटकर बिखरने के बजाय 'हरी डाल से' अटक गया है, वह अपने कुछ गुणों में इनसे भिन्न होगा ही। 'विशिष्टता', सामान्य के विरोध में ही परिभाषित होती है। अतः अगर सामान्यतः पत्ते पीले हैं और पककर अपने समय पर टूटे हैं वहाँ अटक गए एक पत्ते की विशिष्टता इसमें है कि वह वस्तुतः पीला नहीं, हरा ही है, वह पककर अपने समय पर नहीं टूटा, बल्कि नियति ने उसे असमय ही तोड़ डाला है।

अज्ञेय के मत में अटक गए पत्ते की विशिष्टता इसमें है कि टूटने वाले अन्य पत्ते सामान्यतः रसहीन, जीर्णशीर्ण और सूखे हैं पर वह अकेला अपने समय पर पका है। लक्ष्यार्थ के स्तर पर उनकी मान्यता है कि अबाध गति से प्रवहमान समय-क्षणों में एक अनुभव से परिपक्व एक ऐसा क्षण भी है जो जीवन्त चेतना (हरी डाल) से संलग्न हो गया है। (यह मत उक्त कविता की मेरी संरचनात्मक व्याख्या के समय अज्ञेय ने व्यक्त किया था जब मैंने अपना लेख 'कविता की समीक्षा : एक आलोचक की दृष्टि से' राष्ट्रीय शैक्षिक एवं अनुसंधान परिषद, दिल्ली द्वारा आयोजित संगोष्ठी के एक सत्र में पढ़ा था जिसके सभापति स्वयं अज्ञेय थे।) यह व्याख्या संभव तो है पर मन में एक-दो शंकाएँ छोड़ जाती है। अगर अन्य पत्ते पीले हैं, और अपने समय पर टूटकर झर रहे हैं तब उन सभीको पक्का (अनुभव से परिपक्व) न मानने का कोई कारण नहीं; कम से कम कविता से वह कारण व्यंजित

नहीं हो रहा है। और संरचनात्मक व्याख्या का आधारभूत सिद्धांत यह पता लगाता है कि वस्तुतः कविता क्या कर (व्यंजित कर) रही है न कि कवि का अपना मंतव्य क्या है। वैसे अज्ञेय के मत में भी 'कविता ही कवि का परम वक्तव्य है।')

(७) अगर 'पत्ते' और 'डाल' को जोड़ने वाली वृक्ष की संकल्पना जीवन की ओर संकेत दे रही है तब 'हरी डाल' वस्तुतः जीवन के उस पक्ष की ओर इंगित कर रही है जो सजीव है, जो जीवित होने के कारण संवेदनशील है। यह जीवन का वह पक्ष है जो अभी भी सचेतन है, यह मानव-मन का वह संदर्भ है जो जड़ीभूत होकर अभी अनुभूतिशून्य नहीं बन पाया है वरन अभी भी जीवन्त है, संवेदनशील है। जीवन के इस पक्ष का आग्रह इसलिए भी सार्थक है कि जहाँ पत्ते, पीले होकर (पककर) झर रहे हैं वहाँ इसकी भी संभावना है कि समय के साथ वृक्ष भी 'ठूँठ' होकर जड़ हो जाए। समय का प्रभाव अगर वृक्ष (जीवन) पर पड़ भी रहा है और जीवन के अन्य पक्ष समय के साथ जड़ीभूत और संज्ञाहीन होते भी जा रहे हैं तब भी उस वृक्ष की कुछ 'डालें' (पक्ष) ऐसी भी हैं जो 'हरी' हैं, जीवन्त हैं, संवेदनशील हैं।

(८) जो विशिष्ट पत्ता असमय ही टूट गया है, वही हरी डाल से अटक गया है। लाक्षणिक अर्थ के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि असमय घटित होने वाला क्षण विशिष्ट तो है पर उसकी इस 'विशिष्टता' का बोध या अनुभूति ही जीवन के चेतन मन और संवेदनशील हृदय को जीवित बनाए हुए है। यह भी कहा जा सकता है कि जीवन का यह पक्ष चूंकि जीवित है—मन, विचार को तरल भाव से ग्रहण करने में और हृदय, घटनाओं की अनुभूतिपरक प्रतीति कराने में सक्षम है इसलिए असमय घटित क्षण को पहचानने और अनुभव कराने में भी व्यक्ति सक्षम है।

पहले यह संकेत दिया जा चुका है कि परोक्ष स्तर पर कविता, एक संभाव्य यथार्थ को व्यंजित करती है। इस स्तर पर स्थित कला बिम्ब जिस चेतना से जुड़ता है वह प्रत्यक्ष इन्द्रियगत अनुभवों का अतिक्रमण कर एक व्यापक कला-सत्य को उद्‌भासित करती है। प्रत्यक्ष स्तर पर स्थित काव्यकृति के प्रतीक या बिम्ब तो संभाव्य यथार्थ के मात्र प्रतिनिधि दृष्टांत होते हैं।

प्रस्तुत कविता के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष स्तर पर स्थित 'झरना और झरता पत्ता' सम्बन्धी दृश्य बिम्बों की अपनी अन्तरंग योजना कला-यथार्थ की जिस संभावना को ध्वनित करती है उसे कलासंदर्भित यथार्थ से जोड़कर कहा जा सकता है कि समय, एक अविरल प्रवाह है, झरने की भाँति वह अबाध गति से झर-झर बहता जा रहा है। समय का यह अविरल प्रवाह एक प्राकृतिक व्यापार है पर समयबोध, घटनासापेक्ष होता है। घटनाओं के संदर्भ में ही समय को हम अनुभवखण्डों में जीते हैं। घटनानिरपेक्ष समय चेतना के धरातल पर अनुभवगम्य नहीं। कविता के संदर्भ में पत्ते अपने भौतिक संकेतार्थ का अतिक्रमण कर इसी घटना की ओर सकेत दे रहे हैं। इन घटनाओं का भी एक अबाध-

क्रम है, वे भी समय की तरह झर-झर कर घटते जा रहे हैं। इन घटनाओं का स्वाभाविक इतिहासक्रम सामान्य जीवन का सामान्य पक्ष है जहाँ समय घटनाओं के संदर्भ में अनुभवखण्डों में विभक्त तो हो जाता है पर जिसके प्रति हम सचेत नहीं हो पाते, जिसको इन्द्रियगत संवेदनाओं के भौतिक संसार में झेलकर भी हम चैतन्य अनुभूतियों के धरातल पर भाग नहीं पाते। वह तो प्राकृतिक जीवन की यांत्रिक व्यवस्था का एक अंग है जिसके प्रति अभ्यस्त होने के फलस्वरूप हम आँखों से देखकर भी मन में पकड़ नहीं पाते, इन्द्रियों पर झेलकर भी उसकी सार्थकता का अनुभव नहीं कर पाते।

पर कुछ घटनाएँ ऐसी भी होती हैं जो हमें तत्सम्बन्धी अनुभवखण्डों से जोड़ लेती हैं, और न केवल उनसे हमें जोड़ती हैं अपितु नीरस और समय को झेलने से बने हमारे निर्जीव एवं यांत्रिक जीवन-व्यापार को भी सजीव और प्राणवान बना देती हैं। ऐसी ही घटनाओं की श्रेणी की एक घटना है—असमय ही जीवन (वृक्ष) से टूटकर अलग हो जाने वाली कोई वस्तु (पत्ता)। यह वस्तु कुछ भी हो सकती है—अकाल में प्रिय पुत्र की मृत्यु, असमय में ही किसी प्रिय जन का वियोग आदि। पर भौतिक संबंधों में विमुक्त होकर भी उससे जीवन का संबंध टूट नहीं जाता, अपने व्यावहारिक जीवन के ऊपरी धरातल पर असंबद्ध होकर भी वह चेतन अनुभूति के स्तर पर विमुक्त नहीं हो जाता। अगर व्यक्ति, मन और हृदय के धरातल पर (डाल) चैतन्य और अनुभूतिप्रवण (हरा) है तब उसकी स्मृति सदा जीवित (हरी) बनी रहती है, वह भौतिक धरातल पर 'विमुक्त' होकर भी चेतना के धरातल पर 'संयुक्त' रहता है। निश्चय ही भौतिक संदर्भ में यह घटना भी काल के अविरल प्रवाह का एक अनुभव खण्ड है, जैसे झरना, झरता है और जैसे पत्ते झर-झरकर गिरते जाते हैं उनके बीच यह घटना भी एक जलखण्ड या एक पत्ता है पर जब वह चेतन अनुभूति के स्तर पर अनुभवगम्य होती है और भौतिक तथ्य से ऊपर उठकर भावजगत के ठोस यथार्थ में रूपान्तरित हो जाती है तब समय का प्रवाह मानो उस चेतनापरक घटना के संदर्भ में अटक जाता है।

'जीवनमर्म' कविता में जीवन के इसी मर्म को दो दृश्यबिम्बों के सहारे उद्‌घाटित करने का प्रयास मिलता है।

शैलीविज्ञान और काव्यविश्लेषण

साहित्य अगर 'शाब्दिक कला' है तो काव्यकृति 'शाब्दिक (भाषिक) प्रतीक'। भाषिक होने के कारण काव्यकृति जिस काव्यवस्तु का सृजन करती है उसका पूरा का पूरा संसार भाषाबद्ध रहता है। प्रतीकवत होने के परिणामस्वरूप काव्यकृति में कथ्य एवं अभिव्यक्ति पक्ष की अन्तरंग अन्विति एवं आभ्यन्तर अभिन्नता स्वयंसिद्ध रहती है। शैलीविज्ञान आलोचना की वह पद्धति है जो न केवल काव्यकृति को शाब्दिक प्रतीक के रूप में स्वीकार करती है अपितु वह यह भी मानकर चलती है कि शाब्दिक प्रतीक के अभिव्यक्तिपक्ष के विश्लेषण के माध्यम से उसके कथ्यपक्ष को जाना-पहचाना जा सकता है।

काव्यकृति सार्थकता से परिचित होने का दूसरा नाम है उसकी काव्यवस्तु का अनुभावन। पर काव्यवस्तु के आधारभूत उपादान के रूप में स्थित होती हैं अतर्क्य अनुभूतियाँ, तरल संवेदनाएँ और भावजगत की जीवनदृष्टि। काव्यकृति का संसार, मानव जीवन एवं प्रकृति व्यापार की आन्तरिक प्रक्रिया से जुड़ा होने के कारण सहज भाव से पकड़ में नहीं आता। अनुभूतियाँ, अपनी मूल प्रकृति में अव्यवस्थित एवं संघटनारहित होने के कारण अतार्किक होती हैं; संवेदनाएँ, तरलावस्था में रहने के कारण अनिर्धारित एवं अमूर्त रहती हैं, और जीवनदृष्टि भावजगत से सम्बद्ध होने के कारण अबौद्धिक कथ्य का निर्माण करती हैं। सृजनात्मक प्रक्रिया के दौरान अतर्क्य अनुभूतियाँ एक निश्चित व्यवस्था में ढलती हैं और तरल संवेदनाएँ अपना मूर्त रूप ग्रहण करती हैं। इसी प्रकार भावजगत की जीवनदृष्टि भाषिक प्रतीक में बँधने के कारण बौद्धिक लयात्मक प्रत्यय के रूप में प्रतिफलित होती है। लयात्मक प्रत्यय की व्यवस्था में ढली अनुभूतियों एवं सम्मूर्तित संवेदनाओं की भाषाबद्ध समन्वित इकाई को काव्यकृति की काव्यवस्तु कहा जा सकता है।

काव्यवस्तु को 'भाषाबद्ध' इकाई कहा गया है क्योंकि वह भाषानिरपेक्ष रहकर सिद्ध हो ही नहीं सकती। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि काव्यवस्तु न केवल भाषा के 'माध्यम' से व्यक्त होती है अपितु वह भाषा के 'भीतर' ही अपना जन्म पाती है। अतर्क्य अनुभूतियाँ एवं तरल संवेदनाएं भाषा में आबद्ध होने की पूर्व स्थिति में अनगूँज पुकार के समान होती हैं क्योंकि काव्यवस्तु में ढलने के पहले वे असंगठित एवं अमूर्त रूप में रहती हैं। कवि जब अपनी अनबूझ संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भाषा के पास आता है तब अव्यवस्थित अनुभूतियों एवं व्यवस्थित भाषासंरचना, तरल संवेदनाओं एवं मूर्त भाषिक प्रत्यय तथा लयात्मक

प्रत्यय एवं स्थिर भाषिक अर्थ की 'टकराहट' का वह पहली बार अनुभव करता है। इस 'टकराहट' के परिप्रेक्ष्य में ही अतर्क्य अनुभूतियाँ एवं तरल संवेदनाएँ अपनी आन्तरिक प्रकृति का उद्घाटन करती हैं जिसका पहली बार कवि सचेतन मन के धरातल पर अनुभव करता है।

कथ्य की विशिष्टता और सामान्य भाषा की सामान्यीकृत प्रकृति के बीच की इस टकराहट के गर्भ से ही साहित्यिक शैली अपना जन्म पाती है। साहित्यिक शैली, न केवल भावजगत की जीवनदृष्टि एवं अबौद्धिक कथ्य को व्यक्त करने की सामान्य भाषा की असामर्थ्यशक्ति के परिहार के रूप में सिद्ध रहती है वरन् वह काव्यअनुभूति एवं संवेदनाओं की आन्तरिक प्रकृति का उद्घाटन भी करती है। और संभवतः यही कारण है कि कलात्मक संघटना, टकराहट से उत्पन्न विषमता को मिटाती नहीं (क्योंकि उसीके संदर्भ में अनुभूतियाँ एवं संवेदनाएँ अपनी सही प्रकृति का उद्घाटन करती हैं) अपितु उसको बिना मिटाए एक समग्र लयात्मक प्रत्यय में बाँधती है जिनके सन्दर्भ में विषमता स्वयं अपनी अन्तर्विरोधी प्रकृति का समाधान ढूँढ़ लेती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि भाषा और साहित्य को जोड़ने वाली संकल्पना ही शैली है जिसे साहित्य के सन्दर्भ में 'सहेतुक भाषा पद्धति' कहा जा सकता है। पर सवाल यह है कि सहेतुक भाषापद्धति की मूल प्रकृति क्या है? अगर भाषा पद्धति 'सहेतुक' है तो वह किस 'हेतु' अथवा 'लक्ष्य' की सिद्धि का परिणाम है? केलकर के अनुसार भाषा की दृष्टि से विचार करने पर शैली का लक्ष्य उक्ति की शोभा और अलंकरण मात्र ठहरता है। पर साहित्य की दृष्टि से विचार करने पर 'शैली-मीमांसा' (स्टाइलिस्टिक्स) का सूत्र आस्वाद्यवस्तुमीमांसा (एस्थेटिक्स) तक पहुंचाना पड़ता है।

केलकर के मंतव्य को सही संदर्भ में समझने के लिए उन्हींका उदाहरण लें—"मान लो हमें एक कुर्सी बनवानी है। उसे बनवाते समय कच्चा माल, पैसा, औज़ार, समय, बल, कौशल आदि चीज़ों की, और जो हमको उनमें से उपलब्ध हैं उनकी, सीमाओं का हम पर बन्धन रहता है। उसी तरह हमारा साध्य क्या है, क्या चीज़ बनानी है, इसका बन्धन भी ज़रूर रहेगा। इतना बोझ सँभालना है, गुरुत्वमध्य निम्नस्तर पर रखना है, कुर्सियाँ ऐसी बनानी हैं कि जमाकर रखते समय आसानी हो आदि शर्तों का निर्वाह करना होगा। जब कुर्सी बनकर तैयार हो जाती है तब उसका रंगरूप देखकर इन दोनों बन्धनों का कहाँ तक ख़याल रखा गया है यह बात समझ में आ जाती है। लेकिन साध्य-साधन की सीमाएँ सँभालने का हिसाब यदि हम घटा देते हैं तो हमें दीख जाता है कि कुर्सी के तैयार करने वाले ने अपनी पसन्द की स्वतन्त्रता का उपयोग किया है; यह बाक़ी रह गयी चीज है शैली।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि केलकर शैली को न केवल साधन से स्वतंत्र वस्तु मानते हैं वरन उसे साध्य की अपनी प्रकृति से भी मुक्त कर देखने के पक्ष में हैं।

साहित्यिक शैली की उनकी भाषावादी दृष्टि के अनुसार शैली एक ओर साध्य (कथ्य की विशिष्टता) को नकारती चलती है और दूसरी ओर साधन (भाषिक संरचना) की सीमाओं के संदर्भ से कटकर सामने आती है। उनके अनुसार शैली का आधारभूत तत्त्व कलाकार की 'अपनी पसन्द की स्वतंत्रता' है।

साहित्यिक शैली को भाषिक दृष्टि से देखने की यह पद्धति भ्रामक तो है ही, भाषा की सही प्रकृति को उचित संदर्भ देने में भी यह असमर्थ है। फिर जिस कलाकार की 'अपनी पसंद की स्वतंत्रता' की बात केलकर उठाते हैं वह साहित्यिक प्रक्रिया की सम्पूर्ण गुरुता और साहित्यकार के पूरे दायित्व से ही शैली की संकल्पना को अलग कर देती है। क्या कथ्य की विशिष्टता, कलाकार की पसन्द की स्वतंत्रता को सीमित नहीं करती ? जिस शैली को कलाकार अपनाता है वह क्या काव्यवस्तु की अपनी प्रकृति का अंतरंग नहीं ?

ध्यान देने की बात है कि बाह्य जगत का तथ्य (फ़ैक्ट) और भाषिक जगत का यथार्थ (रियलिटी) वस्तुतः दो भिन्न वस्तुएँ हैं जिनका अन्तर जानना साहित्यिक जगत के कलात्मक यथार्थ को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है। बाह्य जगत का तथ्य, एक भौतिक उपादान होता है, वह एक घटना (इवेण्ट) है जो भौतिक क्षेत्र और समय (टाइम) के संदर्भ में परिभाषित होता है। भाषिक जगत का यथार्थ, भौतिक तथ्यों की सामान्यीकृत मानसिक संकल्पना है। वह भी एक घटना है पर उसका निर्धारित करने वाला तत्त्व, स्थान और समय-संबंधी भाषा भी अपनी संघटना है। यही कारण है कि समय (टाइम) और काल (टेन्स) अथवा भौतिक लिंग (सेक्स) और भाषिक लिंग (जेण्डर) आदि एक नहीं।

भाषिक यथार्थ के लिए भौतिक जगत के तथ्य केवल उपादान हैं उनके यथार्थ नहीं। अतः एक तथ्य को व्यक्त करने के लिए कई भाषिक प्रतीक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, शब्द के स्तर पर भाषिक प्रतीक के रूप में 'कमल', नीरज' और 'पंकज' को लें। इन शब्दप्रतीकों का संकेत-ग्रह (तथ्य) संसार में खिलने वाला एक फूलविशेष है पर प्रतीक के रूप में ये शब्द उस फूलविशेष की जाति (सामान्यीकृत धारणा) का ही बोध कराते हैं। साथ ही अपने अर्थ की व्यापकता के संदर्भ में ये एक-दूसरे से भिन्न यथार्थ की ओर भी संकेत देते हैं। 'पंकज' और 'नीरज' दोनों ही शब्द प्रतीक, कमल के फूल (तथ्य) की ओर संकेत देते हैं पर उनके बीच किसी एक का विकल्प से चुनाव अतिरिक्त अर्थ को ध्वनित करता है। एक उसे पंक के साथ सम्बद्ध कर 'गुदड़ी के लाल' की भाँति सामने लाता है तो दूसरा जल के साथ जोड़कर 'जनक' की भाँति अपने वातावरण से अप्रभावित एवं निश्छल सिद्ध कर देना चाहता है। यह भी तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि किसी देश की भाषा अपने प्रयोक्ता की जातीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग होने के कारण सांस्कृतिक संवेदनाओं से अर्थगर्भित रहती है। भाषा सांस्कृतिक चेतना की गत्यात्मक शैली भी है। पर इसके साथ यह भी संभव है कि शब्द द्वारा संकेतित वस्तु अपनी जातीय संस्कृति के संदर्भ में स्वयं प्रतीकवत सिद्ध हो। उदाहरण के लिए

'फूल' के संदर्भ में 'कमल' और 'गुलाब' शब्द की संकेतित वस्तु को लें। दोनों सौन्दर्यबोधक अर्थ की संसृष्टि करते हैं, दोनों मद की कोमलता और सुकुमारता को व्यंजित करते हैं पर भारतीय संस्कृति के उपादान के रूप में एक पवित्रता और अम्लान भाव का प्रतीक बनता है तो दूसरा विलासिता और भौतिक ऐश्वर्य के प्रतिनिधि के रूप में सामने आता है। एक को अगर कवि 'भारती-वन्दना' करते समय दृश्यबिम्ब के रूप में सामने लाता है—'भारती, जय विजय करे। कनकशस्य-कमल धरे।' तो दूसरे को 'अरे, ओ दुष्ट गुलाब', कह कर सम्बोधित करता है।"

केलकर जिसे 'कलाकार की अपनी पसन्द की स्वतंत्रता' कहते हैं वह वस्तुतः उस अतिरिक्त अर्थ का जनक है जो काव्यवस्तु को विशिष्ट बनाता है। 'पसंद की स्वतन्त्रता' के अर्थ में शैली वस्तुतः अर्थविस्तार की सूक्ष्म मर्यादा का निर्माण करती है, वह मुख्यार्थ के साथ प्रतिध्वनि के समान एक द्वितीय अर्थ को भी अभिव्यक्त करती है। शैली का सम्बन्ध मूलतः इस द्वितीय अर्थ के साथ रहता है।

सामान्य भाषा के सन्दर्भ में 'मुख्यार्थ' और शैली के परिप्रेक्ष्य में 'द्वितीय' अथवा 'अतिरिक्त' अर्थ को प्रभावसंचार सिद्धान्त में प्रचलित सम्बन्ध पर विरोधी दो प्रत्ययों—उद्रिक्तता (रिडण्डेन्सी) और सूचना (इन्फ़ॉर्मेशन) के आधार पर भी समझा जा सकता है। सूचनाग्रहण विकल्प और चुनाव के संदर्भ में ही संभव है जबकि उद्रिक्तता, पूर्वज्ञान के संदर्भ में अनुमेय (प्रिडिक्टेबल) होती है। जहाँ संशय की स्थिति है और विकल्प की संभावना, वहाँ किसी एक के विरोध में दूसरे का चुनाव निश्चय ही कुछ न कुछ अतिरिक्त सूचना संप्रेषित करेगा। शब्दप्रतीक के संदर्भ में 'पंकज' और 'नीरज' और संकेतित वस्तु के सन्दर्भ में 'कमल' और 'गुलाब' के फूल के चयन से ध्वनित द्वितीय अर्थ की ओर हम पहले संकेत दे आए हैं। यहाँ वाक्यप्रतीक के सन्दर्भ में चर्चा असमीचीन न होगी।

उदाहरण के लिए हम दो वाक्यों को लें। १. (क) लड़का आम नहीं खा रहा है। (ख) आम लड़के से नहीं खाया जा रहा है। वाक्य १ (क) और (ख) उक्तियों में एक क्रिया है (खाने की), एक क्रिया को सम्पादित करने वाला सक्रिय कर्ता (लड़का) और एक खाद्य वस्तु कार्यरूप में है (आम)। इसके साथ खाने की क्रिया का निषेध पक्ष है। तथ्य (फ़ैक्ट) के धरातल पर दोनों समान हैं पर इन दोनों में किसी एक का चुनाव द्वितीय अर्थ को ध्वनित करने में सक्षम है। (क) के चुनाव में सक्रिय कर्ता की क्रियाशीलता सुरक्षित है और उद्देश्य रूप में कर्ता के रूप में लड़के पर बल है। (ख) का चुनाव करने पर मूल कर्ता की क्रियाशीलता का सक्रिय पक्ष दब जाता है और उसकी अक्षमता सामने उभर आती है। उद्देश्य के रूप में बल, कर्ता पर न होकर इस उक्ति में कर्म अर्थात् 'आम' पर है। स्पष्ट है एक ही वाक्य को कर्तृवाच्य अथवा कर्मवाच्य के रूप में अभिव्यक्ति देने के लिए कलाकार स्वतन्त्र है पर उसकी यह स्वतन्त्रता शैलीगत द्वितीय अर्थ की सार्थक अभिव्यक्ति से मुक्त नहीं।

घर रहेंगे, हमीं उनमें रह न पायेंगे :
समय होगा, हम अचानक बीत जायेंगे :···

इस काव्यांश में 'हम अचानक बीत जायेंगे' उक्ति को ही लें। अगर क्रिया के रूप में 'बीतना' को लें, तो इसके दो रूप तो संभव थे ही—'बीतना/बिताना'। 'बिताना' सकर्मक क्रिया है जो वाक्य में एक सक्रिय कर्ता और कर्म की अपेक्षा रखता है। 'बीतना' व्युत्पन्न अकर्मक क्रिया है जिसमें सक्रिय कर्ता का या तो लोप हो जाता है अथवा उसके असामर्थ्य का प्रकाशन रहता है। 'बीत जाना' के रूप में क्रिया के अकर्मक पक्ष के चयन और 'हम' के कर्म-कर्तृक प्रयोग से एक ओर 'हम' को (जो सजीव व्यक्ति है, जिसे क्रिया का कर्ता होना चाहिए, और जो प्रकृति रूप में समय को बिताने वाला है) समय के समान बीतने वाला निष्क्रिय एवं अक्षम वस्तु के रूप में रखा गया है तो दूसरी ओर उसकी परवशता एवं उसकी असहाय स्थिति की ओर संकेत दिया गया है। इस उक्ति में कर्मवाच्य के रूप में पसंद की स्वतंत्रता का प्रश्न वस्तुतः कलाकार के पक्ष से हो सकता है, पर काव्यवस्तु के संदर्भ में यह स्वतंत्रता नहीं, अर्थात उसकी आंतरिक अनिवार्यता है जो किसी अन्य रूप में विकल्प से चयन करने पर न केवल अपना प्रभाव खो बैठने के लिए विवश है अथवा अपनी प्रकृति परिवर्तित करने के लिए बाध्य है। काव्यवस्तु अगर विशिष्ट है तो वह इसलिए कि अतिरिक्त अर्थ विशिष्ट है और अतिरिक्त अर्थ अपने में विशिष्ट है तो इसलिए कि वह एक निश्चित और विशिष्ट शैली में बँधा है।

भौतिक तथ्य और भाषिक यथार्थ के अन्तर को वाक्य २ (क) और (ख) की तुलना के आधार पर समझा जा सकता है।

२. (क) नल अब काम कर रहा है।
(ख) नल तब काम नहीं कर रहा था।

तालिका १

उच्चार के समय	नल काम कर रहा है [(नल, काम करना) + (वर्तमान, सातत्य पक्ष, अनिषेधात्मक)]
उच्चार के पूर्व	नल काम नहीं कर रहा था [(नल, काम करना) + (भूत, सातत्य पक्ष, निषेधात्मक)]

२ क नल अब काम कर रहा है	२ ख नल काम नहीं कर रहा था
व्यक्त तथ्य	पूर्वानुमानित तथ्य
पूर्वानुमानित तथ्य	व्यक्त तथ्य

जैसा कि तालिका (एक) से स्पष्ट है इन दोनों उक्तियों के भौतिक तथ्य एक हैं अर्थात वक्ता के उच्चार के समय 'नल काम कर रहा है' और उसके उच्चार के पूर्व 'नल काम नहीं कर रहा था'। पर वाक्य २ (क) में वल (व्यक्त तथ्य) उच्चार के समय नल के काम करने पर है और उच्चार के पूर्व नल के काम नहीं करने की स्थिति पूर्वानुमानित (प्रिसपोज्ड) है। इसके विपरीत २ (ख) में व्यक्त तथ्य है उच्चार के पूर्व की स्थिति, अर्थात 'नल काम नहीं कर रहा था', जब कि पूर्वानुमानित तथ्य उच्चार के समय के नल के काम करने की स्थिति है।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि 'अब' (वर्तमान काल, अनिषेधात्मक) और 'तब' (भूतकाल, निषेधात्मक) भौतिक तथ्य के धरातल पर पर्यायवाची हैं पर भाषिक यथार्थ के धरातल पर भिन्न हैं, क्योंकि उनके व्यक्त पूर्वानुमानित तथ्य की विभिन्नता कथन से अतिरिक्त अर्थ को व्यंजित करती है। अगर हमारी दृष्टि कथन के भौतिक तथ्य तक सीमित है तब तो हम यह कह सकते हैं कि २ (क) या (ख) में किसी एक का चुनाव कलाकार के अपने पसन्द की स्वतंत्रता का परिणाम है, पर अगर हमारी दृष्टि सूक्ष्म अर्थ के विस्तार पर है तब २ (क) और (ख) पर्यायवाची वाक्य नहीं ठहरते क्योंकि इनके भाषिक यथार्थ में पर्याप्त भिन्नता है।

प्रतीक पद्धति की जिस प्रकृति को लेकर काव्यभाषा चलती है उसका भी अपना सैद्धान्तिक आधार है। सामान्य भाषा में प्रतीक पद्धति समीकरण के सिद्धांत को लेकर चलती है जबकि काव्यभाषा में प्रतीक संयोजना, तुल्यार्थक (इक्विवैलेन्स) सिद्धान्त पर आधारित होती है। तुल्यार्थक सिद्धान्त, 'पैराडिग्मेटिक' स्तर पर प्रतीकों के 'चुनाव' से सम्बद्ध है जब कि 'सिण्टैग्मेटिक' स्तर पर उसका सम्बन्ध प्रतीकों के सार्थक संसर्ग और सन्निधि (कॉम्बिनेशन) के साथ रहता है। यहाँ यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि प्रतीक, कथ्य और अभिव्यक्ति की समन्वित इकाई है। अतः काव्यभाषा प्रतीक संयोजना के संदर्भ में कथ्य और अभिव्यक्ति (ध्वनि) दोनों ही स्तरों पर तुल्यार्थक सिद्धान्त को अपनाती है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को लें :

।। ।ऽऽ ।ऽ ।।ऽ ।। ।ऽऽऽ
१६=(५+११) घर रहेंगे, हमीं उनमें रह न पायेंगे : (७+१६)=२३
।।। ऽऽ ।। ।ऽ।। ऽ। ऽऽऽ
१६=(५+११) समय होगा, हम अचानक बीत जायेंगे : (७+१६)=२३

अभिव्यक्तिपक्ष (ध्वनिस्तर) विवेचना की सुविधा के लिए हम पूर्ण पंक्तियों को लिए १ और २ तथा अर्द्ध पंक्तियों के लिए क, ख का प्रयोग करेंगे।

१. $(^{१}_{क} + ^{१}_{ख})$ — अक्षर गणना : (५+११)=१६; मात्रा गणना : (७+१६)=२३
२. $(^{२}_{क} + ^{२}_{ख})$ — अक्षर गणना : (५+११)=१६; मात्रा गणना : (७+१६)=२३

इन वाक्यों के 'क' और 'ख' के अन्तिम तीन अक्षरों की प्रकृति पर ध्यान दें तो उनकी संरचना निम्नलिखित प्रकार की ठहरती है :

१. ($१_{क}$=...ISS +$१_{ख}$=...SSS)

२. ($२_{क}$=...ISS +$२_{ख}$=...SSS)

यति अर्थात विराम व्यवस्था पर ध्यान देने पर इन पंक्तियों की निम्नलिखित संरचना सामने आती है :

१. घर रहेंगे // हमीं उनमें / रह न पायेंगे ///

२. समय होगा // हम अचानक / बीत जायेंगे ///

१. ७+//७+६//

२. ७+//७+६//

कहने की आवश्यकता नहीं कि छन्द योजना की दृष्टि से १ और २ पंक्तियाँ समतुल्य हैं। अक्षर गणना, मात्रा गणना, उपखण्डों के अंतिम तीन अक्षरों की प्रकृति और यतियोजना के सन्दर्भ में दोनों पंक्तियों में आन्तरिक समरूपता है।

अभिव्यक्तिपक्ष (*व्याकरणिक स्तर*) जो आन्तरिक समरूपता हम अभिव्यक्तिपक्ष के ध्वनि स्तर पर देखते हैं वही हम व्याकरणिक स्तर पर भी पाते हैं। व्याकरणिक स्तर पर इन दो पंक्तियों की संरचना को तालिका २ में विश्लेषित किया गया है। इसको चार स्तर (अ, आ, इ, ई) पर प्रस्तुत किया गया है जिसमें हर दूसरा, अपने पूर्ववर्ती स्तर का विस्तार मात्र है।

तालिका २

(अ)	१. ||| S	P || S	P |||
	२. ||| S	P || S	P |||
(आ)	१. ||| S	V_s || S	A_l	V_c+*neg* |||
	२. ||| S	V^s || S	A_t	V^c |||
(इ)	१. ||| S	V^s || S	A_l	V^c (→V_p+V_j)+*neg* |||
	२. ||| S	V^s || S	A_t	V_c (→V_p+V_i) |||
(ई)	१. ||| S_i (→ O)	V^s || S_a (→ O)	A_l	V^c (→V_p+V_i (→*abil*)+*neg* |||
	२. ||| S^i (→ O)	V^s || S_a (→ O)	A_t	V^c (→V_p+V_i (→*pass*) |||

S = उद्देश्य
S_a = सजीव उद्देश्य
Si = निर्जीव उद्देश्य
P = विधेय
V^s = सामान्य क्रिया
V_c = संयुक्त क्रिया
Al = स्थानवाचक क्रियाविशेषण
A_t = कालवाचक क्रियाविशेषण
D = सम्प्रदान भोक्ता
O = कर्म
V_p = मुख्य क्रिया
V^i = रंजक क्रिया
neg = निषेधात्मक
abil = सामर्थ्यपरक
pass = कर्मवाच्य
||| वाक्य विराम
|| उपवाक्य विराम
| पदबन्ध विराम

व्याकरणिक संरचना पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों वाक्य (१ और २) संयुक्त वाक्य हैं क्योंकि वाक्यों के दोनों उपवाक्य समानाधिकरणिक हैं। दोनों उपवाक्यों के बीच अर्द्धविराम का प्रयोग है जो वस्तुतः विरोधदर्शक समुच्चयबोधक अव्यय के लोप की ओर संकेत देता है। अव्यय के रूप में 'पर, परन्तु', अथवा, 'लेकिन' आदि की मूल में स्वीकृति और व्यक्त में उसके लोप से दोनों ही वाक्य गठित हैं। (वाक्य संरचना के अन्य तथ्य तालिका २ में प्रस्तुत विश्लेषण से स्वयमेव स्पष्ट हैं।)

कथ्य पक्ष : सामान्य अर्थ के धरातल पर ये दोनों वाक्य संकेत देते हैं कि घर है और हम घर में रहना चाहेंगे क्योंकि घर हमारे रहने के लिए है, तथा समय है और हम समय को बिताना चाहेंगे क्योंकि समय बिताने (काटने या जीने) के लिए है। पर काव्यात्मकता, इस सामान्य अर्थ में नहीं वरन उस विडम्बना की स्थिति में है जो दो समानाधिकरणिक पर विरोधदर्शक उपवाक्यों की तुल्यार्थक संयोजना से उद्भूत हुई है। जो हमारे जीवन के उपकरण हैं (घर और समय) वे तो होंगे, और बने रहेंगे और जो उस उपकरण के सन्दर्भ में कर्ता है (अर्थात हम), वही समाप्त हो जाएगा, उसीकी सत्ता मिट जाएगी। (यहाँ 'हम' के साथ जुड़े व्यावर्तक सीमक 'ही' के सार्थक प्रयोग पर ध्यान दें जो सन्धि के कारण 'हमीं' रूप में व्यक्त है : हम+ही→हमीं। घर व्यक्ति के रहने के लिए होता है। व्यक्ति नहीं तो घर की अपनी कोई सार्थकता नहीं पर स्थिति की विडम्बना यह है कि घर तो रहेगा, पर रहने वाला ही उसमें न रहने अर्थात चुक जाने के लिए विवश है। इसी प्रकार हम समय के बिताने वाले हैं और समय बीतने वाला क्षर अंश है पर स्थिति की विडम्बना यह है कि समय तो अक्षर भाव से रहेगा पर उसको जीने वाला स्वयं एक दिन अचानक बीत जाएगा।

यह ध्यान देने योग्य है कि १ और २ के क-उपखण्ड की क्रिया अस्तित्वबोधक और स्थिर (स्टेटिव) है जबकि ख-उपखण्ड का विधेय पक्ष संयुक्त क्रिया से युक्त है। १ (ख) में संयुक्त क्रिया 'रह पाना' का रंजक पक्ष जिस अवकाशबोधक क्रिया 'पाना' से संयुक्त है वह वस्तुतः अनुमतिबोधक क्रिया (जैसे 'देना') की विरोधिनी

है। फिर इसकी निषेधात्मक अभिव्यक्ति 'रह न पाना' घर में न रहने की उस आन्तरिक विवशता को ध्वनित करती है जो रहने की इच्छा रहते हुए भी न रहने के लिए विवश है। इसी प्रकार २ (ख) की संयुक्त क्रिया का रंजक पक्ष जिस सहायक क्रिया 'जाना' से संयुक्त है वह मूलतः कर्मवाच्य और भाववाच्य बनाने में सहायक होती है और मुख्य समर्थक क्रिया इसके संयोग से अकर्मक हो जाती है। विकारदर्शक अकर्मक क्रिया के साथ जुड़कर यह पूर्णता अथवा क्रिया की अन्तिम परिणति की सूचना देती है और व्यापारदर्शक क्रिया के साथ संयुक्त होकर शीघ्रता का बोध कराती है। इस उपखण्ड में 'बीतना' क्रिया के साथ आकर वस्तुतः यह पूरे व्यापार में शीघ्रता, और क्रिया की पूर्णता का अर्थ ध्वनित कर रही है। साथ ही व्युत्पन्न अकर्मक के रूप में 'बीतना', कर्ता के सक्रिय सामर्थ्य के विपरीत उसके असामर्थ्य को व्यंजित कर रही है जिसमें उद्देश्य 'हम' मात्र निष्क्रिय, तटस्थ एवं परवश कर्म रूप प्राणी के रूप में सिद्ध है।

इस विवेचना के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि इस अंश में तीन सज्ञाएँ हैं—घर, समय और हम। स्थिति यह है कि घर है और रहेगा, समय है और भविष्य में भी होगा, पर हम ? हम इस समय तो हैं पर भविष्य में न रहने के लिए विवश हैं, हमारा जीवन है, पर अचानक ही वह चुक जाने के लिए परवश है।

प्रतीकपक्ष (*काव्यात्मक स्तर*) : काव्यात्मक शैली, उपकथनों की तुल्यार्थक अभिव्यक्ति पर आधारित होती है—इसका संकेत पहले दे आए हैं। तुल्यार्थक सिद्धान्त शाब्दिक प्रतीकों के चुनाव को सन्निधि अर्थात इन प्रतीकों के धरातल पर प्रक्षेपण करता है।

अगर इन पंक्तियों पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि १ और २ पंक्तियों के (क) और (ख) के उपकथन तुल्यार्थक सिद्धान्त पर आधारित हैं जिनमें उपकथनों की प्रकृति समतुल्य होते हुए भी एक-दूसरे की विरोधी हैं। अगर १ और २ के क-उपखण्ड की क्रिया के सन्दर्भ में स्थिति देखें तो स्पष्ट है कि 'घर रहेंगे, पर हम न रहेंगे', अथवा 'समय होगा पर हम न होंगे' यही ध्वनि ख-उपखण्ड की क्रिया को केन्द्र में रखकर सुनी जा सकती है—'हम रह न पायेंगे पर घर रह पायेंगे' अथवा 'हम बीत जायेंगे पर समय बीत नहीं जायेगा'।

अगर इन पंक्तियों के अपने उपकथन और उनकी अपनी संयोजना से ऊपर उठकर इन दोनों (१ और २ पंक्तियों) की संरचना की तुलना करें तो स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि, व्याकरण एवं अर्थ, इन सभी धरातलों पर इनमें आन्तरिक समता और अन्तरंग अनुरूपता है। (इन तीनों धरातलों पर इन पंक्तियों का विश्लेषण पहले किया जा चुका है।) इस आन्तरिक समता के भीतर से जो तत्त्व इन दोनों को एक व्यापक धरातल पर बाँधता है वह है १ और २ पंक्तियों के ख-खण्ड में प्रयुक्त 'हम'। 'हम' ही वह प्रत्यय है जो दोनों पंक्तियों में समान भाव से न केवल स्थित है वरन 'घर' और 'समय' के सन्दर्भ में क्षरशील है, न रहने और न जीने के लिए परवश और विवश है।

वस्तुतः अतिरिक्त अर्थ अर्थात काव्यगत शैली के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि इन दोनों पंक्तियों के उपकथन की आन्तरिक संरचना यह ध्वनित करती है कि एक ओर घर (जैसे मनुष्य निर्मित) और समय (जैसे प्राकृतिक) प्रकृति के उपकरण हैं जो अक्षर (कॉन्स्टैण्ट) हैं और दूसरी ओर 'हम' ऐसे जीवित प्राणी हैं जो क्षरशील (ट्रांज़ियेंट) हैं, और क्षरशील हैं अपनी इच्छा के विरोध में। अर्थात 'अमर' होने की लालसा के साथ हम गुज़र जाने के लिए विवश हैं।

अभी तक हमने प्रथम दो पंक्तियों का विश्लेषण केवल उन्हींकी संरचना के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। पर ये पंक्तियाँ तो पूरी कविता के आंशिक पक्ष हैं। इनके अर्थ की सार्थकता का उद्घाटन पूर्ण कविता की संरचना के संदर्भ में ही संभव है। पूर्ण कविता का विस्तारपूर्वक विश्लेषण इस लेख में संभव नहीं। अतः नीचे कविता की संघटना संबंधी कुछ विशेषताओं का उल्लेख कर ही संतोष कर लेना चाहूँगा। पूरी कविता इस प्रकार है :

घर रहेंगे

घर रहेंगे, हमीं उनमें रह न पायेंगे,
समय होगा, हम अचानक बीत जायेंगे,
अनर्गल ज़िन्दगी ढोते किसी दिन हम
४ एक आशय तक पहुँच सहसा बहुत थक जायेंगे।
मृत्यु होगी खड़ी सम्मुख राह रोके,
हम जगेंगे यह विविधता, स्वप्न, खो के,
और चलते भीड़ में कन्धे रगड़ कर हम
८ अचानक जा रहे होंगे कहीं सदियों अलग हो के।
प्रकृति औ' पाखंड के ये घने लिपटे
बँटे, ऐंठे तार,—
जिनसे कहीं गहरा, कहीं सच्चा,
१२ मैं समझता—प्यार,
मेरी अमरता की नहीं देंगे ये दुहाई,
छीन लेगा इन्हें हमसे देह-सा संसार।
राख-सी साँझ, बुझे दिन की घिर जायेगी।
१६ वही रोज़ संसृति का अपव्यय दुहरायेगी।

पूर्णविराम पर अगर ध्यान दें तो पूरी कविता चार चरणों में विभक्त दिखलाई पड़ती है। पहले चरण में चार पंक्तियाँ, दूसरे चरण में चार पंक्तियाँ, तीसरे चरण में छह पंक्तियाँ और चौथे चरण में दो पंक्तियाँ हैं। अगर प्रत्येक चरण में प्रयुक्त पंक्तियों के अन्तिम तीन अक्षरों की प्रकृति पर ध्यान दें तो हम एक निश्चित संघटना पाते हैं।

१ **चरण**— . . . sss, . . . sss, . . . III, . . . sss

२ **चरण**— . . . Iss, . . . Iss, . . . III, . . . Iss
a_1 a_2 b_3 a_4

पहले दो चरणों की प्रकृति a, a, b, a है अर्थात पहली, दूसरी और चौथी पंक्ति समान हैं और तीसरी पंक्ति इनसे भिन्न है। अगर तीसरे चरण पर ध्यान दें तो पहले दो चरण के विपरीत इनमें चार के स्थान पर छह पंक्तियाँ हैं। पर अगर पंक्तियों के तीन अन्तिम अक्षरों पर ध्यान दें तो तीसरे चरण की प्रथम दो पंक्तियाँ, एक पंक्ति रूप तथा तीसरी और चौथी पंक्तियाँ सम्मिलित रूप से एक पंक्ति रूप ठहरती हैं क्योंकि चौथी पंक्ति के 'संसार' की तुलना पर दूसरी पंक्ति में 'तार' और चौथी पंक्ति में 'प्यार' शब्द पाते हैं।

३ **चरण**— . . . ssI, . . . ssI, . . . sss, . . . ssI
a_1 a_2 b_3 a_4

अतः संरचना के स्तर पर तीसरे चरण की छह पंक्तियाँ पहले और दूसरे चरण की संघटना के सन्दर्भ में चार पंक्तियों के समतुल्य ही ठहरती हैं। चौथे चरण की संरचना केवल दो पंक्तियों को लेकर है जिसकी प्रकृति . . .sss के सन्दर्भ में a, a हैं।

४ **चरण**— . . . sss, . . . sss
a_1 a_2

पंक्ति-संख्या और मात्रा-संख्या की संघटनागत इस अनुरूपता के बावजूद यह तो देखा ही जा सकता है कि चरण ३ अन्य चरणों से भिन्न है। वह इस बात में भी भिन्न है कि इसमें पहली बार 'मैं' और 'मेरी अमरता' की ध्वनि सुनाई पड़ती है। पहली बार प्रकृति व्यापार के शाश्वत और नश्वर पक्ष के सन्दर्भ में कवि 'प्यार' और 'अपनी अमरता' की दुहाई का प्रश्न उठाता है। वस्तुतः तीसरा चरण काव्यचेतना की आन्तरिक प्रकृति और काव्यवस्तु की आभ्यन्तर ध्वनि पर कवि-कथन के आरोपण से बोझिल है और काव्यविवृत के स्थान पर कविनिर्णय-सा सायास प्रक्षेपण है।

पहले दो चरणों की संरचना समान है। पहली और दूसरी पंक्तियाँ (a_1 और a_2) एक ही प्रकथन के संदर्भ में दो भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। पहले चरण में 'घर' और 'समय' की अक्षर स्थिति की तुलना में 'हम' क्षरशील और नश्वर हैं। दूसरे चरण में मृत्यु के सन्दर्भ में 'हमारा जीवन' और जाग्रतावस्था के परिप्रेक्ष्य में 'स्वप्न' क्षणिक और क्षरशील है। दोनों ही चरणों की तीसरी और चौथी पंक्तियाँ 'हम' से सन्दर्भित एक ही प्रकथन के 'कब', 'कैसे' और 'कहाँ' की स्थितिदर्शक उपकथनों से संयुक्त वाक्य हैं। पहले चरण में 'हम सहसा बहुत थक जायेंगे' और दूसरे चरण में 'हम अचानक जा रहे होंगे' मुख्य उपवाक्य हैं। कहाँ थक जायेंगे ? 'एक आशय तक पहुँचकर'। कहाँ जा रहे होंगे ? 'चलते भीड़ में'। इसी प्रकार कैसे

थक जायेंगे ? 'अनर्गल ज़िन्दगी ढोते हुए' और कैसे जा रहे होंगे ? 'भीड़ में कन्धे रगड़कर', पर उस भीड़ से 'कहीं सदियों अलग हो के'। (इस अन्तिम अभिव्यक्ति की काव्यात्मक उक्ति पर ध्यान दें। भीड़ में कन्धे रगड़कर चलने का अर्थ है स्थान (स्पेस) के सन्दर्भ में हम, अन्य सामाजिक व्यक्तियों के बहुत निकट हैं पर 'कहीं सदियों अलग होके' चलने से अर्थ ध्वनित हो रहा है कि स्थान के संदर्भ में निकट रहकर भी हम सामाजिक अन्य व्यक्तियों से इतनी दूर हैं मानो सदियों के अन्तराल पर रहने वाले दो प्राणी, एक दूसरे से नितान्त अपरिचित और नितान्त अजनबी।)

पहले चरण की प्रथम दो पंक्तियों (a_1 और a_2) तथा चौथे चरण की पंक्तियों (a_1 और a_2) की मात्रा-संख्या (२३, २३) समान हैं। अतः प्रथम और अन्तिम दो पंक्तियाँ पूरी कविता को अपने परिवृत्त में बाँधे हुए हैं जिसमें प्रथम दो पंक्तियों में उठाई गयी विडम्बना के अन्य उपकथन, स्थिति एवं प्रकृति व्यापार को उजागर करती हुई अपनी पूरी सार्थकता एवं अर्थवत्ता के साथ इन अन्तिम दो पंक्तियों में अपनी अभिव्यक्ति पाती हैं :

राख-सी साँझ, बुझे दिन की घिर जायेगी :
वही रोज़ संसृति का अपव्यय दुहरायेगी।

'राख-सी साँझ' अर्थात रात्रि अर्थात मृत्यु। इसी प्रकार 'बुझे दिन' अर्थात 'अनर्गल एवं स्वप्निल जीवन'। कविता में प्रयुक्त शब्द प्रतीक अपना अर्थ कविता के अपने ही सन्दर्भ से पाते हैं—यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है। 'राख-सी साँझ' का मृत्यु अर्थात प्रकृति का 'अक्षर अंश' तथा 'बुझे दिन' का अनर्गल एवं स्वप्निल ज़िन्दगी अर्थात प्रकृति का 'क्षरशील एवं नश्वर अंश' के रूप में अर्थ कविता की अपनी संरचना से ही ध्वनित हो जाते हैं। ध्यान दें, पहले और दूसरे चरण की प्रथम दो पंक्तियों की संघटना इस तथ्य की ओर संकेत देती है कि उक्ति के प्रथम खण्ड (क-खण्ड) के संज्ञा पद का प्रतीक अक्षर है और इसके संदर्भ में ख-खण्ड के संज्ञा पद का प्रतीक क्षरशील है।

जो प्रकृति का अक्षर पक्ष है वही सामर्थ्यवान है, शक्तिसम्पन्न है और शाश्वत (कॉन्स्टैण्ट) होने के नाते प्रकृति व्यापार का कर्ता है। अंतिम चरण की अन्तिम पंक्ति में सकर्मक और क्रियाशील क्रिया 'दुहराना' का प्रयोग मिलता है जिसका सक्रिय कर्ता (एजेण्ट) 'वही' है। 'वही' वस्तुतः वह सर्वनाम है जो प्रकृति के अक्षर एवं शाश्वत पक्ष का प्रतीकवत सजीव मानवी कृत व्यापार के स्थान पर आया है जब कि प्रकृति के नश्वर एवं क्षरशील के रूप में व्यक्त 'हम' और 'हमारा जीवन' और कुछ नहीं 'संसृति का अपव्यय' है।

यह पहले संकेत दिया जा चुका है कि कविता का तीसरा चरण कई अर्थों में विशिष्ट है पर उसकी विशिष्टता का मूल कारण वह 'कविस्वर' है जो कवि की अपनी मान्यता एवं धारणा के बोझ से भारी बन गया है। वह समझता है कि 'हम का जीवन' ऐसे तार से निर्मित है जो प्रकृति और पाखण्ड के तत्त्वों के 'घने, लिपटे, बँठे, ऐंठे' रूप के परिणाम हैं। कवि की मान्यता के अनुसार ये तार उसकी

'अमरता की दुहाई' देने में अक्षम हैं क्योंकि "छीन लेगा इन्हें हमसे देह-सा संसार"। वह अपने जीवन की सार्थकता-निरर्थकता के प्रश्नों के भीतर से गुजरकर इस 'सत्य' का अन्तर्ज्ञान पाता है कि जीवन और जगत में अगर कोई ऐसा तत्त्व है जो उसकी अमरता की दुहाई दे सकने में सक्षम है और जिसे संसार उससे 'देह-सा' छीन लेने में समर्थ नहीं है तो वह है—प्यार। यह प्यार ही उसके क्षरशील जीवन तत्त्वों को अक्षर बनाने की क्षमता रखता है, उसके 'अनगंल जिन्दगी' को सार्थक बनाने की शक्ति रखता है, भीड़ में 'सदियों अलग होने की' अजनबी स्थिति से हटाकर अन्य व्यक्तियों से सम्बद्ध करने में समर्थ है और 'संसृति का अपव्यय' होने से उसे बचाने में समक्ष है।

'घर रहेंगे' कविता की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि कविता, शाब्दिक कला है और काव्यशैली का लक्ष्य अर्थ के उस सूक्ष्म विस्तार का निर्माण है जो काव्यवस्तु को विशिष्ट बनाता है। काव्यभाषा, भाषा की ही एक विशिष्ट शैलीगत अभिव्यक्ति है जहाँ अपने-अपने स्तरों पर स्थित भाषा की स्वनिष्ठ इकाइयाँ वस्तुतः अवस्वनिष्ठ होकर बहुस्तरीय (मल्टीडायमेन्शनल) बन जाती हैं।

केलकर भाषा और साहित्य के अनुबंध की समस्या को लेकर चिन्तित है। उनके अनुसार "भाषा साहित्य की कलासामग्री है। स्मरण रहे कि हमने कलासामग्री कहा है, कला माध्यम नहीं—जिस प्रकार शिल्पकला का माध्यम घनाकार एवं बुनावट (टेक्स्चर) रहता है। बल्कि भाषा सामग्रीरूप है—जिस प्रकार शिल्पकला में पाषाण की खुदाई होती है, धातु ढाली जाती है, मिट्टी की बुनावट होती है, उसी प्रकार भाषा की साहित्यमूर्तियाँ बनती हैं।"

अगर 'भाषा की साहित्यमूर्तियाँ' का अर्थ भाषानिर्मित बिम्ब (इमेज) है तो यह अन्यत्र दिखलाया जा चुका है कि "काव्यभाषा को 'बिम्ब' के 'होने' और 'न होने' की स्थिति से जोड़कर देखने वाले विद्वान यह भूल जाते हैं कि बिम्ब, काव्यभाषा का एक उपादान मात्र है और कविता में बिम्ब हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। बिम्ब की अनुपस्थिति में भी सुन्दर कविता का निर्माण संभव है।" साथ ही 'जिस प्रस्तुतीकरण की अभिव्यक्ति प्रणाली को कविता अपनाती है उसकी मूल इकाई के रूप में बिम्ब नहीं अपितु शब्द होता है। कविता में प्रयुक्त बिम्ब वस्तुचित्र न देकर भावचित्र उपस्थित करता है जिसकी प्रकृति आपाततः शब्दों द्वारा सम्प्रेषित भावचित्र के ही समान होती है। काव्यबिम्ब भाषिक प्रक्रिया से उत्पन्न विशिष्ट शब्दसमूह रूप की इकाई के रूप में स्थित रहते हैं अतः जो बिम्ब, भाषा की इस विशिष्ट इकाई रूप के समान सिद्ध नहीं होते, उन्हें 'स्वप्नचित्र', 'आर्कीटाइप', 'मिथ' अथवा अन्य कुछ भी नाम क्यों न दे दिया जाय पर काव्यबिम्ब कहना तर्कसंगत नहीं जान पड़ता।"

केलकर की यह मान्यता है कि जिस प्रकार शिल्पकला में पाषाण, धातु या मिट्टी सामग्री रूप हैं उसी प्रकार साहित्य में भाषा भी मात्र सामग्रीरूप है। पर यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि शिल्पकला की सामग्री की प्रकति बदल दें तब भी वह

कला ही बनी रहती है अर्थात सामग्री रूप में पाषाण लें अथवा उसके स्थान पर धातु या मिट्टी, वह शिल्पकला ही रहेगी। इसी प्रकार कोई कुर्सी अगर कलारूप में सिद्ध है तो चाहे उसे अन्य लकड़ी की सामग्री से बनाएँ या पत्थर, धातु, मिट्टी अथवा रबर की सामग्री से, आपाततः वह कलावस्तु ही बनी रहेगी। पर क्या साहित्यिक कृति के संदर्भ में भी यह कहा जा सकता है? क्या साहित्यिक कला की सामग्री के रूप में भाषा के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को उपादान के रूप में स्वीकृति दी जा सकती है?

प्रश्न है, भाषा और साहित्य की इस अन्तरंगता का कारण क्या है? जब हम शिल्पकला कहते हैं तब प्रमुखता कला सामग्री पर नहीं रहती अपितु शिल्प की अपनी विशिष्टता ही कला के जनक रूप में सिद्ध रहती है। पर साहित्य तो 'शाब्दिक कला' के रूप में परिभाषित होता है। शाब्दिक इसलिए कि शब्द (भाषा) (का विशिष्ट प्रयोग) ही कला का मूलभूत स्रोत है और शिल्प, शैलीगत भाषिक प्रयोग के सन्दर्भ में स्वयमेव सिद्ध रहता है।

काव्यसंसार और शैलीविज्ञान

शैलीविज्ञान के विरोध में प्रायः यह कहा जाता है कि वह "रीतिकालीन कला-विवेचनवादी रूप है जो एक तरह से मरणोन्मुखी बुर्जुआ कलारूपों के काव्य-सिद्धांत रूपवाद की ही पुनः प्रतिष्ठा का अन्तिम प्रयास है।" यह भी कहा गया है कि काव्यार्थ को "भाषा में रूपान्तरित कलात्मक यथार्थ" अथवा काव्यकृति को "संवेगात्मक उद्देश्यों से नियन्त्रित भाषाप्रतीक" कहकर शैलीविज्ञान जिस वस्तु-वादी चिन्तन और भाषावादी दृष्टि का समर्थक है उससे "वह किसी गहरी संरचना का अनिश्चित संकेत-भर होता है।" शैलीविज्ञान, काव्यकृति को सामाजिक संदर्भों से केवल काटकर ही नहीं चलता वरन "कविता के भीतरी मर्म या मार्मिक अर्थ की खोज" को भी वह बन्द कर देता है। वह न केवल 'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त का पक्षधर है बल्कि वह कविता के अपने वास्तविक परिवेश से ही विच्छिन्न कर देने का षड्यन्त्र भी है। वस्तुतः ये ऐसे आरोप हैं जिसकी गहराई से बिना छानबीन किये शैलीविज्ञान के सैद्धान्तिक सन्दर्भ को उचित रूप से नहीं समझा जा सकता।

शैलीविज्ञान, प्रतीक के सन्दर्भ में कथ्य और अभिव्यक्ति के एकीकरण की मान्यता को स्वीकार कर चलता है। कथ्य के अभाव में अभिव्यक्तिपक्ष और अभि-व्यक्ति के अभाव में कथ्यपक्ष किसी भी प्रतीक को जन्म देने में असमर्थ है। ये दोनों पक्ष एक-दूसरे से इस प्रकार घुले-मिले रहते हैं कि एक के अभाव में दूसरे की सत्ता की कल्पना भी कठिन हो जाती है। इस दृष्टि से तुलसीदास की यह उक्ति सर्वथा सार्थक है—'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'। इस चिंतन-धारा के अनुसार कोई भी काव्यकृति आपाततः कलाप्रतीक ही है। वह एक ऐसे जीवनप्रतीक के रूप में सिद्ध मिलती है जहाँ कथ्य और अभिव्यक्ति रूप के अन्त-स्सम्बन्धों की अभिन्नता सहज रूप में सिद्ध रहती है। यह अभिन्नता ही किसी काव्यकृति को एक निश्चित और सम्पूर्ण 'इकाई' के पद पर आसीन करती है। कथ्य और अभिव्यक्ति, इस इकाई के न तो दो स्तर हैं और न दो खण्ड, अपितु वे एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं।

यही कारण है कि शैलीविज्ञान, काव्यकृति (कलाप्रतीक) के व्यापक सन्दर्भ में जहां रूप से कथ्य के विलगाव का विरोध करता है वहीं वह कथ्य से 'असम्पृक्त अभिव्यक्ति रूप' की भी तीखी आलोचना करने में नहीं चूकता।

कलाप्रतीक के सृजनात्मक और आलोचनात्मक दोनों ही धरातल पर हमें तीन स्थितियाँ मिलती हैं :

(क) पहली स्थिति वह है जहां रूपसिद्धि, कथ्य के विलगाव के साथ देखने को मिलती है। इसे 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त का आधारभूत दृष्टिकोण कहा जा सकता है।

(ख) दूसरी स्थिति वह है जहां कथ्यसिद्धि, रूप से असम्पृक्त होकर की जाती है। इस दृष्टिकोण के मानने वाले काव्यकृति को कलाप्रतीक का दर्जा देने की बजाय उसे साहित्येतर लक्ष्य का साधन बनाने के पक्षधर होते हैं।

(ग) तीसरी स्थिति वह है जो काव्यकृति को कथ्य और अभिव्यक्ति रूप की अभिन्नता के प्रतिफलित कलाप्रतीक रूप में स्वीकार कर 'रूप' को कथ्य की यथा-र्थता को पकड़ने का साधन और कथ्य को अपनी आन्तरिक प्रकृति के प्रकाशन के लिए 'रूप' में बँधने की अनिवार्य नियति के सन्दर्भ में देखती है।

प्रसिद्ध रूसी आलोचक श्क्लोवस्की के अनुसार पहली स्थिति को साधनेवाला आलोचना सिद्धान्त, अधूरी और असंगत काव्यदृष्टि का परिणाम होता है और दूसरी स्थिति को स्वीकार कर चलने वाली मान्यता काव्येतर होने के कारण बाह्य आलोचना को जन्म देती है। यह तीसरी स्थिति है जो काव्यकृति को सन्तुलित और संगत दृष्टि से देखने का आग्रह रखती है और जिसे आभ्यन्तर आलोचना कहा जा सकता है।

शैलीविज्ञान की सैद्धान्तिक मान्यताएँ आभ्यन्तर आलोचना के पक्ष में हैं क्योंकि वह एक ओर सर्जनात्मक धरातल पर काव्यकृति को कथ्य और अभिव्यक्ति की समन्वित इकाई के रूप से प्रतीकवत सिद्ध मानती है और दूसरी तरफ़ आलोचना-त्मक धरातल पर वह अपना केन्द्रक काव्यकृति और काव्यात्मकता को स्वीकार करती है। यहाँ इस ओर भी ध्यान देना आवश्यक है कि काव्यात्मकता को वह 'रूपसिद्धि' के रूप में नहीं देखता (जैसा कि अपनी अज्ञानतावश उसके विरोधी आलोचक प्रायः मान बैठते हैं) वरन काव्यकृति की संरचना में निहित उस 'प्रकार्य' के रूप में वह स्वीकार करता है जो काव्यकृति को काव्येतर अन्य कृतियों से अलग (विशिष्ट) सिद्ध करने का हेतु होता है।

शैलीविज्ञान जब अपनी सैद्धान्तिक मान्यता के अनुसार काव्यकृति को काव्या-लोचना का केन्द्रक मानता है तब वह साहित्यिक आलोचना का अपना विशिष्ट दायरा भी खींचता है। काव्यकृति का विवरण और विश्लेषण अथवा उसके प्रति समझदारी पैदा करना एक बात है और उसे साहित्येतर लक्ष्य का साधन बनाना दूसरी बात। शैलीविज्ञान अपनी आलोचनात्मक दृष्टि और प्रयोजनात्मक लक्ष्य को काव्यकृति तक बाँधकर रखना चाहता है और इसीलिए वह इसके पक्ष में नहीं है कि काव्यकृति को इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि क्षेत्रों की निष्प-त्तियों के प्रमाण रूप में ग्रहण किया जाये। यह कार्य दूसरे शास्त्रों के क्षेत्र के भीतर आता है। काव्येतर लक्ष्यों के साधन के रूप में काव्यकृति को स्वीकार करने का अर्थ ही है पहले काव्यकृति को कलाप्रतीक के स्तर से च्युत करना और फिर उसकी 'संरचना' या अन्तर्निहित 'कलात्मकता' की अपेक्षा कुछ 'अन्य' उपादानों

को ढूंढ़ना या व्याख्या के बहाने अपनी मान्यताओं का आरोपण करना।

शैलीविज्ञान की आभ्यन्तर दृष्टि यह भी मानकर चलती है कि 'काव्य (कृति का) संसार' और 'बाह्य(काव्येतर) संसार' के बीच का सम्बन्ध सीधा और यांत्रिक न होकर कल्पनात्मक और सर्जनात्मक होता है। वह मुकोरोव्स्की की इस मान्यता का हामी है कि साहित्य, यथार्थ को हूबहू प्रतिबिम्बित नहीं करता अपितु यथार्थ का वह सर्जक है। इसलिए यह कहने की बजाय कि "साहित्य, समाज का दर्पण है" यह मानना अधिक तर्कसंगत है कि "साहित्य, यथार्थ को 'ओवरलैप' करता है।" यह इसी मान्यता का परिणाम है कि काव्यकृति की सत्ता को वह काव्येतर उपादानों के परिणाम के रूप में नहीं देखता। अर्थात शैलीविज्ञान बाह्य आलोचना-पद्धति की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता कि काव्यकृति को 'कार्य-कारण' के आधार पर कवि के अपने संवेग, समाज के अपने सन्दर्भ या पाठक पर पड़े प्रभाव के परिप्रेक्ष्य में सही ढंग से समझा या समझाया जा सकता है। 'मनोवैज्ञानिक', 'सामाजिक', 'ऐतिहासिक', 'दार्शनिक' आदि आलोचनाएँ, वस्तुतः बाह्य आलोचना की उस मान्यता पर आधारित हैं जो यह मानती हैं कि 'कारण' और 'प्रतिफलन' में जो सीधा और यान्त्रिक सम्बन्ध भौतिक उपादानों या जीवन के बहुत स्थूल स्तर पर देखने को मिलता है, वही सम्बन्ध साहित्य के सन्दर्भ में भी लागू है। यहाँ इस ओर संकेत दे देना अनुचित न होगा कि मानव की सर्जनात्मक प्रतिभा के उदाहरण रूप भाषा की इकाइयाँ (अर्थात भाषिक प्रतीक) भी इसी अर्थ में जीवन्त हैं कि वे यान्त्रिक कार्य-कारण के उस सम्बन्ध से परे होती हैं जो स्थूल प्रतीकों में देखने को मिलते हैं, यथा : धुआँ और आग, गीली ज़मीन और वर्षा अथवा चेहरे का तमतमाना अथवा क्रोध। इन सभी स्थितियों में जहाँ धुआँ, आग के होने की सूचना देता है या गीली ज़मीन देखकर वर्षा होने का अनुमान लगाया जा सकता है और चेहरे के तमतमाने के आधार पर व्यक्ति के क्रोधित होने की कल्पना की जा सकती है, वहीं कल्पना या अनुमान भाषिक प्रतीक-सत्ता के निमित्त नहीं लगाये जा सकते। अगर यह बात नहीं होती तो एक ही कथ्य के लिए दो अभिव्यक्तियाँ (यथा : पुस्तक / किताब) एक ही भाषा में देखने को नहीं मिलतीं और न विभिन्न भाषाओं के विभिन्न प्रतीक रूप ही देखे जाते : (घोड़ा / अश्व / हार्स (अंग्रेज़ी) / कोन्य (रूसी) / शेवल (फ्रेंच आदि)। अगर यह 'भाषिक प्रतीक' के सन्दर्भ में झूठा है तब 'कलाप्रतीक' के सन्दर्भ में और भी ग़लत साबित हो जाता है क्योंकि 'भाषिक-प्रतीक' के 'कलाप्रतीक' में रूपान्तरण की प्रक्रिया कार्य-कारण के इस यान्त्रिक सम्बन्ध को और भी गहराई से तोड़ने का काम करती है।

यह तथ्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि शैलीविज्ञान, बाह्य जगत और कलाजगत के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की यान्त्रिक और जड़ प्रकृति का विरोधी है। अन्यथा वह यह मानकर चलता है कि 'कलाप्रतीक' के रूप में सिद्ध काव्यकृति उन सभी उपादानों को अपने भीतर खींचती और समेटती है जिसके सम्पर्क में वह आने के लिए बाध्य है। मुकारोव्स्की के शब्दों में काव्यकृति वह प्रतीक है जो समाज की

स्थिति और प्रकृति को संकेतित कर सकता है पर वह उसकी संघटना का यान्त्रिक बाई-प्रोडक्ट नहीं है। और यही कारण है कि रोमन याकोब्सन ने १९३३ में ही काव्यकृति और उसमें अन्तर्निहित 'काव्यात्मकता' के स्वायत्त और स्वनिष्ठ होने की बात उठायी थी न कि कला के अन्य व्यापार-क्षेत्रों से विलगाव की। याकोब्सन ने काव्यकृति को बहुआयामी और बहुस्तरी एकक माना जो अनेक उपकरणों का ऐसा संगुम्फन होता है जिसमें आन्तरिक अन्विति का काम काव्यात्मकता करती है।

शैलीविज्ञान, याकोब्सन के इस मत का हमेशा समर्थक रहा है कि भाषा और साहित्य के अध्येता को एक तरफ़ अपने क्षेत्र को परिभाषित करने की कोशिश करनी चाहिए, पर दूसरी तरफ़ अपनी दृष्टि की समग्रता को बिना खण्डित किये हुए विलगाव की प्रवृत्ति से बचते भी रहना चाहिए। पहली प्रवृत्ति 'भाषा/साहित्य' को स्वनिष्ठ और स्वायत्त बनाती है जबकि विलगाव की प्रवृत्ति खण्डीय यथार्थ (एटोमिज़्म) की ओर ले जाती है। काव्यकृति को स्वायत्त मानने का अर्थ है विश्लेषण और परीक्षण की आधारशिला तथा मूल केन्द्रक के रूप में स्वयं 'कृति' की स्वीकृति। अतः आलोचक के लिए यह जरूरी है कि वह पहले इसी आधार-बिन्दु से आगे बढ़े। पर दृष्टि की समग्रता की इस माँग को भी उसे नहीं भूलना चाहिए कि इस आधारबिन्दु से ऊपर उठकर उसे साहित्यिक और सांस्कृतिक समग्रता की पृष्ठभूमि में रखकर कृति को एक संश्लिष्ट घटक के रूप में भी देखना है। स्टैंकविक्ज़ के शब्दों में :

The analysis of literature must begin from the inside from the single text, which is its concrete datum, but must move outside towards totality of literature and of culture, by means of hypothesis and generalisation. Like linguistics, poetics must aim at delimiting its field of enquiry. Bewaring at the same time of atomism, while aiming at autonomy.

शैलीविज्ञान की दृष्टि भाषावादी और चिन्तन वस्तुवादी है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि भाषा को देखने और समझने की अपनी दृष्टि उसकी मान्यताओं को दूर तक प्रभावित करे। शैलीविज्ञान की एक धारा, भाषाविज्ञान के उस संरचनात्मक सिद्धांत से प्रभावित होकर उभरी जो 'लांग' (भाषाव्यवस्था) और 'पारोल' (भाषाव्यवहार) के प्रतियोग में भाषा को रखकर, 'लांग' के अध्ययन को ही भाषाविज्ञान का अपना क्षेत्र घोषित करती रही। इस दृष्टि के अनुसार एक ओर 'रूप' और 'संरचना' पर्यायवाची शब्द के रूप में मान्य हुए और दूसरी ओर 'लांग' और कुछ न होकर 'रूप' के स्तर पर भाषाई संकल्पना के समानान्तर प्रतिपादित हुआ। वस्तुतः भाषाविज्ञान की यह संरचनावादी दृष्टि 'कला, कला के लिए' की तरह का सिद्धान्त था जिसने 'लांग' को रूप कहा और 'उत्पादन/वस्तु' से मुक्त कर उसे निर्विशिष्ट संघटनाबद्ध इकाई के रूप में स्वीकार किया।

पर 'सस्यूर' की जिस समकालिक विश्लेषणात्मक पद्धति के आधार पर इस

धारा के विद्वानों ने अपने सिद्धान्त का निर्माण किया, उसने स्वयं भाषा के व्यापक सन्दर्भ को कभी नकारा नहीं। इस सन्दर्भ में उनकी निम्नांकित धारणाएं ध्यान देने योग्य हैं :

(१) अपनी माध्यम वस्तु से मुक्त होकर भी 'लांग' एक सामाजिक वस्तु है, अपनी प्रकृति में समरूपी (होमोजेनस) होने के बावजूद वह समूहगत सामाजिक अनुबन्धन (सोशल काण्ट्रैक्ट) है, व्यक्ति की अपनी सीमाओं से परे होकर भी (सुप्रा-इण्डिवीजुअल) व्यक्ति रूप है। वह व्यक्ति की उस क्षमता के साथ बँधा होता है जो सामाजिक संस्थान के एक सदस्य होने के नाते व्यक्ति को प्राप्त है और अपने अस्तित्व में स्वायत्त होने के उपरान्त भी वह जीवन्त और परिवर्तनशील है क्योंकि समाज के अन्य संस्थानों(इन्स्टीट्यूशन्स)के साथ सम्बद्ध होकर ही वह एक उच्चतर प्रतीकव्यवस्था का उपांग बनता है।

(२) मूल्यपरक व्यवस्था (सिस्टम ऑफ़ वेल्यूज़) होकर भी लांग प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र की वस्तुओं की तरह समाजनिरपेक्ष और मानवतटस्थ नहीं होता, क्योंकि उसके लिए 'घटना' या 'वस्तु' का आभ्यन्तर लक्षण/गुण का स्वयं में कोई महत्त्व नहीं होता। भाषा, समाज अनुबन्धित 'वस्तु' है अतः समाजविज्ञान के क्षेत्र की वस्तुओं की तरह इसमें पाये जानेवाले आभ्यन्तर गुणों (प्रभेदक लक्षण) का मूल आधार हमेशा सामाजिक सार्थकता (सोशल सिग्नीफ़िकेन्स) होता है।

(३) 'भाषाव्यवस्था' के रूप में 'लांग' और 'भाषाव्यवहार' के रूप में 'पारोल' एक-दूसरे का संदर्भ लेकर ही परिभाषित किये जा सकते हैं। भाषा तभी जीवित मानी जा सकती है जब ये द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (डाइएलेक्टिकल प्रोसेज़) की स्थिति में हों। अमूर्त भाषाव्यवस्था को ही व्यक्ति विविध रूपों में भाषाव्यवहार के द्वारा मूर्तिमान बनाता है और दूसरी ओर भाषाव्यवहार की विशिष्ट और मूर्तिमान घटनाओं को ही समाज अपनी सामूहिक चेतना में निर्विशिष्ट और साधारणीकृत भाषाव्यवहार के रूप में ग्रहण करता है। इसीलिए 'भाषाव्यवस्था' और 'भाषाव्यवहार' परस्पर सापेक्ष संकल्पनाएं हैं। यह ठीक है कि भाषाव्यवहार, बिना भाषाव्यवस्था के सम्भव नहीं क्योंकि नियमों की पूर्वस्थिति के बिना उनका व्यक्ति के आचरण में प्रतिफलन भी सम्भव नहीं। लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि व्यक्ति, भाषाव्यवस्था को भाषाव्यवहार की विविध घटनाओं के आधार पर ही आत्मसात करता है। किसी बच्चे को भाषाव्यवस्था सिखाने के बाद भाषाव्यवहार के लिए प्रेरित नहीं किया जाता। वह तो अपने चारों तरफ़ फैले भाषाई वातावरण के भीतर से 'भाषा' को स्वतः समझता और प्रयोग करता चलता है। इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि भाषाव्यवस्था एकसाथ भाषाव्यवहार के लिए अपेक्षित साधन (इन्स्ट्रूमेण्ट) भी है और सामाजिक चेतना के धरातल पर भाषाव्यवस्था के संचित कोश के रूप में उसका परिणाम भी। एकसाथ साधन और परिणाम होने के कारण 'भाषाव्यवस्था' को समझने के लिए भाषाव्यवहार का सन्दर्भ केवल अपेक्षित ही नहीं वरन आवश्यक और अपरिहार्य भी हो जाता है।

भाषा की तरह ही काव्यकृति प्रतीकों की एक ऐसी व्यवस्था है जो व्यक्ति की अपनी सीमाओं से परे होकर भी (सुप्रा-इण्डिवीजुअल) व्यक्ति की उस क्षमता के साथ बँधा होता है जो सामाजिक संस्थान का एक सदस्य होने नाते व्यक्ति को प्राप्त है। (अर्थात वह अन्तर-वैयक्तिक यथार्थ—इण्टर-सब्जेक्टिव रियलिटी है) और अपने अस्तित्व में स्वायत्त होने के उपरान्त भी वह जीवन्त और बहुआयामी है। भाषा अपनी मूल प्रकृति में जड़ और स्थिर नहीं होती। जीवन और जगत के साहचर्यसम्बन्धों के आधार पर उसकी गत्यात्मकता हमेशा बनी रहती है। यह सम्बन्ध टूटते ही वह 'मृत' हो जाती है। अर्जित सम्पत्ति के रूप में 'रूढ़' और जीवन-जगत के नित नूतन साहचर्यसम्बन्धों के 'तनाव' को वहन करने के कारण ही भाषिक प्रतीक स्पन्दित और जीवन्त बने रहते हैं। साहित्यकार, इस जीवन्त भाषा के गर्भ से 'काव्यप्रतीक' का सृजन करता है अतः स्वाभाविक है कि 'जीवन्तता' के लिए 'काव्यप्रतीक' में भावसाहचर्य की स्थिति अनिवार्यतः बनी रहे। फ़िलिप ह्वीलराइट के अनुसार तनावयुक्त प्रतीक अपनी जीवन्तता विभिन्न प्रकार के साहचर्यों से ग्रहण करता है। शैलीविज्ञान 'काव्यप्रतीक' को तनावपूर्ण और जीवन्त मानता है अतः वह उसमें निहित विभिन्न प्रकार के साहचर्यसम्बन्धों की उपेक्षा करने के पक्ष में नहीं। उसके अनुसार तो काव्यकृति एक सर्जनात्मक इकाई है जहां संसार भाषा में रूपान्तरबद्ध है और शाब्दिक उपकरण जहाँ यथार्थ को प्रतिबद्ध करने के साधन हैं।

यहाँ संक्षेप में इसपर भी विचार कर लेना ज़रूरी है कि वस्तुतः 'भाषा में रूपान्तरबद्ध संसार' की प्रकृति क्या है। सामान्यतः भाषा का हर प्रयोग अपनी सही व्याख्या अथवा अर्थनिष्पत्ति के लिए बाह्य सन्दर्भ की अपेक्षा रखता है अर्थात वाक्य के व्याकरणिक अर्थ के साथ-साथ उसका एक सन्दर्भगत अर्थ भी होता है। यह सन्दर्भगत अर्थ जानकारी की अपेक्षा रखता है कि कौन, किससे, किस विषय पर और कब बोल रहा है। काव्यकृति अपने में बहुत कुछ इस अर्थ में स्वायत्त होती है कि वह ऐसे बाह्य सन्दर्भगत सीमाओं से मुक्त होती है। पर यह मुक्ति उसके लिए एक सर्जनात्मक बन्धन के रूप में मिलती है। भाषिक प्रतीक के उपांग अपनी प्रकृति से दो स्तरों पर व्याख्यायित होने के लिए बाध्य हैं—संरचनात्मक और सन्दर्भगत स्तर। अतः जब साहित्यकार एक ओर अपनी काव्यकृति को स्वायत्त बनाते हुए उसे बाह्य सन्दर्भों से मुक्त करता है वहीं वह काव्यकृति के भीतर ही उन सन्दर्भों के सृजन के लिए अपने को बाध्य भी पाता है। यह कहा जा सकता है कि कवि एकसाथ काव्यकृति को सन्दर्भमुक्त करने और उसके भीतर सन्दर्भसृजन करने के लिए बाध्य है।

यह सन्दर्भसृजन की प्रक्रिया ही काव्यकृति के अपने संसार को जन्म देती है। अतः जब कभी संसार अथवा बाह्य जगत की बात उठायी जाती है—पहला सवाल उठता है काव्यकृति से बाहर का संसार या काव्यकृति के भीतर का संसार। काव्यकृति के बाहर का संसार अपने सन्दर्भों के आधार पर यह बतलाता है कि कौन-

से कवि ने, किस जातीय समाज के लिए, किस उद्देश्य से बाधित होकर कब काव्य-कृति की रचना की। पर काव्यकृति के भीतर का संसार उस जीवित सन्दर्भ को उपस्थित करता है जिसके भीतर रहकर उसके पात्र क्रियाकलाप करते हैं, अपनी परिस्थितियों से टकराकर अपने व्यक्तित्व का उद्‌घाटन या विकास करते हैं और समय की धारा को व्याख्यायित करते हुए जीवन को एक ऐसे स्थान-काल के साथ बाँधते हैं जो स्थान और समय से एक ओर बँधा होने के कारण ठोस भी होता है और उससे मुक्त होकर समय और स्थान की सीमा का अतिक्रमण भी करता है। यही कारण है कि विभिन्न कालों और विभिन्न स्थानों पर निर्मित काव्यवस्तु, काल और स्थान की सीमाओं को तोड़कर पढ़ी और समझी जाती है। यह काव्य-कृति के भीतर का ही सन्दर्भ है जो आज भी अन्तर्निहित संसार को रूपायित करता है।

काव्यकृति के भीतर का संसार उसके बाह्य संसार से संसर्गगत व्याख्या के आधार पर जुड़ा रहता है क्योंकि जिस भाषा के सहारे अन्तर्भुक्त संसार का कवि सृजन करता है और जिन परिस्थितियों एवं घटनाओं के सहारे उसमें वह रंग भरता है, वे अपनी सत्ता में अन्तर्वैयक्तिक स्तर पर सामाजिक होती हैं। संसर्गगत उपादान, संदर्भगत व्याख्या के साधन हैं। आभ्यन्तर और बाह्य आलोचना का एक विशिष्ट अन्तर संसर्गगत और सन्दर्भगत व्याख्या के लक्ष्य-साधन सम्बन्धों की प्रकृति का रहता है। बाह्य आलोचना अपनी बाह्य (साहित्येतर) आवश्यकता की पूर्ति के लिए जहाँ सन्दर्भगत व्याख्या को संसर्गगत व्याख्या का साधन बनाते हुए 'काव्यकृति' के बाहर के संसार को नियमित या दिशासंकेत देने की ओर उन्मुख होती है वहाँ आभ्यन्तर आलोचना काव्यकृति में अन्तर्भुक्त संसार को पहचानने के लिए सन्दर्भगत व्याख्या को अपने केन्द्र में रहती है और इस 'संदर्भ' को ठीक से पकड़ पाने के लिए वह संसर्गगत अनुभवजगत का उपयोग करती है।

इस अन्तर को हम काव्यकृति में प्रयुक्त सर्वनाम के प्रयोग द्वारा समझ सकते हैं। सर्वनाम के सभी प्रयोग—मैं, तुम, वह; यहाँ, वहाँ; यह, वह; अब, तब, कब आदि जिन शब्दों को अपना आधार बनाते हैं वे अपनी प्रकृति में 'प्रकार्य' को सूचित करते हैं न कि कोशीय 'अर्थ' को। इसीलिए सर्वनाम को प्रकार्यात्मक शब्द या व्याकरणिक शब्द कहा जाता है। ये व्याकरणिक शब्द अपना 'संकेतार्थ' तभी ग्रहण कर पाते हैं जबकि उसके लिए सन्दर्भ, अपेक्षित सूचनाएँ हमें प्राप्त कराता है। 'मैं' और 'तुम' सम्बोधन करनेवाले (वक्ता) और सम्बोधित किये जानेवाले (श्रोता) के लिए प्रयुक्त होता है जो सन्दर्भरहित होने पर 'कोई' भी हो सकता है। यह 'कोई' कौन (पात्र) है, इसकी जानकारी सन्दर्भ के अभाव में नहीं मिल सकती। सवाल तो यह है कि काव्यकृति में प्रयुक्त इन सभी सर्वनाम प्रयोगों को संकेतार्थ से जोड़ने वाला सन्दर्भ कौन-सा है—काव्यकृति के भीतर का संसार या उससे बाहर का संसार? इसमें दो मत नहीं हो सकते कि वस्तुतः यह काव्य-

कृति में अन्तर्भुक्त संसार ही है जो इन प्रकार्यात्मक शब्दों को संकेतार्थयुक्त करता है। यहाँ तक कि गीतात्मक रचनाओं में प्रयुक्त 'मैं' भी कविव्यक्ति का सूचक न होकर 'काव्यव्यक्तित्व' का संवाहक होता है। नाटक, कहानी, उपन्यास आदि विधाओं में तो ये प्रयोग अपनी सार्थकता ही काव्य में वर्णित स्थिति, घटनाएं एवं पात्रों के सन्दर्भ में पाते हैं।

शैलीविज्ञान के लिए यह कहा जा सकता है कि वह काव्यकृति के भीतर के संसार को अपने अध्ययन-विश्लेषण की सामग्री मानता है और उसको सही सन्दर्भ में देखने-परखने के लिए संसर्गगत व्याख्या को अपना उपकरण बनाता है।

संसर्गगत काव्यसंसार

शैलीविज्ञान, काव्यकृति को एक ऐसी सर्जनात्मक पर स्वायत्त प्रतीकबद्ध इकाई के रूप में स्वीकार करता है जहाँ संसार, भाषा में रूपान्तरबद्ध होने के लिए विवश है। हमारे यहाँ प्राचीन आचार्यों ने शब्द (भाषा) को ज्योतिरूप माना है।[1] भाषा की इस ज्योति में ही यह जगत प्रकाशमान है। प्रकाशमान जगत हमारे लिए इसीलिए बोधव्य है क्योंकि भाषा में ज्ञानके अणु हैं। भाषा ज्योतिरूप होने के साथ ही साथ ज्ञानरूप भी है।[2] हमारी मानसिक प्रक्रिया से गुजरने पर शब्द प्राणवायु से प्रेरित होकर विभिन्न रूप धारण करते हैं जिसके फलस्वरूप वे स्थूल बुद्धि द्वारा सर्वसामान्य को ग्राह्य हो जाते हैं।[3] यदि भाषा की यह ज्योति न होती तो जैसा दण्डी ने कहा है, यह संसार भी अन्धकारपूर्ण रहता।[4] ऋग्वेद के दशम मण्डल के वाक्-सूक्त में कहे गये वाग्देवी के इस कथन की सार्थकता स्वतः स्पष्ट है—"मैं ही सृष्टि की उत्पत्ति का कारण बन वायु के समान विचरण करती हूँ।" कवि भी वाग्देवी की तरह विविध रूपों में सृष्टि करता है। जिस प्रकार इस संसार—'देवस्य काव्यम्'—का ग्रहण भाषा के आलोक में सम्भव है उसी प्रकार कविरचित संसार भी शब्दरूप में ही अपना अस्तित्व पाता है।

कविरचित शब्दरूप संसार अपनी प्रकृति में सजीव, गत्यात्मक और बहुआयामी होता है क्योंकि उसका सृजन जीवन्त भाषा के गर्भ से होता है। भाषा में रूपान्तरबद्ध काव्यसंसार की ज्योति से न केवल बाह्य संसार प्रकाशमान होता है वरन् जीवनानुभव के रंग से रंजित और संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित कवि का अन्तर्जगत भी स्पष्ट होने लगता है। शैलीविज्ञान यह मानता है कि भाषा ही वह वस्तु है जिसमें रूपायित होकर बाहर का स्थूल जगत, समाज का संचित अनुभवकोश और साहित्यकार का संवेदनात्मक मन काव्यकृति के अन्तर्जगत के रूप में अपना सार्थक अस्तित्व ढूँढ़ते हैं। दूसरी दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि काव्यकृति के भीतर का सार्थक संसार अपने बाह्य संसार के साथ भाषा के माध्यम से ही जुड़ पाता है क्योंकि भाषा ही शब्दसंवेदना और साहचर्य सम्बन्धों के आधार पर काव्यसंसार को ठोस और जीवन्त अभिव्यक्ति रूप देती है। शैलीविज्ञान, भाषा के रास्ते पर चलकर काव्यकृति के प्रकाशमान अन्तर्जगत में प्रवेश करने की विधि का आलोचनाशास्त्र है। इस बात को सही ढंग से न समझ पाने के कारण शैलीविज्ञान के विरोधी आलोचक प्रायः यह कहते पाये जाते हैं कि

१. भर्तृहरि, वा० प० १-१२; २. वही, १-१२३; ३. वही, १-१; ४. काव्यादर्श, १

"उसका सही अर्थ और क्षेत्र-विस्तार यही है कि वह (भाषाविज्ञान के नियमों तथा प्रविधि के अनुसार) साहित्य के भाषिक विधान का रूपात्मक अध्ययन है।" ऐसे विद्वानों के अनुसार यह भी तर्क दिया जाता है कि शब्द-अर्थ तो मात्र 'काव्य शरीर' है पर काव्यात्मा 'भाषातीत' होती है, इसलिए "इस भाषातीत जीवन का अवगाहन शैलीवैज्ञानिक (भाषिक) विश्लेषणमात्र से सम्भव नहीं।" साहित्य को समाजसापेक्ष मानने वाले आलोचकों का भी एक ऐसा वर्ग है जिसके अनुसार शैलीविज्ञान, भाववादी-रूपवादी चिन्तन का एक ऐसा परिणाम है जिसका सिद्धान्त 'बुर्जुआ व्यवस्था का पोषक और संरक्षक' है। इसीलिए शैलीवैज्ञानिक "मानव-निर्मित उन संरचनाओं की बात नहीं करते जिनमें मानव व्यवहार और इतिहास का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध प्रकट होता है।" इस दृष्टि से शैलीविज्ञान की रूपवादी धारा डिल्थे के 'रूप', स्पेंगलर के 'जीवन रूप', हर्सल के 'तात्त्विक रूप', मेक्स शिलर के 'भावात्मक रूप' और कैसिरर के 'प्रतीकात्मक रूप' का ही आधुनिक विकास है और यह धारा रूप की एक ऐसी दुनिया बनाने के पक्ष में है जो न केवल मानव जीवन की वास्तविकता से कटी होती है बल्कि काव्य-संसार की अपनी विशिष्टताओं से भी मुक्त है।

शैलीविज्ञान को लेकर फैली ऐसी भ्रान्तिपरक धारणाओं के कारण पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके विरोधी आलोचक या तो भाषा को एक ओर बहुत सीमित अर्थ में लेते हैं और दूसरी ओर काव्यार्थ को 'भाषातीत' और 'अतीन्द्रिय' कहकर आलोचना को रहस्यवादी उक्तियों में घेरने का प्रयत्न करते हैं या फिर भाषा को प्रतीकसिद्ध सार्थक व्यवस्था के रूप में न देख पाने के कारण एक ओर बाह्य (भौतिक) जगत, आत्मकृत (भाव) जगत तथा प्रतीकसिद्ध (भाषिक) जगत के आपसी सम्बन्ध और दूसरी ओर भाषा में रूपान्तरबद्ध व्यावहारिक संसार और संवेगात्मक उद्देश्यों से परिचालित कलासिद्ध (काव्य) संसार के बीच के गत्यात्मक सम्बन्ध को पकड़ नहीं पाते। इसके पहले कि कलासिद्ध काव्य-संसार की प्रकृति और बाह्य अथवा आत्मकृत संसार के साथ उसके सम्बन्ध की चर्चा उठायी जाये, यह आवश्यक है कि आलोचकों की इन दो सीमाओं पर संक्षेप में विचार कर लें।

अगर हम यह मान भी लें कि काव्य, साहित्यके उस आत्मकृत भावसंसार का प्रतिनिधित्व करता है जो 'भाषातीत' या 'अतीन्द्रिय' है तब भी यह प्रश्न तो उठता है कि 'भाषातीत अतीन्द्रिय' भाव संसार को सम्प्रेष्य वह कैसे बनाता है। इससे तो कोई भी काव्य सिद्धान्त इनकार नहीं करता कि काव्यकृति, कलाकार (की अनुभूति) और व्युत्पन्न पाठक (की संवेदना) के बीच की वह कड़ी है जिसके सहारे साहित्यकार और पाठक सह-सम्बद्ध होते हैं। साहित्यकार और पाठक के सह-सम्बद्ध होने की स्थिति इस बात का प्रमाण है कि साहित्यकार की भावसंवेदना, सम्प्रेष्य है। काव्यकृति की पहली सिद्धि इसमें निहित होती है कि साहित्यकार की भाषातीत अतीन्द्रिय अनुभूति को वह सम्प्रेष-

णीय बनाती है। सम्प्रेषणीय बनने का अर्थ है उसका बोधव्य होना। व्यक्ति के निजी अनुभव के धरातल पर अनुभूति भले ही तरल और अतीन्द्रिय क्यों न हो पर काव्य धरातल पर उसे बोधात्मक होना ही पड़ता है। काव्यानुभूति वस्तुतः संवेदनात्मक अनुभूति मात्र नहीं होती वरन् वह बोधात्मक संवेदन होती है। शैलीविज्ञान यह मानता है कि कला के धरातल पर काव्यकृति बोधात्मक संवेदन (कोग्नीटिव एक्सपेरिएन्स) है और इसीलिए वह संप्रषणीय है। इसके साथ वह यह भी मानता है कि तरल संवेदना को बोधात्मक प्रकृति में ढलने का रास्ता साहित्य के सन्दर्भ में भाषा का रास्ता है।

किसी वस्तु की बोधात्मक या ज्ञानात्मक प्रतीति उसके भाव की प्रकाशक भी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ज्ञानात्मक बोध को सम्प्रेष्य अनुभूति का आधार मानते थे। उनके अनुसार, "ज्ञान ही काव्य के संचरण के लिए रास्ता खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही हृदय-प्रसार होता है और हृदय-प्रसार ही काव्य का सच्चा लक्ष्य है। अतः ज्ञान के साथ लगकर ही जब हमारा हृदय परिचालित होगा तभी काव्य की नयी-नयी मार्मिक अर्थभूमियों की ओर वह बढ़ेगा।" बोधात्मकसंवेदन, संवेदना की नकारात्मक स्थिति नहीं। उसका अर्थ तो केवल यह है कि संवेदना का आधार 'आत्मा' नहीं वरन (ज्ञानात्मक) बोध है। काव्यसंवेदना के संचरण का रास्ता उसकी बोधात्मक प्रतीति का रास्ता है। किसी कृति में अन्तःस्थ काव्य-संवेदना को पढ़ना-पढ़ाना इसीलिए सम्भव है कि वह भाषा में आबद्ध होकर बोधव्य हो जाती है। जो वस्तु बोधव्य नहीं उसका सम्प्रेषण कैसा ? और जिसका सम्प्रेषण सम्भव नहीं, उसका समझना-समझाना कैसा ?

अनुभूति और अनुभूति की बोधात्मक प्रतीति के सम्बन्धों के सन्दर्भ में कई स्थितियां देखी जा सकती हैं। सोवियत संघ जाने के समय मुझे रूसी भाषा कुछ भी नहीं आती थी। एक-दो महीने में थोड़ी-बहुत सीखी। उस समय मेरे एक रूसी मित्र ने एक काव्यपाठ आयोजन में चलने का न केवल प्रस्ताव रक्खा बल्कि उसके लिए टिकट भी खरीद दिया। प्रसिद्ध कवि पुश्किन की नयी कविताओं का नाट-कीय अन्दाज़ में सस्वर पाठ सुनने का अवसर मिला। इसमें सन्देह नहीं कि वह सन्ध्या अब भी एक अमूल्य अनुभव के रूप में स्मृतिबद्ध है। काव्यानुभूति कितनी हुई—कहा नहीं जा सकता, क्योंकि एक-आध परिचित शब्दों को छोड़कर अधि-कांश मेरे लिए निर्बोध थे। पर नाद-सौष्ठव की विशिष्टता और मंच पर मुखर करने की भावभंगिमा निश्चय ही हृदय को प्रभावित करती रही। पर काव्यकृति की वर्णविशिष्टता, संगीत का आभास भले दे, और व्यक्त करने की भंगिमा नाटकीय तत्त्वों को भले उजागर करती हो, पर शब्दार्थ के अभाव में ऐसी स्थिति में काव्यानुभूति की बोधात्मक प्रतीति भी हुई क्या ?

एक दूसरी स्थिति लें। मेरे रिश्ते की एक वृद्ध महिला हैं जो अधिक पढ़ी-लिखी नहीं पर रोज़ 'मानस' और 'सूरसागर' का सस्वर पाठ करती हैं। पाठ करते समय वे ऐसी भावविह्वल हो उठती हैं कि लगता है—काव्यानुभूति के हिंडोले पर झूल रही

हैं। काव्यानुभूति का आत्मपर्यवसान अपनी चरम स्थिति में देखने को मिलता है। पर एक दिन मेरे बच्चे ने 'सूरसागर' के एक पद का अर्थ पूछ लिया। जो अर्थ उन्होंने समझाया, वह किसी भी दृष्टि से संगत न था। बच्चे को न सन्तुष्ट होना था और न वह हुआ। पर सही अर्थ बताने के बाद भी वे उसे मानने से इनकार करती रहीं। यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि किसी काव्यकृति को लेकर उठने वाली हर भावात्मक प्रतिक्रिया क्या उसकी संवेदनात्मक अनुभूति ही होती है ?

एक और स्थिति पर ध्यान दें। सूर या तुलसी के एक ही पद या चौपाई तीसरी-चौथी कक्षा की पाठ्यपुस्तक में भी संकलित मिलती है और वही स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं में भी संकलित मिलती है। पढ़ाने के समय दोनों ही स्तर पर काव्यानुभूति के रसास्वादन पर आग्रह किया जाता है। क्या दोनों स्तरों पर छात्र की काव्यानुभूति एक जैसी रहती है ? क्या काव्यानुभूति और काव्या-नुभूति में अन्तर नहीं होता ? और अगर तीसरे-चौथे दर्जों में पढ़नेवाले छात्र की काव्यानुभूति और स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं के छात्र की काव्यानुभूति में अन्तर रहता है तो उस अन्तर का कारण क्या है ? क्या इस अन्तर के मूल में छात्रों के अनुभव जगत और ज्ञान प्रसार का वह भेद नहीं जो काव्यकृति की बोधात्मक प्रतीतियों के स्तर-भेद को निर्धारित करता है।

ऊपर दी गयी तीन-चार परिस्थितियाँ यह साफ़ जाहिर करती हैं कि काव्य-प्रक्रिया के व्यापक सन्दर्भ में काव्यानुभूति हमेशा एक जैसी नहीं रहती और न आलोचनाशास्त्र में जिस काव्य संवेदना या अनुभूति की बात की जाती है कवि के हृदयजगत, कविता के अन्तर्जगत और पाठक के भावजगत में एक जैसी रहती है। सच तो यह है कि आलोचनाशास्त्र में काव्यानुभूति को एक गोलमाल ढंग से ही पेश किया जाता रहा है। कभी उसे कविसन्दर्भित कर कविमन की संवेदना के पर्याय के रूप में देखा गया और कभी पाठक की रसात्मक अनुभूति के रूप में परिभाषित किया गया। बहुत हुआ तो सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में कृति में व्यक्त विचार-अनुभव को काव्यानुभूति का दर्जा दे दिया गया। शैलीविज्ञान काव्यानुभूति और आत्मानुभूति में अन्तर करते हुए यह स्पष्ट करना चाहता है कि आत्मानुभूति चाहे वह कवि की हो अथवा सहृदय की, वह वैयक्तिक अथवा निजी होती है, वह आत्मपरक होकर अतीन्द्रिय और भाषातीत भी हो सकती है। पर काव्यानुभूति केवल बोधव्य ही नहीं होती, अपितु निर्वैयक्तिक भी होती है; वह 'विशिष्ट' के रूप में प्रतिफलित हो सकती है पर उसके भीतर जिन गुण-धर्मों की प्रतिष्ठा रहती है वे अपनी प्रकृति में सामान्य होते हैं। काव्यानुभूति की निर्वै-यक्तिक एवं बोधव्य प्रकृति ही साधारणीकरण को सम्भव बनाती है। साधा-रणीकरण में "व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा-बहुत होता है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्यकार के भावजगत का संवेदनात्मक पुञ्ज,

काव्यानुभूति में तभी रूपान्तरित हो जाता है जब वह भाषा में बँधकर बोधात्मक संवेदना बनाता है। नयी समीक्षा के एक प्रमुख आलोचक विवस ने काव्यवस्तु के रूप में ग्रहीत काव्यानुभूति की तीन निश्चित अवस्थाओं की ओर संकेत किया है। उसके अनुसार पहली अवस्था संवेदना के भाषाबद्ध होने के पहले की अवस्था होती है। यहाँ वैयक्तिक संवेदना तरलावस्था में रहती है और सांस्कृतिक चेतना वातावरण में अनगूँज पुकार की तरह फैली रहती है। "वातावरण में घुली-मिली ये संवेदनाएँ अव्यवस्थित और अनिर्धारित रूप में इस प्रकार फैली-बिखरी रहती हैं कि उस वातावरण में जीने वाले संवेदनशील कवि को अनुभूति के धरातल पर स्पर्श तो कर जाती है पर उसकी चेतना में बँध नहीं पाती।" काव्यवस्तु प्रक्रिया के पहले चरण में काव्यानुभूति आत्मपरक और वैयक्तिक होने के साथ-साथ भाषातीत और अतीन्द्रिय भी रहती है। इस स्थिति में कलाकार संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित होकर अपने सजीव अनुभवों को कल्पना के सहारे न केवल उद्दीप्त करने का प्रयत्न करता है वरन उनको भाषेतर प्रतीक बिम्बों के सहारे मूर्त करने का प्रयत्न भी करता है। काव्यावस्तु-प्रक्रिया के इस चरण को विवस ने उसकी **आधानावस्था** (स्टेज ऑफ़ सबसिस्टेन्स) कहा है। इसे काव्यवस्तु की स्थूल सामग्री (रा मैटेरियल) भी कहा जा सकता है। काव्यवस्तु की दूसरी अवस्था वह होती है जब कवि, वैयक्तिक संवेदना और सांस्कृतिक चेतना को पकड़ने के प्रयास में भाषा के पास आता है और अनुभूति की अनगूँज पुकार को अन्तर्वैयक्तिक बनाकर बोधव्य बनाता है। इस चरण में वह भावसंवेदनाओं को शब्दसंवेदना में रूपान्तरित करता है। भाषा में बँधने की सृजनात्मक प्रक्रिया में संवेदनाएँ न केवल सम्प्रेषणीय बनती हैं वरन अपनी आन्तरिक प्रकृति का उद्घाटन भी करती हैं। काव्यवस्तु-प्रक्रिया के इस दूसरे चरण को उसकी **अवधारणावस्था** (स्टेज ऑफ़ इनसिस्टेन्स) कहा गया है। **अवग्रहणावस्था** (स्टेज ऑफ़ एक्जीस्टेन्स) में काव्यवस्तु या तो सहृदय के भावजगत में प्रतिमूर्तित होकर फिर एक बार वैयक्तिक और आत्मपरक बन जाती है अथवा उसमें निरूपित मूल्यों की सामाजिक स्वीकृति मिल जाने पर एक स्वतन्त्र शक्ति का रूप धारण कर दूसरे ज्ञानक्षेत्रों को भी प्रभावित करने लगती है।

काव्यवस्तु प्रक्रिया के पहले दो चरणों का विस्तार से विवेचन मुक्तिबोध ने भी अपने लेख—'काव्य की रचना-प्रक्रिया' में किया है। उसके अनुसार कला का प्रथम क्षण 'संवेदनात्मक उद्देश्यों' का क्षण होता है "या कहिये सौन्दर्य प्रतीति का क्षण है। यह क्षण सामान्य जन को भी प्राप्त होता रहता है।" उनके अनुसार यही कारण है कि साहित्य रचा और समझा जाता है। कला का द्वितीय क्षण तब उपस्थित होता है "जब लेखक में शब्द संवेदनाएँ जाग्रत होकर, (वह) विषयतत्त्वों को व्यक्त करने लगता है।···शब्द संवेदनाओं को प्राप्त करते हुए लेखक जाने-अनजाने अपनी मूल भावसम्पत्ति और मनोधारा में भी परिवर्तन करता रहता है। शब्द संवेदनाएँ नवीन एसोसिएशन्स को जाग्रत कर देती हैं। फलतः वह मूल

मनोधारा यदि इस प्रकार से इन एसोसिएशन्स को प्राप्त करके समृद्ध हो जाती है तो दूसरी ओर उसका—उस मनोधारा का स्वयं का मूल रूप बहुत कुछ बदलता जाता है। यह महत्त्व की बात है। प्रारम्भिक स्फूर्ति ने जो तत्त्वविधान और रूप-विन्यास किया था वह परिवर्तित होता रहता है।" काव्यवस्तु की अवधारणावस्था में न केवल मूल भावसम्पत्ति और मनोधारा में परिवर्तन होता है वरन मूल भावसम्पत्ति और मनोधारा की आन्तरिक प्रकृति का उद्घाटन भी होता है। कवि आलोचक मुक्तिबोध के ही शब्दों में, "असल में, शब्दाभिव्यक्ति के समय लेखक मनोधारा के अन्तर में और भी अधिक प्रवेश करता है। उसके लिए वह अधिकाधिक तत्त्वसाक्षात्कार का और आत्मसाक्षात्कार का काल है।"

काव्यवस्तु की इन तीन अवस्थाओं—आधानावस्था, अवधारणावस्था और अवग्रहणावस्था अथवा अनुभूति के सन्दर्भ में उसके तीन भिन्न सोपानों—कविसापेक्ष संवेगात्मक अनुभूति, काव्यसापेक्ष भावात्मक (बोधात्मक) अनुभूति और पाठकसापेक्ष रसात्मक अनुभूति—में शैलीविज्ञान न केवल भेद करता है वरन् वह यह भी मानता है कि आलोचना का मुख्य क्षेत्र काव्यवस्तु की अवधारणावस्था है और उसका प्रमुख दायित्व काव्यसापेक्ष भावात्मक अनुभूति का उद्घाटन और विवेचन है। काव्यसंसार और बाह्य संसार का अन्तर सामने रखते हुए उसका यह भी कथन है कि आधानावस्था की कविसापेक्ष संवेगात्मक अनुभूति और अवग्रहणावस्था की पाठकसापेक्ष रसात्मक अनुभूति काव्येतर है—वे काव्य के 'जनक' और काव्य के 'फल' हो सकती हैं पर स्वयं काव्य की अपनी वस्तु नहीं। काव्यसंसार की अपनी वस्तु तो वह भावात्मक अनुभूति है जिसकी प्रकृति भाषाबद्ध होने के कारण बोधात्मक होती है। शैलीविज्ञान यह भी मानता है कि भावात्मक अनुभूति को पकड़ने-समझने का रास्ता न तो कविसापेक्ष संवेदनात्मक अनुभूति का हो सकता है (क्योंकि जब शब्द-संवेदनाएँ जाग्रत होकर विषयवस्तु को व्यक्त करने लगती हैं तब लेखक की मूल संवेदना बहुत कुछ बदल भी जाती है और इस प्रकार कवि की प्रारम्भिक स्फूर्ति पर आग्रह करने वाली आलोचक अभिप्रेत हेत्वाभास का शिकार हो सकता है (और न ही वह रास्ता पाठकसापेक्ष रसात्मक अनुभूति का ही हो सकता है क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति में संस्कारगत भिन्नता होने के कारण भाव का विभिन्न स्तरों एवं रूपों में पर्यवसान सम्भव है और इस प्रकार पाठक के अनुभाव पर आग्रह रखकर की गयी आलोचना अनुभाव हेत्वाभास (एफ़ेक्टिव फ़ैलेसी) का शिकार बन सकती है।) भावात्मकअनुभूति को समझने-अनुभव करने के लिए पहले हमें काव्यसंसार में प्रवेश करना होगा, और चूँकि काव्यसंसार एक दृष्टि से 'भाषा में रूपान्तरबद्ध संसार' ही है इसलिए उसमें प्रवेश करने का रास्ता भी भाषा का ही रास्ता है।

: २ :

साहित्य के सामाजिक आयाम में रुचि रखने वाले आलोचक शैलीविज्ञान की आलोचना इसलिए करते पाये जाते हैं क्योंकि वह साहित्यिक कृति को काव्य-

संसार की एक घटना मानता है। ये आलोचक साहित्य की सामाजिक प्रकृति को केन्द्र में रखकर साहित्य अथवा कृति की सामाजिक उपादेयता-सम्बन्धी मान्यताओं पर बहस जारी रखने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार, साहित्य को उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि में देखना ही सच्ची आलोचना है क्योंकि मॉल्कम ब्रेडबरी के शब्दों में, "जिस संश्लिष्ट ढंग से साहित्य समाज में रहता है, समाज का अंग होता है, उस सम्बन्ध में हम जागरूक हुए बिना नहीं रह सकते। प्रचलित विचारों एवं अभिवृत्तियों, प्रचलित संस्थाओं एवं सामाजिक संगठनों, समसामयिक जीवन के आम अहसास और उसकी बुनावट से साहित्य का एक संश्लिष्ट सम्बन्ध होता है। इसका रूपनिर्धारण उन प्रचलित स्थितियों द्वारा भी होता है जो लिखने वालों, पढ़ने वालों, लेखकों और उनके ही जैसों के बीच सम्बन्ध भावना का निर्माण करती है।" वस्तुतः साहित्यालोचन की यह सामाजिक दृष्टि उपयोगवादी मान्यता को प्रश्रय देती है। रेमंड विलियम का तो यहाँ तक कहना है कि "समकालीन लगभग सभी आलोचनात्मक सिद्धान्त उपयोग के सिद्धान्त हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन सिद्धान्तों का उद्देश्य है किसी कलावस्तु को इस रूप में समझना कि उसका लाभप्रद या सही उपयोग हो सके।" साहित्य का उपयोगवादी आलोचना सिद्धान्त साहित्य और समाज के संश्लिष्ट सम्बन्धों की छानबीन के स्थान पर इसकी सामाजिक उपयोगिता पर बल देने के पक्ष में रहा है। वह कृतिविशेष को किसी सामाजिक विचारधारा के पोषक तत्त्व, सामाजिक स्थितिविशेष के प्रामाणिक दस्तावेज और आत्मचरित्र वैयक्तिक चेतना के प्रकाशक वक्तव्य के रूप में मानने के पक्ष में रहा है। शैलीविज्ञान आलोचना के सन्दर्भ में ऐसे उपादानों को साहित्येतर मानता है।

साहित्य और समाज के संश्लिष्ट अस्तित्व को समझने के दो निश्चित आयाम हैं। पहला, समाज में साहित्य के अस्तित्वबोध से सम्बद्ध है और दूसरा साहित्य में समाज की सत्ता से। 'समाज में साहित्य' और 'साहित्य में समाज'—निश्चित ही ये दोनों साहित्य और समाज के संलिष्ट अस्तित्व को समझने-परखने के दो भिन्न सन्दर्भों की ओर संकेत देते हैं।" समाज में साहित्य वाला सन्दर्भ किसी कृति को एक सामाजिक घटना मानने के कारण उसके उपयोग या उपयोग की स्थूल चर्चा उठा सकता है, समाज को बदलने के लिए उसे एक प्रभावशाली अस्त्र के रूप में अपना सकता है, किसी सामाजिक अथवा राजनैतिक विचारधारा के पक्ष अथवा विपक्ष के साक्ष्य के रूप में उसे पेश कर सकता है। इसके विपरीत 'साहित्य में समाज' वाला सन्दर्भ, कृति को कलाक्षेत्र की घटना मानने के कारण उसमें वर्णित समाज को काव्यवस्तु के उपांग के रूप में ग्रहण करता है। वह यह मानता है कि काव्येतर बाह्य संसार और भाषा में रूपान्तरबद्ध काव्यसंसार दोनों ही संसार हैं, पर उनके अस्तित्व के धरातल दो हैं और इसीलिए उनमें गुणात्मक भेद हैं। इसभेद को समझना ही वस्तुतः साहित्य की सर्जनात्मक शक्ति को समझना है।

शैलीविज्ञान जब किसी कृति को काव्यसंसार की एक घटना के रूप में मानने

की ओर प्रवृत्त होता है तब वह यह भी स्वीकार करता है कि काव्यसंसार का एक व्यापक सन्दर्भ है जो अन्ततोगत्वा अपने अस्तित्व में 'संस्थागत' है। साहित्य के इस संस्थागत अस्तित्व की ओर हेनरी लेविन जैसे साहित्यकार ने भी संकेत दिया है। उनके शब्दों में, "अन्य संस्थाओं, जैसे चर्च या कानून के समान ही साहित्य भी मानव अनुभव की एक अद्वितीय अवस्था को अपने भीतर सँजोये हुए है और यह दृष्टान्तों एवं युक्तियों के एक विशेष निकाय को नियन्त्रित करता है। एक के बाद एक युग को प्रतिभावित करते हुए यह एक आत्मस्थायित्वकारी विद्या की ओर उन्मुख है। यह व्यापक रूप से जीवन के सभी आवेगों की पहुँच के भीतर है, लेकिन यह उनको अपनी ही शब्दावली में अनूदित करके रखता है और उन्हें अपने विशेष आकारों में रूपान्तरित करके ग्रहण करता है।" साहित्य का संस्थागत अस्तित्व आत्मस्थायित्वकारी है और वह निश्चय ही 'अपनी ही शब्दावली' और 'अपने विशेष आकारों' में मानवीय आवेगों को ग्रहण करता है : अर्थात् साहित्य की अपनी परम्परा है, उसकी अपनी व्यवस्था है, अपनी व्यवहार सरणि है, अपनी आचारसंहिता है। साहित्य की संस्थागत प्रकृति ही काव्यरूढ़ियों, और परम्परित काव्यविधानों को एक ओर प्रश्रय देती है, दूसरी ओर उनको तोड़कर उन्हींके भीतर अर्थवत्ता भरने का प्रयत्न करती है।

यह संकेत पहले दिया जा चुका है कि भाषा में रूपान्तरबद्ध काव्यसंसार, बाह्य संसार के साथ संसर्गगत व्याख्या के आधार पर जुड़ा रहता है। इस बात को उचित ढंग से समझने के लिए पहले बाह्य जगत के उपादान और प्रतीकवत सिद्ध भाषिक इकाइयों के अन्तस्सम्बन्ध को समझना आवश्यक है। बाह्य (भौतिक) जगत और प्रतीकसिद्ध (भाषिक) जगत में सीधा सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए जब हम 'कमल', 'रोटी', 'घर' आदि शब्द का प्रतीकवत व्यवहार करते हैं, तब प्रतीक होने के कारण वे अपने से बाहर किसी अन्य वस्तु की ओर इंगित करते हैं। यह अन्य वस्तु, भौतिक विशिष्ट उपादान न होकर उस भौतिक उपादान की जातीय संकल्पना या प्रत्यय होता है। 'कमल' शब्द के भीतर सफेद, लाल, नीले अथवा प्रस्फुटित और सम्पुटित सभी तरह के कमल दृष्टान्तरूप में समाहित रहते हैं क्योंकि यह शब्द कमल दृष्टान्तों से उद्भूत उसके जातीय (मानसिक) प्रत्यय से पहले जुड़ा होता है। अगर व्यक्ति भाषिक प्रतीकों के सहारे भौतिक जगत के उपादानों की ओर इंगित भी करता है तो उसे पहले आत्मकृत (भाव) संसार के रास्ते से गुजरना पड़ता है। भाषिक प्रतीक कथ्य और अभिव्यक्ति के एकीकरण का परिणाम होता है, यह सही है पर इसके साथ यह भी सही है कि भाषिक कथ्य का संसार पहले आत्मकृत (भाव) संसार है। आग्डेन और रिचर्ड द्वारा प्रस्तावित त्रिभुज के रूप में यह कहा जा सकता है कि उसके तीन कोणों पर तीन संसार स्थित हैं—बाह्य (भौतिक) जगत, आत्मकृत (भाव) जगत और प्रतीकसिद्ध (भाषिक) जगत। पर जहाँ कि बाह्य जगत और आत्मकृत जगत तथा आत्मकृत और प्रतीकसिद्ध जगत में सीधा और सहज सम्बन्ध है वहाँ भौतिक

जगत और भाषिक जगत के बीच का सम्बन्ध आरोपित है। कहने का तात्पर्य यह है कि अगर भौतिक जगत को भाषिक जगत में रूपान्तरित होना है, अथवा भाषिक जगत की प्रतीकसिद्ध इकाइयों को अगर भौतिक जगत के उपादानों की ओर संकेत देना है, तो उन्हें पहले हर सूरत में प्रत्ययों के भावसंसार से होकर गुजरना पड़ेगा। उन्हें पहले आत्मकृत भाव-संसार का उपादन बनाना पड़ेगा। यही कारण है कि कालिदासरचित 'कुमारसम्भव' के आरम्भ में जिस 'हिमालय' का वर्णन है वह पहले भौतिक जगत का हिमालय नहीं, वरन् भावसंसार का उपादान है। भाषा में आवद्ध होने के कारण वह 'संकेतित वस्तु' (रिफ़रेंट) न होकर संकेतग्रह या शक्तिग्रह (रिफ़रेंस) होता है जिसकी प्रकृति व्यष्टिनिष्ठ न होकर जातीयहोती है।

भावसंसार के उपादान 'जातीय' दो भिन्न सन्दर्भों में माने जा सकते हैं। एक अर्थ तो उसके अमूर्त पर भाव के धरातल पर ठोस प्रकृति के साथ सम्बद्ध है और दूसरा किसी भाषाई समुदाय की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अर्थात् जातीय परम्परा में ग्रहीत सन्दर्भों के साथ जुड़ा होता है। भाषा एक सामाजिक वस्तु है, वह समाज के अन्य संस्थानों के साथ जुड़कर उच्चतर प्रतीक व्यवस्था का अंग भी बनती है। अतः भाषिक प्रतीक के संकेतग्रह में जातीय मूल्य और संवेदनाएँ भी समाविष्ट होती हैं। उदाहरण के लिए 'कमल' या 'रोटी' शब्द प्रतीक को ही लें। कमल, भौतिक उपादानों (अनेक विशिष्ट कमलों) की जातीय (साधारणीकृत) संकल्पना के रूप में भी सिद्ध है और दूसरी ओर इस शब्द द्वारा संकेतित वस्तु अपनी जातीय संस्कृति के सन्दर्भ में भी प्रतीकवत सिद्ध है। भारतीय संस्कृति के उपादान के रूप में वह पवित्रता और अम्लान भाव का प्रतीक बन गया है। १८५७ के ग़दर में 'रोटी' और 'कमल' को जब प्रतीकचिह्न बनाया गया तब 'कमल' हमारी संस्कृति एवं स्वतन्त्रता का बोधक तत्त्व बना जबकि रोटी हमारी भूख, पीड़ा और आर्थिक शोषण का। आज आपातकालीन स्थिति के हटने के बाद हम इसीलिए लिख पाते हैं : "मात्र दो रोटी के टुकड़े फेंककर कोई हमसे सम्पूर्ण मानवीय अस्मिता का कमल नहीं खरीद सकता, पर यह भी उतना ही सच है कि कमल की लड़ाई रोटी की लड़ाई से अलग नहीं की जा सकती। रोटी कमल के साथ, रोजी-रोटी का अधिकार स्वाभिमान और स्वातंत्र्य के साथ।" (धर्मवीर भारती) "कमल हमने जीत लिया, अब रोटी की लड़ाई जीतनी है।" (वाडीलाल डगली)।

जब हम शब्दसंवेदनाओं की बात करते हैं तब वह संकेतग्रह में सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भों के पूरे इतिहास से छनकर आती शब्दप्रतीकों की भावभूमि होती है। शब्द के मोटे (स्थूल) अर्थ तो भौतिक उपादानों की साधारणीकृत संकल्पना होती है पर उसका सूक्ष्म अर्थ उन सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भों से उभरता है जिनके बीच उसका प्रयोग होता है। उसका सम्बन्ध इतिहास की दृष्टि, संस्कृति के सँजोये मूल्य और समाज की साम्प्रतिक व्यवस्था से जुड़ता-बनता रहता है। इस प्रक्रिया के लिए वह व्यवच्छेदक सिद्धान्त के आधार पर प्रतीकार्थ

को सामाजिक-सांस्कृतिक सार्थकता से जोड़ता है जो हर संस्कृति, हर समाज की अपनी होती है। भाषा को इसीलिए समाजसापेक्ष 'संस्थान' माना जाता है। उदाहरण के लिए 'कमल' और 'गुलाब' कई देशों में उत्पन्न होते हैं और कई भाषाओं में उनके लिए भाषिक प्रतीक (शब्द) प्रयुक्त होते हैं। पर जो सांस्कृतिक-सामाजिक सन्दर्भ हमारे जातीय संस्कारों ने उसे दिया है, वैसा ही अन्यत्र नहीं मिलता। साथ ही 'कमल' और 'गुलाब' दोनों हमारे मन में सौंदर्यबोधक अर्थ की संसृष्टि करते हैं, दोनों मन की कोमलता और सुकुमारता को व्यंजित करते हैं पर भारतीय संस्कृति के उपादान के रूप में एक पवित्रता और अम्लान भाव का प्रतीक बनता है तो दूसरा विलासिता और भौतिक ऐश्वर्य के प्रतिनिधि के रूप में सामने आता है। एक को अगर कवि 'भारती-वन्दना' करते समय दृश्य बिम्ब के रूप में लाता है—'भारती, जय विजय करे। कनक शस्य कमल धरे,' तो दूसरे को 'अरे, ओ दुष्ट गुलाब' कहकर सम्बोधित करता है।

साहित्य में बाह्य संसार के उपादानों को समेटकर जब आत्मकृत भावसंसार में भाषा के सहारे लाया जाता है तब शब्दार्थ अर्थात संकेतग्रह के दोनों जातीय रूप (साधारणीकृत संकल्पना और सांस्कृतिक संवेदना) के सार्थक प्रयोग करने की स्वतन्त्रता साहित्यकार को मिलती है। साधारणीकृत संकल्पना वस्तु के रूप-स्पर्श-गंध-नाद आदि ऐन्द्रिक अभिलक्षणों के समुच्चय को भी व्यंजित करता है अतः सादृश्यविधान के रूप में इन 'गुणों' का आरोपण सम्भव है। 'कमल' को हम कभी 'मुख' और कभी 'आँख, हाथ, पाँव' के उपमान के रूप में साहित्य में प्रयुक्त पाते हैं। इसी 'कमल' को जातीय संस्कृति के उपादान के रूप में ग्रहण कर कभी 'वीणा-वादिनी' के साथ जोड़ते हैं और कभी अपने 'स्वाभिमान, स्वतंत्रता और अस्मिता' के साथ; और फिर हम लिखते हैं—"अभी हमने उस व्यवस्था के प्रति व्यापक अविश्वास प्रकट किया है जो रोटी के चन्द टुकड़े तो देती थी लेकिन हमारा स्वाभिमान, स्वतन्त्रता और अस्मिता (कमल)खरीदकर, कुचलकर। "इतिहास, न केवल नये प्रतीकों को जन्म देता है वरन पुराने प्रतीकों में नितनूतन अर्थ भी भरता है। इसीलिए तो 'रोटी और कमल' अब हमारे लिए पूर्ण स्वतन्त्रता का (अर्थात आर्थिक और सांस्कृतिक दोनों ही का) प्रतीक बन गये हैं। जब हम भाषा की बात करते हैं तब उसके भाषिक प्रतीकों के संकेतग्रह के भीतर समाविष्ट इन प्रतीकार्थों के सभी अभिलक्षणों एवं सांस्कृतिक संवेदनाओं को अपने विचार में रखते हैं।

: ३ :

प्रतीकबद्ध भाषिक संसार की यथार्थता का सम्बन्ध आत्मकृत बोधात्मक संसार के एक ओर जुड़ा होता है और दूसरी ओर स्वयं अपने संसार के उपकरणों की व्यवस्था से। पर आत्मकृत बोधात्मक संसार की यथार्थता अपने परीक्षण के लिए बाह्य जगत के तथ्यपरक भौतिक संसार के उपादान का सहारा लेता है और दूसरी ओर प्रतीकबद्ध भाषिक संसार के उपादानों का। इस तथ्य को समझने के लिए नीचे दिये गये वाक्यों के अर्थ पर ध्यान दें :

(क) (१) यह सच झूठा है।
(२) मैं जिस चीज़ को प्यार करता हूँ उससे घृणा करता हूँ।
(३) क्या तुम्हारी सगी माँ निस्सन्तान थी ?
(ख) (४) हिमालय भारत के दक्षिण में है।
(५) कालिदास ने 'रामचरितमानस' की रचना की है।
(६) 'गोदान' एक गीतिकाव्य है।
(ग) (७) वह आग से सींचता है।
(८) मेरे पिता जी जागते हुए सोते हैं।
(९) भूमि के कम्पित उरोजों पर वह झुका था।

ऊपर दिये गये सभी वाक्य व्याकरण की दृष्टि से सही हैं। उनमें स्थूल व्याकरणिक नियमों का उचित निर्वाह मिलता है। पर अर्थ के धरातल पर ये सभी वाक्य असंगत लगते हैं। अगर असंगति के कारणों पर ध्यान दें, तो तीनों वर्ग (क), (ख) और (ग), तीन भिन्न स्थितियों की ओर संकेत देते पाये जाते हैं। वर्ग (क) के वाक्य के संकेतार्थ, दो प्रतीकात्मक उक्तियों के बीच के सम्बन्धों की असंगति को समेटे हुए हैं। जो झूठ है वह दूसरी ओर सच कैसे हो सकता है ? एक ही चीज को प्यार और उसीसे घृणा कैसे की जा सकती है ? माँ, स्वयं निस्सन्तान कैसे हो सकती है , अर्थात आधारभूत प्रत्यय—'सच,' 'प्यार' और 'माँ' की अर्थ-परक विशिष्टताओं की संगति उसके विशेषण या पूरक उपबन्ध में प्रयुक्त उक्तियों की अर्थपरक विशिष्टताओं के विरोध में है। वर्ग 'ख' के वाक्यों में जो संकेतार्थ हैं वे बाह्य जगत से प्राप्त ज्ञान और अनुभव के संदर्भ में गलत हैं। हमारा पूर्वज्ञान यह बताता है कि हिमालय भारत के उत्तर में हैं, 'मानस' की रचना तुलसीदास ने की है और 'गोदान' एक उपन्यास है। अर्थात इन वाक्यों के संकेतार्थ की सच्चाई पर निर्णय हम भौतिक जगत से प्राप्त अपने ज्ञान और पहले से ही निर्धारित कुछ प्रत्ययों के आधार पर देते हैं। वर्ग 'ग' के वाक्यों के संकेतार्थ हमारे अनुभव-संसार के विरुद्ध पड़ते हैं। वहाँ आकांक्षा और आसक्ति तो हैं पर योग्यताशक्ति का उनमें अभाव है। उनमें पदार्थों के परस्पर सम्बन्धों में जो बाधा उत्पन्न होती है उसका कारण बाह्य जीवन से अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान है। 'सींचने' का काम 'अग्नि' से सम्भव नहीं, निद्रावस्था में आदमी जाग नहीं सकता, 'उरोज' तो सजीव प्राणी और वह भी स्त्री व्यक्ति की संकल्पना की माँग करता है। अतः ऊपर दिये गये वाक्यों के संकेतार्थ तो हैं पर उसकी यथार्थता बाह्य भौतिक जगत और उससे प्राप्त अनुभव संसार से असिद्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऊपर दिये वाक्य भाषिक संसार की प्रतीक व्यवस्था के उपादान बनने की क्षमता तो रखते हैं पर बाह्य भौतिक जीवन तथा उससे उपलब्ध अनुभव-ज्ञान की संसर्गगत व्याख्या के सन्दर्भ में असिद्ध वाक्य हैं।

पर सवाल यहाँ यह भी उठता है कि काव्य की कलागत प्रतीक व्यवस्था के सन्दर्भ में भी क्या ऐसे वाक्य असिद्ध हैं ? जिस भावजगत की सर्जनात्मक कल्पना

का सन्दर्भ हमें काव्यपरक उक्तियों में देखने को मिलता है क्या उसमें ऐसे वाक्य प्रयुक्त नहीं मिलते ? यशपाल के एक उपन्यास का नाम ही है, 'झूठा सच'। काफ्का के एक उपन्यास 'मेटाफ़ार्मोसिस' में एक आदमी को 'काक्रोच' में बदलते पाते हैं और कृश्न चन्दर ने अपने एक उपन्यास में एक 'आदमी' में 'गदहे' की कल्पना की है। योग्यताशक्ति के प्रचलित उदाहरण 'आग से सींचने' के ठीक विरोध में पन्त का यह प्रयोग हम देख सकते हैं :

कैसा अद्भुत दान प्रेम का है इस मन को,
विरह अग्नि से नित्य सींचता है जीवन को।

और 'उरोजों' की कल्पना हम निर्जीव धरती में अभिव्यक्त 'अज्ञेय' की इस सर्जनात्मक उक्ति से पा सकते हैं :

भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष···

काव्य जगत की ये सिद्ध उक्तियाँ भाषेतर संसार के तथ्यपरक ज्ञान अथवा यथार्थता के न केवल विरोध में हैं वरन् उनका अतिक्रमण भी करती हैं। यह अतिक्रमण करने की शक्ति ही उसे प्रत्यक्ष भौतिक संसार के विरोध में एक सूक्ष्म 'परोक्ष' संसार की सृष्टि करने की क्षमता प्रदान करती है। भारतीय कलासिद्धान्त में संसार के दो स्तरों की कल्पना मिलती है। एक स्तर का सम्बन्ध उसके प्रत्यक्ष रूप के साथ है जो इन्द्रियजन्य होता है। दूसरा उसी संसार का सूक्ष्म रूप होता है जो 'परोक्ष' रूप में होने के कारण 'इन्द्रियेतर' होता है। परोक्ष रूप में सिद्ध इन्द्रियेतर संसार आत्मकृत भावजगत के उस स्तर का संसार है जहाँ मानसिक संकल्पना स्वयं यथार्थ बनाती है, और जहाँ 'वस्तु' भौतिक उपादानों से मुक्त होकर भी अनुभवगम्य होती है। परोक्ष स्तर पर सिद्ध काव्यार्थ, यथार्थ की सम्भाव्य स्थिति है जहाँ कलात्मक सत्य मानव जाति की उस व्यापक चेतना से जुड़ा होता है जो भौतिक उपादानों 'में' नहीं वरन् उसके पार जाकर सिद्ध रहता है। प्रत्यक्ष स्तर पर काव्यकृति, परोक्ष सम्भाव्य संरचना का मात्र एक उदाहरण मानी जा सकती है। साहित्यिक सर्जनात्मक आलोचना का एक प्रमुख कार्य यह भी है कि वह 'प्रत्यक्ष' के दृष्टान्तपरक संसार के आधार पर 'परोक्ष' कलारूप को उद्भासित करे। आचार्य शुक्ल ने इसे 'सामान्य' और 'विशेष' की शब्दावली में इन शब्दों में व्यक्त किया है—भारतीय काव्यदृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहां काव्यों में आते रहे हैं। यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक काव्यकृति 'परोक्ष' और 'प्रत्यक्ष' अर्थात् 'सामान्य' और 'विशेष' के तनाव के बीच अपना संश्लिष्ट रूप पाती है।

भाषा के धरातल पर हम यह संकेत दे सकते हैं कि 'प्रत्यक्ष' अर्थात बहिरंग वस्तुपरक अर्थ को व्यक्त करने वाली भाषा की प्रकृति अभिधापरक (रिफ़रेन्शियल)

होती है जबकि वस्तुओं के आन्तरिक गुणों पर आधारित भाषा की प्रकृति लक्षणापरक (मेटाफ़ोरिकल)। कलात्मक संरचना का सम्बन्ध उस प्रतीकीकरण प्रक्रिया से होता है जिसमें अभिधार्थ (बहिरंग वस्तुपरक अर्थ) और लक्ष्यार्थ (आभ्यन्तर गुणात्मक अर्थ) के नीच आन्तरिक सन्तुलन बना रहता है।

यहाँ इस तथ्य की ओर इंगित करना आवश्यक है कि किसी वस्तु के 'परोक्ष' और 'प्रत्यक्ष' रूप एक ही वस्तु को अनुभवों के दो भिन्न धरातलों पर ग्रहण करने के परिणाम होते हैं। ये दोनों रूप मानवमन के आत्मकृत भावसंसार के उपादान हैं। अतः इन दोनों में सहज सिद्ध सम्बन्ध बना रहता है। इन्द्रियगम्य (प्रत्यक्ष) रूप हमारे मन की तर्कशक्ति द्वारा पुष्ट होता चलता है पर उसी वस्तु का परोक्ष (इन्द्रियेतर) रूप सामान्य विवेक का अतिक्रमण करता रहता है क्योंकि वह उन आभ्यन्तर गुणों का प्रकाशक होता है जो अतर्क्य और अदृश्य होते हैं। अतर्क्य इसलिए कि वे हमारी बुद्धि की सामान्य तर्कणा शक्ति के परे होते हैं और अदृश्य इसलिए कि मनुष्य की सामान्य आंखों से वे देखे नहीं जा सकते। पर ये अतर्क्य और अदृश्य तत्त्व अपनी सत्ता में असिद्ध नहीं कहे जा सकते। हम अपनी कल्पना-विधायिनी शक्ति द्वारा उनके अस्तित्व का न केवल पता लगा सकते हैं वरन् उन्हें अनुभवगम्य भी बना सकते हैं। मनुष्य की कल्पना विधायिनी शक्ति न केवल वस्तुओं के अन्तःप्रदेश में प्रवेश पाने की क्षमता से युक्त होती है अपितु वह आकांक्षाओं और अभिलाषाओं से परिचालित होकर नयी वस्तुओं का सृजन भी कर सकती है। साहित्यकार न केवल अपने काव्यसंसार द्वारा अतर्क्य और अदृश्य को अनुभवसिद्ध बनाता है अपितु संसार और समाज के सीमित, अव्यवस्थित एवं विद्रूप अनुभवों के विरोध में एक काल्पनिक पर बेहतर संसार की ओर संकेत भी दे सकता है।

मनुष्य की कल्पनाविधायिनी शक्ति का यह पक्ष ज्ञानरूप है। 'परोक्ष' या 'सामान्य' का परिचय, भले ही वह अतर्क्य और अदृश्य ही हो, हमारी बुद्धि के ज्ञान पक्ष का अंग है। पर कला प्रतीक के अभिव्यक्ति पक्ष का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य भाव-संसार को अनुभवगम्य बनाना है। अपने प्रकृति-रूप में कला प्रतीक यथार्थ के मार्मिक बिम्ब होते हैं। पर यह यथार्थ अनुभवों और भावों का ठोस संसार होता है जो अपने पाठकों को अपने भीतर प्रवेश करने के लिए न केवल प्रेरित करता है वरन अपनी यथार्थता के प्रति उसे आश्वस्त करने की शक्ति भी रखता है।

शैलीविज्ञान यह मानता है कि कलाप्रतीक, कवि और पाठक के बीच 'सन्देश-वस्तु' के रूप में सिद्ध रहता है। वह स्वयं में 'सन्देश वस्तु' है, अतः उसका अर्थ नहीं हुआ करता। अर्थ न होने का यह मतलब नहीं कि कलाप्रतीक के रूप में काव्यकृति सार्थक नहीं होती। उसकी सार्थकता एक ऐसे भाषिक संसार की सृष्टि में निहित होती है जो मानव मन के अन्तर्जगत, मानव व्यवहार के अपने स्वभाव और मानवीय संवेदनाओं की अपनी प्रकृति से सम्बद्ध होता है। पर अदृश्य और

अतर्क्य संवेदनाओं का सामान्य भाषा की सामान्य प्रतीक व्यवस्था के द्वारा पकड़ा जाना असम्भव है। दूसरा तथ्य यह भी है कि अगर उनका आभास मिल भी जाये तो तर्कसिद्ध प्रतीक व्यवस्था द्वारा उनको निरूपित करना सम्भव नहीं। अतः कला-संसार की सृष्टि इस प्रकार की जाती है कि वह अनुभवों की व्यवस्था, अर्थात भाव-संसार की आन्तरिक प्रकृति, को 'अनुभवों के व्यापार' द्वारा ही प्रत्यक्षीभूत कराने में समर्थ हो। इसलिए कलात्मक अभिव्यक्ति के उपकरण वस्तुतः अनुभवगम्य (प्रत्यक्षीभूत) वस्तु के रूप में सिद्ध रहते हैं। कलासंसार की सम्प्रेषणविधि की यह माँग कला प्रतीक को 'प्रतिमापरक' (आइकोनिक) बनाती है।

प्रतीक व्यवस्था के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि उसके तीन मान्य प्रकार हैं—सामान्य प्रतीक, सूचनापरक (इंडेक्सिकल) प्रतीक और प्रतिमापरक (आइकोनिक) प्रतीक। सामान्य प्रतीक अपनी प्रकृति में यादृच्छिक और रूढ़िपरक होता है। यादृच्छिक होने के नाते सामान्य प्रतीकों के सम्प्रेष्य (सिग्निफ़ाइड) काव्य और उसकी अभिव्यक्ति योजना (सिग्निफ़ाइर) में कोई नैसर्गिक सम्बन्ध नहीं होता, इसीलिए एक ही 'कथ्य' को कई प्रकार की अभिव्यक्ति पद्धति से व्यक्त करना सम्भव है। रूढ़िपरक कहने का तात्पर्य यह है कि कथ्य और अभिव्यक्ति का सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत मान्यता पर आधारित रहता है। समाज से स्वीकृत ऐसी मान्यताओं के समुच्चय को हम उसके व्यावहारिक आचरण की संहिता (सोशल कोड) भी कह सकते हैं। आचरण की यह संहिता हर समाज की अपनी होती है जिसके आधार पर उसके सदस्य होने वाले आचरण की सार्थकता का पता लगाते हैं। उदाहरण के लिए, अभिवादन के लिए अगर एक समाज में ज़मीन पर लेटकर दण्डवत करने या हाथ जोड़कर नमस्ते करने की प्रथा है, तो दूसरे समाज में हाथ मिलाने की प्रथा और किसी तीसरे में नाक से स्पर्श करने की। सूचनापरक प्रतीक में कथ्य और अभिव्यक्ति के बीच के सम्बन्धों में कार्य-कारण का सहज सम्बन्ध रहता है। धुआँ आग का प्रतीक है, उमड़ते हुए बादल वर्षा की ओर संकेत देते हैं, चेहरे का लाल होकर तमतमा जाना अतिशय भावोद्रेक (क्रोध या लज्जा) के अनुमान को व्यक्त करता है। यह कार्य-कारण सम्बन्ध जीवन के विभिन्न सन्दर्भों में देखा जा सकता है। ओषधि की दुनिया में 'सिम्पटम' को देखकर रोग का पता लगाया जाता है, अर्थविज्ञान की चीज़ों के मूल्य और वितरण-सम्बन्धी सूचनाओं के आधार पर आर्थिक ढाँचे की प्रकृति का संकेत पाया जा सकता है आदि। प्रतिमापरक प्रतीक में कथ्य और अभिव्यक्ति के बीच के सम्बन्ध का आधार सादृश्यविधान (अनालॉजिकल रिज़ेम्बलेन्स) का होता है। किसी व्यक्तिविशेष का 'पोर्ट्रेट' रूढ़िपरक मान्यताओं के बजाय सादृश्य तत्त्व के आधार पर संकेतार्थ को व्यंजित करता है।

सामान्यतः भाषा जिस प्रतीक व्यवस्था को व्यावहारिक जीवन के विभिन्न सन्दर्भों में काम में लाती है उसकी प्रकृति सामान्य प्रतीकों जैसी होती है अर्थात कथ्य और अभिव्यक्ति के बीच के सम्बन्ध यादृच्छिक और रूढ़िपरक होते हैं।

उसको समझने के लिए भाषाई संहिता की जानकारी आवश्यक है। सामान्यत: कहने का तात्पर्य यही है कि प्रमुखता 'सामान्य प्रतीकों' की होती है पर संकेत-परक और प्रतिमापरक प्रतीकों से सामान्य भाषा भी पूर्णत: मुक्त नहीं हुआ करती। उदाहरण के लिए हिन्दी में हम द्वितीय पुरुष एकवचन के लिए जब 'तू', 'तुम' और 'आप' का प्रयोग करते हैं तब वह वक्ता और श्रोता के बीच के संबंधों की या तो सूचना देता है अथवा सुनने वाले के सामाजिक पद की ओर इशारा करता है। इसी प्रकार जब हम किसी व्यक्ति को उसके व्यवसाय से जोड़कर उसके लिए बहुवचन का प्रयोग करते हैं तब भी उसकी सम्मानजन्य स्थिति का संकेत देते हैं यथा—'प्रोफ़ेसर साहब आए थे' पर 'धोबी आया था'। इसी प्रकार प्रतिमा-परक प्रतीकों की सिद्धि हम ऐसे वाक्यों में देख सकते हैं—'वह गाय है'। 'गदहा कहीं का'। जिसका मतलब 'वह गाय की तरह सीधा है' या 'बेवकूफ़ कहीं का' रहता है। इन उदाहरणों से यह भी स्पष्ट है कि सादृश्य, वस्तुओं के बाहरी रूप-आकार का ही नहीं होता वरन् उनके गुण-धर्मों के सादृश्य के लिए भी 'प्रतिमा' को सामने लाया जा सकता है।

भाषिक संसार और काव्यसंसार दोनों ही प्रतीक होते हैं पर भाषा में रूपान्तरबद्ध व्यावहारिक संसार और संवेगात्मक उद्देश्यों से परिचालित काव्यसंसार में अन्तर होने के कारण उनकी प्रतीक व्यवस्था में भी अन्तर होना स्वाभाविक है। पहला अन्तर तो यही है कि भाषिक संसार जिस प्रतीक व्यवस्था को सामान्यत: प्रश्रय देता है वह है पहले सामान्य प्रतीकों की व्यवस्था। वह आनुषंगिक रूप में ही 'संकेतपरक' और 'प्रतिमापरक' प्रतीकों को अपने भीतर समेटता है। इसके विपरीत काव्यसंसार की प्रतीक व्यवस्था पहले 'प्रतिमापरक' होती है, फिर 'संकेतपरक' और आनुषंगिक रूप में ही वह 'सामान्य प्रतीक' होती है। एक दूसरी दृष्टि से भी ये एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। प्रतीक, अपने से भिन्न किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत देने के कारण हमेशा व्याख्यासापेक्ष होते हैं। व्याख्यासापेक्ष होने के कारण ही वे उस संहिता के आकांक्षी होते हैं जिसके आधार पर व्याख्या सम्भव होती है। व्यावहारिक जीवन के प्रयोग में आने वाले प्रतीक उन सन्देशों को अभिव्यक्त करते हैं जो बहुत कुछ अनुमेय रहता है, या हमें पहले से ही जो ज्ञात रहता है। अत: उससे सम्बद्ध संहिता उन व्याख्यात्मक तथ्यों की संकल्पना से सम्बद्ध रहती है जो पहले से ही निर्धारित होती है। पर काव्यसंसार के प्रयोग में आने वाले प्रतीक जटिल और संश्लिष्ट होते हैं क्योंकि जिन संकल्पनाओं और अनुभवखण्डों के स्थान पर वे आते हैं वे (प्रतीकबद्ध होने के पूर्व) अनिर्धारित और धुँधले-से होते हैं। जटिलता का सम्बन्ध, सम्प्रेष्य की अनिर्धारित और अस्पष्ट प्रकृति से रहता है। इन प्रतीकों को संश्लिष्ट इसलिए होना पड़ता है कि उसे मात्र प्रतीक रहकर अपने से भिन्न किसी अन्य वस्तु के लिए प्रयुक्त संकेतार्थ की ओर ध्वनित ही नहीं करना पड़ता वरन् उससे आगे बढ़कर काव्यसंसार के उपादान के रूप में मूर्तिमान भी बनना पड़ता है। काव्यप्रतीक मात्र शीशा या खिड़की

के समान नहीं होता जिसके सहारे बाहर के संसार को देखा या समझा जाना सम्भव है वरन् वह दर्पण के समान भी होता है जिसके भीतर कलासंसार स्वयं प्रतिबिम्बित होता रहता है।

सम्प्रेष्य के रूप में संकल्पनाओं एवं अनुभवखण्डों की अनिर्धारित प्रकृति का परिणाम यह होता है कि भौतिक काव्यकृति के रूप में सिद्ध प्रत्येक कलाप्रतीक अपनी संहिता के लिए चुनौती बनकर सामने आता है। ऐसा हर कलाप्रतीक व्याख्या के लिए लायी जाने वाली संहिता (काव्यशास्त्र की नियमावली) में कुछ नया जोड़ता है, उसमें कुछ परिवर्तन लाता है। वह इसीलिए जीवन्त संसार की अभिनव व्याख्या देने में समर्थ होता है क्योंकि वह मान्य और स्वीकृत पथ को आदतन स्वीकार न कर अभिव्यक्ति का नया रास्ता बनाता है। कथ्य और अभिव्यक्ति के सम्बन्धों की नित-नयी खोज ही कलाप्रतीक को रूढ़िमुक्त और सर्जनात्मक बनाती है। यही कारण है कि हर सार्थक साहित्यिक कृति जब एक ओर काव्यशास्त्र के पूर्व निर्धारित नियमों की सर्जनात्मक सिद्धि है तब दूसरी ओर उन्हीं नियमों का सहेतुक विखण्डन भी।

प्रतिमापरक कलाप्रतीक जिस संकेतार्थ को मूर्त बनाता है, वह संकेतार्थ आत्मकृत भावसंसार का उपादान होता है। भावसंसार के ये उपादान अनिर्दिष्ट अनुभवों एवं संवेदनाओं की स्थिति या क्रियाव्यापार से सम्बद्ध होते हैं। इन अनुभवों एवं संवेदनाओं (भाव) को उसके यथार्थ रूप में सम्प्रेष्य बनाने के लिए वह उचित सन्दर्भों (विभाव) का सर्जन करता है। भाव को पाठक के लिए सम्प्रेष्य (अनुभूतिगम्य) बनाने के लिए साहित्यकार भावों की व्याख्या या विश्लेषण नहीं करता, वरन् उचित सन्दर्भों (संसार) का सृजन करता है जिसके घटक अपनी स्थितिविशेष या क्रियाव्यापार के माध्यम से उस भाव का अनुभावन कराने में समर्थ हो पाते हैं। चूँकि सम्प्रेष्य अनुभव या संवेदना 'विशिष्ट' होती है और उसकी विशिष्टता को निर्बाध रूप में पाठक तक पहुँचाना कविकर्म का अभिप्रेत होता है, इसलिए सन्दर्भगत योजना के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि एक ओर वह सहज संभाव्य भी हो और दूसरी ओर 'विशिष्टता' की संवाहक होने के नाते असामान्य और विरल भी। सहज संभाव्यता पहले से ही उपलब्ध अनुभवज्ञान का परिणाम होती है। जो अनुभवज्ञान, सहज संभाव्यता का आधार बन पाठक के मन को कलासंसार के प्रति आश्वस्त बनाता है, उसका सम्बन्ध पहले भाषा में रूपान्तरित बाह्य संसार से होता है और फिर भाषिक संसार के माध्यम से भौतिक जगत के बाह्य संसार से। कलासंसार के अपने अनुभावन के लिए इसीलिए दो स्तरों पर संसर्गगत व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है—(i) भाषिक प्रतीकों में आबद्ध भावसंसार का स्तर और (ii) बाह्य भौतिक जगत के अनुभव से प्राप्त आत्मकृत संसार का स्तर। यही कारण है कि हम उठी हुई पर्वतश्रेणी को 'भूमि के कम्पित उरोज' और आकाश को 'इन्द्र का नील वक्ष' के रूप में न केवल कल्पना कर लेते हैं वरन् 'प्रतिमा' (बिम्ब) रूप में उसे ग्रहण भी कर लेते हैं।

शाब्दिक सौन्दर्य, काव्यवस्तु और शैलीविज्ञान

शैलीविज्ञान में प्रयुक्त होनेवाली उक्ति 'शाब्दिक सौन्दर्य' को लेकर अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। एक आलोचक के अनुसार "जिस प्रकार शैली की अर्थव्याप्ति सम्पूर्ण साहित्य, अथवा साहित्य-कला अथवा साहित्यिक रूपविधान न होकर केवल उसके भाषिक स्तर तक ही है, उसी प्रकार शैलीविज्ञान का अधिकारक्षेत्र भी साहित्य के भाषिक स्तर तक ही सीमित है। यह सम्पूर्ण साहित्य अथवा व्यापक अर्थ में साहित्य-कला तथा साहित्य के समग्र रूपविधान का अध्ययन प्रस्तुत करने का दावा चाहे करे, पर वास्तव में उतनी क्षमता इनमें नहीं है। इसलिए शैलीविज्ञान की सही परिभाषा—उसका सही अर्थ और क्षेत्रविस्तार यही है कि वह (भाषा-विज्ञान के नियमों व प्रविधि के अनुसार) साहित्य के भाषिक विधान का रूपात्मक अध्ययन है।" (नगेन्द्र, १९७६; २२) आगे चलकर सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में इसपर विचार करते हुए इस आलोचक का यह कहना है, "इस प्रकार शैलीविज्ञान सौन्दर्य के केवल भाषिक रूप का वस्तुपरक अध्ययन है।" (पृ० ४०) कुछ विद्वान तो 'सौन्दर्य के भाषिक रूप' या 'शाब्दिक सौन्दर्य' की पूरी अर्थवत्ता को ही 'शब्द-लालित्य', 'शब्द अलंकरण,' और 'शब्द क्रीड़ा' के कौतुक भाव तक सीमित कर यहाँ भी कहते पाये जाते हैं कि शैलीविज्ञान, जिस भाषाई संगठन को अपनी व्याख्या का आधार बनाता है, वह काव्यसंवेदना और कलासौन्दर्य का बहुत ही सतही स्तर है और इसीलिए वह काव्यकृति के बाह्यशरीर की चीर-फाड़ कर उसके 'शाब्दिक सौन्दर्य' को तो उजागर कर देता है पर उसके 'कलात्मक संवेग' अथवा 'सौन्दर्य के भावरूप' पर प्रकाश डालने की बात तो दूर, उसे और भी विद्रूप बना-कर पेश करता है।

इसमें सन्देह नहीं कि शैलीविज्ञान का कार्यक्षेत्र 'शाब्दिक सौन्दर्य' का निरूपण है। पर यह 'शाब्दिक सौन्दर्य' है क्या? शैलीविज्ञान इसे किस रूप में परिभाषित करता है? अगर इस संकल्पना को वह अपने सिद्धान्त का एक 'घटक' बनाता है तो अपनी पूरी चिन्तन प्रक्रिया में इसे वह कौन-सा स्थान और सन्दर्भ देता है? कई ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर निर्भ्रान्त दृष्टि से देखना अपेक्षित है।

यह तो कहा ही जा सकता है कि स्वयं में यह उक्ति—'शाब्दिक सौन्दर्य', कम-से-कम दो अर्थों की ओर संकेत देती है। एक दृष्टि इसे 'सौशब्द्य' अर्थात 'सुशब्दता' के पर्याय के रूप में स्वीकार करती है। 'सौशब्द्य' (सुशब्दता) अर्थात शब्दों का लालित्य या सुन्दर शब्दों का विलास। इस दृष्टि से शाब्दिक सौन्दर्य, शब्दों के अपने 'रूप' या अपनी 'अन्तःप्रकृति' का वैशिष्ट्य बन जाता है और

कविता 'शब्दविन्यास कौशल'। यही दृष्टि है जो कभी कविवा को 'रजत रव'/'रूपहली झंकार' अथवा 'स्वर्णिम रव'/'स्वर्णिम झंकार' के रूप में देखती है और कभी उसे 'मधु निर्झर ललित गान' का पर्याय घोषित करती है अथवा 'निर्मल कलकल' या 'पिक पंचम' के रूप में ग्रहण करती है। यह वही दृष्टि है जो शब्द-योजना के वैशिष्ट्य को सुसंस्कारित शब्दयोजना मानती है और उसके ग्राम्यी-करण (या सार्थक व्यतिरेक) को देखकर क्षुब्ध हो कह उठती है :

छायावादी शब्द योजना
ग्राम केलियों का आग्रह ग्रह
अटपट स्वर··· —पन्त

इस दृष्टि को भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा ने कभी भी मान्यता नहीं दी। यहाँ तक कि तथाकथित देहवादी आचार्यों ने भी काव्य के प्रतिकूल मानकर इसे असुकुमार मार्ग घोषित किया है। उदाहरण के लिए भामह ने 'काव्यपाक' (जो काव्य की सिद्ध दशा के रूप में मान्य है) को दो श्रेणियों में विभाजित किया है—अहृद्य और हृद्य। अहृद्य तो कपित्थ पाक है जिसके अनुसार सुबंत और के तिङंत पदों का समुचित संयोग मात्र ही काव्यार्थ बन जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह के अनुसार इसे 'काव्यपाक' न कहकर 'सौशब्द्य' कहना अधिक तर्कसंगत होगा।

शैलीविज्ञान भी यह मानता है कि 'शाब्दिक सौन्दर्य' को समझने की यह दृष्टि भ्रामक है। इसका कारण यह है कि यह दृष्टि सौन्दर्य की महत्ता को पहले च्युत कर उसे गौण बनाती है और जो सौन्दर्य की मूल संकल्पना की विशेषता बताने वाला 'शाब्दिक' पक्ष है उसके हेतु को न समझने के कारण उसीको सर्वेसर्वा मान बैठती है। शैलीविज्ञान, साहित्य को 'शाब्दिक कला' के रूप में परिभाषित करता है और उसके गुणवत अभिलक्षण को समानान्तर अभिव्यक्ति 'शाब्दिक सौन्दर्य' के द्वारा पकड़ना चाहता है। वह यह मानता है कि 'शाब्दिक कला' या 'शाब्दिक सौन्दर्य' उक्ति का मूलाधार संज्ञा शब्द 'कला' और 'सौन्दर्य' हैं और उससे सम्बद्ध और विशेषणवत सिद्ध शब्द 'शाब्दिक' (भाषिक) उसपर अवलम्बित है जिसका काम मूलाधार संकल्पना के गुणों को सीमित और परिभाषित करना मात्र है। यही कारण है कि वह यह मानता है कि कला का हर प्रतिफलित रूप साहित्य की संज्ञा नहीं पा सकता पर हर साहित्यिक कृति आपाततः कला का ही दृष्टान्त होती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कलात्मक संवेग के कई प्रति-फलित रूप सम्भव हैं, यथा : संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला। साहित्य, कलासिद्धि के रूप में इन प्रतिफलित रूपों से इसीलिए भिन्न है कि इसका पूरा संसार भाषाबद्ध होता है, और इससे सम्बद्ध कलात्मक प्रक्रिया, शब्द (भाषा)-व्यापार की भीतरी प्रक्रिया से जुड़ी होती है।

शैलीविज्ञान जब साहित्य को 'शाब्दिक कला' कहकर परिभाषित करता है तब वह उसके दो बृहत्तर आयामों की ओर संकेत करता है—कला का आयाम (जो संज्ञा शब्द होने के कारण आधारभूत तत्त्व है) और भाषा का आयाम (जो विशेषण शब्द होने के कारण इस कला उपवर्ग—साहित्य—की विशेषता को ध्वनित करने-वाला सीमक तत्त्व है)। सीमक तत्त्व को आधारभूत तत्त्व के ऊपर नहीं रखा जा सकता और इसीलिए शैलीविज्ञान यह भी मानता है कि साहित्य के रूप में कला अन्ततः भाषिक होने के लिए तो बाध्य है पर हर भाषिक अभिव्यक्ति, साहित्य का दर्जा नहीं पा सकती। इसे निम्न प्रकार के आरेख द्वारा व्यक्त किया जा सकता है:

=साहित्य

सभी ललित कलाओं के मूल में अभिलक्षण के रूप में 'सौन्दर्य' की स्थिति मानी गई है। कला-सम्बन्धी परिपृच्छा के रूप में 'सौन्दर्य' को ग्रहण करने के कारण ही सामान्यतः सौन्दर्यशास्त्र को ललित कला सिद्धान्त के पर्याय में देखा जा सकता है। यहाँ पर यह सवाल उठाया जा सकता है कि जिस प्रकार 'सौन्दर्य' की संकल्पना कलासिद्धान्त के मूल में है उसी प्रकार काव्यसिद्धान्त की अपनी विशेषता की सिद्धि के लिए कोई संकल्पना है या नहीं, अर्थात,

कला : सौन्दर्य : : काव्य : ?

भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्य भामह के अनुसार जिस प्रकार सभी कलाओं के मूल में सौन्दर्य तत्त्व है, उसी प्रकार काव्य की प्राणभूत शक्ति के रूप में 'अलंकार' है। कला और काव्य के समसम्बन्ध (कोरिलेशन) को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

कला : सौन्दर्य : सौन्दर्यशास्त्र : : काव्य : अलंकार : अलंकारशास्त्र

स्पष्ट है कि जो स्थान कला के क्षेत्र में सौन्दर्य का है वही स्थान काव्य में अलंकर का है। इसी प्रकार अगर कलासिद्धान्त के रूप में सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र है तो काव्यसिद्धान्त के लिए अलंकारशास्त्र। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्यकला के व्यापक वर्ग का मात्र एक उपवर्ग या श्रेणी है। अतः उसके क्षेत्र में सिद्धान्ततत्त्व के रूप में जो भी अवधारणाएँ सामने आएँगी वे एक ओर कला-वर्ग की जातिगत संकल्पना के सामंजस्य में होंगी और दूसरी तरफ़ वे इस उप-

वर्ग की अपनी विशिष्टता के व्यंजक स्वरूप भी रहेंगी। जैसा पहले कहा जा चुका है—कला की प्रतिफलित उपश्रेणी के रूप में काव्य मूलतः शाब्दिक होता है, इसीलिए 'अलंकार' को दूसरे शब्दों में 'शाब्दिक सौन्दर्य' भी कहा जा सकता है। सौन्दर्य को जो 'कलात्मक संवेग' या 'ऐन्द्रिय संवेदना' के रूप में देखते हैं, उनके लिए यह कहा जा सकता है कि 'शाब्दिक सौन्दर्य' वह 'कलात्मक संवेग' या 'ऐन्द्रिय संवेदना' है जो भाषा की सीमा में आबद्ध होने के कारण भाषाई चेतना के भीतर अपनी सिद्धि पाता है। निराला ने इसी रूप में काव्य को 'शब्द-व्यापार' माना है और 'अलंकार' को 'कलात्मक पर शाब्दिक संवेदना' और कविता को 'भावात्मक शब्दों की ध्वनि' कहा है।

स्पर्श रूप में अनुभव रोमांच
हर्ष रूप में परिचय
विनोद सुख गन्ध में
रस में मज्जनादि
शब्दों में अलंकार··· —अनामिका—निराला

यह कहा जा सकता है कि शैलीविज्ञान, सौन्दर्य (कलात्मक संवेग) के उस आयाम के निरूपण का शास्त्र है जो भाषाई चेतना पर झेले जाने के बाद अपनी रूप-प्रकृति का निर्धारण करता है। यही कारण है कि वह 'शाब्दिक सौन्दर्य' को 'सुशब्दता,' 'पदलालित्य' या 'शब्द-क्रीड़ा' के केवल छिछले या सीमित रूप में ग्रहण करने के पक्ष में नहीं।

इस बात पर बल देने की जरूरत है कि 'अलंकार' की ही तरह 'शाब्दिक सौन्दर्य' को देखने की दो दृष्टियाँ हैं—व्यापक अर्थात साहित्य की प्राणभूत संकल्पना के रूप में और सीमित (संकुचित) अर्थात साहित्य के एक पक्ष की एक विशेषता के रूप में। उदाहरण के लिए अगर भामह के काव्यशास्त्रीय चिन्तन को देखें तो उसमें प्रयुक्त 'अलंकार' शब्द को हम प्राणभूत शक्ति के रूप में पाते हैं और इस 'शाब्दिक सौन्दर्य' को भाषिक साक्ष्य पर पकड़ने के प्रयत्न में 'वक्रोक्ति' (अतिशय उक्ति) की संकल्पना को 'लोकातिक्रान्त गोचर वचनम्' के रूप में परिभाषित पाते हैं। यह 'वक्रोक्ति' ही है जो सभी 'अलंकारों' के मूल में है (कोऽलंकारोऽनया विना) और जो काव्य (शाब्दिक कला) को वार्ता (शाब्दिक सामान्य कथन) से अलग करती है। पर बाद में चलकर 'अलंकार' में इस व्यापक अर्थ को सीमित कर उसे 'अलंकरण' का पर्याय बना दिया गया और 'वक्रोक्ति' को शब्दालंकार के अनेक प्रकारों में से एक ऐसा प्रकार माना गया जहाँ उक्ति में वक्ता के मंतव्य से भिन्न अर्थ की कल्पना निहित रहती है। जिस प्रकार अलंकार के व्यापक, वस्तु-निष्ठ और भाषावादी चिन्तन की संकल्पना के रूप में मान्य, 'शाब्दिक सौन्दर्य' के व्यापक अर्थ को अपने सिद्धान्तों के व्यामोह में फँसकर परवर्ती (आत्मवादी)

आचार्यों ने सीमित कर संकुचित बना दिया, मुझे भय है कि उसी प्रक्रिया का सहारा लेकर शैलीविज्ञान के विरोधी आलोचक 'शाब्दिक सौन्दर्य'-सम्बन्धी उसकी व्यापक मान्यता को संकुचित अर्थ में ग्रहण कर अपने मानसिक विकार को शैली-विज्ञान का साध्य-साधन सिद्ध करने की ओर प्रवृत्त हैं।

ऊपर संकेत दिया जा चुका है कि शैलीविज्ञान 'शाब्दिक सौन्दर्य' की धारणा के माध्यम से **उस कलात्मक संवेग की ओर संकेत देता है जो भाषाई चेतना पर झेले जाने के बाद अपनी रूप-प्रकृति निर्धारित करती है।** यहाँ संक्षेप में पहले भाषाई चेतना या बोध पर विचार कर लेना ज़रूरी है। यह कहा जा सकता है कि आकारहीन अनुभव-खण्ड को प्रतीकीकरण के माध्यम से व्यक्त करने की क्षमता ही मनुष्य को अन्य जीव-जन्तुओं से अलग करती है। प्रतीकीकरण की प्रक्रिया दो सृजनात्मक पक्षों की अपेक्षा रखती है : (क) ज्ञान के रूप में अनुभव का संचित कोष और (ख) नित नूतन रूप में वस्तुओं के ग्रहण करने और उनमें नया अर्थ भरने वाला कल्पना तत्त्व। ज्ञान (नॉलिज) और कल्पना (इमेज़िनेशन) न केवल 'प्रतीकों' को जन्म देने का कारण बनती है बल्कि वस्तुओं और बाह्य परिवेश से टकराकर चेतना या भावबोध का निर्माण भी करती है। भाषा, इसी प्रतीकीकरण प्रक्रिया की सर्जनात्मक शक्ति का एक अन्यतम प्रतिफल है। इसीलिए एक तरफ़ भाषा को 'शाब्दिक प्रतीकों की व्यवस्था' कहा गया है और दूसरी तरफ़ भाषा के सन्दर्भ में मानव मन को सृजनशील बताया गया है। सृजनशील इसीलिए कि व्यक्ति, उन वाक्यों को भी बोल या समझ सकता है जिनको पहले उसने न कभी प्रयोग किया होता है और न कभी सुना ही रहता है। यह तथ्य भाषा की उस सम्भावना की ओर भी संकेत करता है जो अगाध है, अपने व्यवहार में असीम और प्रयोग में सीमामुक्त है। भाषा की यह लचीली सम्भावना विभिन्न और बहुरंगी परिस्थितियों को साधने में सक्षम है। मानव मन की सृजनात्मक शक्ति की अनुपम देन के रूप में यह भाषा ही बाह्यजगत और भावबोध के बीच मध्यस्थ बनती है। भाषा स्वयं में उस बोध के निर्माण का कारण बनती है जो कल्पनात्मक चेतना को ठोस आधारभूमि प्रदान करता है और जो मनुष्य की जीवनदृष्टि को समाजगत-संस्कारों के सहारे एक 'कोण' (ऐंगल) भी देता है।

यही कारण है कि भाषा की व्याकरणिक कोटियों के रूप में जिस वचन, लिंग अथवा काल की बात की जाती है वे भौतिक जगत में स्वीकृत तथ्यों से भिन्न होते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि भौतिक जगत का लिंग (सेक्स), व्याकरणिक लिंग (जेण्डर) नहीं होता अन्यथा निर्जीव पदार्थों की संकपना को अपने संकेतग्रह में समेटने वाले शब्दों को हम पुंलिंग या स्त्रीलिंग के रूप में ग्रहण नहीं करते होते या एक ही संकेतित वस्तु के दो (पर्यायवाची) प्रतीक पुंलिंग या स्त्रीलिंग कोटियों में विभाजित हमें नहीं मिलते। इसी प्रकार जब हम नीचे दिए वाक्यों को एक-दूसरे के प्रतियोग में देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि जो बाह्य जगत में 'वचन' है, वही तद्रूप भाषिक 'वचन' नहीं बन जाता :

(१) तू कहाँ जा रहा है ?
(२) अ. तुम कहाँ जा रहे हो ?
आ. तुम लोग कहाँ जा रहे हो ?
(३) अ. आप लोग कहाँ जा रहे हैं ?
आ. आप कहाँ जा रहे हैं ?

ज़रा भी ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाता है कि (२) और (३) अ में प्रयुक्त सर्वनाम 'तुम' और 'आप', बाह्य जगत के भौतिक धरातल पर तो एकवचन की ओर संकेत देते हैं पर भाषाबोध के धरातल पर वे 'बहुवचन' ही हैं। भाषाबोध के धरातल पर वचन, 'एक' या 'बहु' से सम्बद्ध होकर संज्ञा सर्वनाम शब्दों की संख्या को ही केवल व्यक्त नहीं करते। वे तो वक्ता के उस दृष्टिकोण और सामाजिक संस्कार के भी बोधक या संवाहक होते हैं जो वक्ता (सम्बोधक) और श्रोता (सम्बोधित) के सम्बन्धों की प्रकृति को भी उजागर करते हैं। किसे हम अपने से नीचे या ऊपर स्तर का समझते हैं, किसको हम आदर की दृष्टि से देखते हैं और किसे हम तुच्छ व्यक्ति मानते हैं, कौन व्यक्ति हमारे अनौपचारिक सम्बन्धों के घेरे में आकर अत्यन्त निकट आ सकता है और कौन 'प्रभुतासम्पन्न' होकर सम्बन्धों को औपचारिक बना देता है, कौन पेशा हमें उच्चवर्ग के नज़दीक ले जाता है और कौन निम्न वर्ग की ओर ढकेलता है—ये सब दुनिया को देखने की दृष्टि देते हैं और यह दृष्टि भाषाप्रयोगों में सार्थकता के साथ व्यक्त मिलती है। बहुवचन, केवल 'एक से अधिक वस्तुओं' का बोधक ही नहीं है वरन जिसके लिए प्रयुक्त होता है उसके लिए आदर, सम्मान और औपचारिक सम्बन्धों का भी सूचक है। इसीलिए हम जब यह कहते हैं—'शीला आई है', वहीं 'श्रीमती' या 'जी' लगाने पर कहते—हैं 'शीला जी आई हैं', इसी प्रकार यह कहा जाता है कि 'लोहार आज आया था' पर उसके साथ बोला जाता है—'प्रोफ़ेसर आज आए थे।' बोलते हैं, 'बड़े भाई आए थे' पर छोटे के लिए कहा जाता है—'छोटा भाई आया था।'

भाषा सृजनात्मक कल्पना का अन्यतम उदाहरण है—इस ओर पहले भी संकेत दिया जा चुका है। मानव मन की सृजनात्मक कल्पना का ही यह परिणाम है कि मनुष्य बाह्य जगत को अपनी ही तरह जीवन से स्पन्दित अनुभव कर पाता है, उसके भीतर भी उन शक्तियों का आरोपण कर सकता है जिन्हें मानवीय गुणों या अनुभूतियों के रूप में स्वीकार करता है। 'मानवीकरण' के रूप में साहित्य में मान्य इस प्रक्रिया का एक व्यापक आधार है जिसे मानव-अनुकृतिवाद (ऐन्थ्रोपोमॉर्फ़िज़्म) कहा जाता है। मानव-अनुकृतिवाद को हम कला के अन्य विधानों में भी देख सकते हैं पर जैसा अभिव्यंजक प्रयोग भाषा के माध्यम से साहित्य में मिलता है, वह अन्यत्र नहीं मिलता। 'हवा का हिनहिनाना या क्रन्दन करना', 'चन्द्रमा का चिन्ताग्रस्त प्रकाश', 'बड़बड़ाता हुआ पानी का चश्मा', 'झर-झर करती हुई जलधारा' आदि अभिव्यक्तियाँ, प्रसिद्ध रूसी साहित्यकार गोर्की के अनुसार "प्राकृतिक प्रक्रियाओं या संघटनाओं को अधिक सजीव बना देती हैं।"

उनके ही शब्दों में—"इसे मानवानुकृतिवाद कहते हैं जो दो ग्रीक शब्दों **एन्थ्रोपोस** (मनुष्य) और **मॉर्फ़** (रूप या बिम्ब) से मिलकर बना है। यहाँ रेखांकित करने योग्य बात यह है कि मनुष्य का एक तरीक़ा है कि वह अपने मानवीय गुणों को हर उस चीज़ में तलाशता और अभिव्यक्त करता है जिसे वह देखता है, वह उन वस्तुओं की कल्पना करता है और उन्हें प्राकृतिक संघटना के साथ, अपने श्रम और विवेक द्वारा रची गयी हर वस्तु के साथ सहयोजित करके देखता है। कुछ लोगों का ख़्याल है कि इस एन्थ्रोपोमॉर्फ़िज़्म का साहित्य में कोई स्थान नहीं होना चाहिए; उल्टे इसे साहित्य के लिए अपकारक ही माना जाना चाहिए। लेकिन यही लोग कहते हैं 'अंधड़ ने कान फोड़ दिये', 'सूर्य मुस्कराया', 'मई आ गई', यहाँ तक कि वे 'बदमाश मौसम' जैसे शब्द-पदों का उपयोग करते हैं जब कि मौसम के सन्दर्भ में नैतिक मापदण्डों का प्रयोग करना असम्भव है।"

जो तथ्य वचन, लिंग अथवा मानव-अनुकृतिवाद के सन्दर्भ में सामने लाए गए, उनको भाषाबोध के धरातल पर 'काल' के परिप्रेक्ष्य में भी देख सकते हैं। भाषा-अध्ययन के सन्दर्भ में हम जिस 'काल' अथवा 'काल-बोध' की चर्चा उठाते हैं वह भौतिक जगत में स्वीकृत 'समय से भिन्न होता है। समय एक अविच्छिन्न धारा के समान रहता है जहाँ जो कुछ भी है वह या तो 'भूत' होता है अथवा 'भविष्य'। सतत परिवर्तनशील स्थिति में वर्तमान का अस्तित्व तो ज्यामितिशास्त्र के उस 'बिन्दु' के समान है जिसकी न तो लम्बाई होती है, न चौड़ाई और न ऊँचाई ही, वह तो धूप-छाँव की उस मिलन-रेखा के समान है जिसके एक ओर भूत की स्थिति है और दूसरी ओर भविष्य की। यह ठीक है कि भूत और भविष्य की भेदक रेखा स्वयं वर्तमान होती है पर इसके साथ ही यह भी सही है कि वर्तमान का स्वयं भौतिक धरातल पर अपना अस्तित्व नहीं होता।

पर जैसा ऊपर संकेत दिया जा चुका है, जो भौतिक धरातल पर 'समय' है वह भाषा में वर्णित 'काल' नहीं। काल, एक व्याकरणिक कोटि है, भाषा की रचना के स्तर पर एक निश्चित रूप (फ़ॉर्म) है, जो भौतिक जगत के समय की अविरल अविच्छिन्न धाराप्रवाह को निश्चित खण्डों में विभाजित करने की एक विशेष दृष्टि प्रदान करता है। कभी-कभी इस विशेष दृष्टि से बोधित 'कालबोध' और भौतिक धरातल पर बुद्धिग्रहीत समयचेतना आपस में टकरा भी जाते हैं। उदाहरण के लिए, इस वाक्य को ही लें—'मैंने किताब पढ़ी है।' जो कार्य पूरा हो चुका है, घटकर पूर्ण हो चुका है उसे बुद्धिग्रहीत 'समय-पक्ष' के अनुसार तो भूत (विगत) होना ही चाहिए। व्याकरण के अधिकांश आचार्यों ने इसीलिए इस प्रकार के वाक्य को आसन्न 'भूत' नाम से संकेतित किया है।

'आसन्न भूत' कहने के समय पक्ष तो स्पष्ट हो जाता है पर 'कालबोध' के स्तर पर भी क्या यह वाक्य 'भूत' है? व्याकरणिक रूप 'है' के माध्यम से यह वाक्य वर्तमान के कालबोध से क्या हमें नहीं जोड़ता? 'मैंने किताब पढ़ी है' और 'मैंने किताब पढ़ी थी' वाक्य में अन्ततः अन्तर ही क्या रह गया? क्या दोनों को

पहले भूतकाल का वाक्य मानकर फिर से 'आसन्नता' और 'विप्रकृष्टता' के आधार पर एक को 'आसन्नता भूतकाल' और दूसरे को 'पूर्ण भूतकाल' का वाक्य मानना उचित है? क्या यह उचित नहीं कि हम इन दोनों वाक्यों में वर्णित क्रिया को पूर्ण (घटित) मानें पर इनको काल के धरातल पर वर्तमान और भूत की दो भिन्न श्रेणियों में रखें?

ध्यान रखना चाहिए कि भाषा में प्रयुक्त प्रत्येक सार्थक रूप किसी न किसी 'बोध' के निर्माण का हेतु होता है। अतः भाषा के सन्दर्भ में आसन्नता 'सामीप्य-बोध' है न कि स्वयं सामीप्य। सामीप्य को भौतिक मापदण्ड से नापा जा सकता है—क्षेत्र को इंच, गज़, मीटर, मील द्वारा और समय को मिनट, घण्टा, दिन, महीना, साल इत्यादि द्वारा। पर सामीप्य-बोध का मापदण्ड इनसे भिन्न धरातल पर पाई जानेवाली इकाई की अपेक्षा रखता है। उदाहरण के लिए, हम ऐसा वाक्य कह सकते हैं—"कालिदास ने 'शकुन्तला' की रचना की है।" और यद्यपि इस ग्रन्थ की रचना वर्षों पहले हो चुकी है, फिर भी काल के धरातल पर हम सामीप्य-बोध करने में सक्षम हैं। इसके विपरीत 'एक मिनट पहले मैंने चिट्ठी छोड़ दी थी,' ऐसे वाक्य में विप्रकृष्टता का अनुभव करते हैं जबकि वाक्य से स्पष्ट है कि चिट्ठी छोड़ने की क्रिया मात्र एक मिनट पहले की है। भौतिक 'समय-पक्ष' और व्याकरणिक 'कालबोध' को ठीक से न समझ सकने के कारण ही पं० कामताप्रसाद गुरु ने ऐसे वाक्यों को मूलतः 'आसन्न भूतकाल' का वाक्य माना है यद्यपि गौण रूप (कोष्ठक) में इसे पूर्ण वर्तमान भी कहा है।

भौतिक धरातल पर वर्तमान की सत्ता भले ही न हो, पर व्याकरणिक काल-बोध के स्तर पर इसकी सत्ता असंदिग्ध है जो वस्तुतः 'अब' और 'आज' की व्यवस्था से सम्पृक्ति का सूचक है। 'पूर्ण वर्तमान' और कुछ नहीं वरन भौतिक धरातल पर होने वाली क्रिया के विगत (भूत) समय पक्ष का भाषा के वर्तमानकालिक काल-सूचक तत्त्व द्वारा वर्तमान के 'कालबोध' में रूपान्तर है। यह 'आज' और 'अब' के बोध के सन्दर्भ में किसी बीती हुई घटना की एक वर्तमानकालिक परिणति है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि यहाँ प्रयुक्त 'आज', 'अब' वस्तुतः 'आज' और 'अब' के शाब्दिक अर्थ को ध्वनित नहीं करते अर्थात 'आज' के बोध का तात्पर्य वह नहीं है जिसे आचार्य वाजपेयी स्वीकार करते हैं, यथा : बीती हुई रात के पिछले भाग को लेकर आने वाली रात के पूर्ण भाग के होने के समय अथवा सूर्योदय से लेकर सूर्योदय के पहले-पहले के समय का ज्ञान। 'आज' के बोध का अर्थ वस्तुतः सम्प्रति-व्यवस्था के सम्पृक्ति-बोध से है। जब हम कहते हैं—'आज महँगाई बढ़ती जा रही है' अथवा 'आज शीतयुद्ध वास्तविक युद्ध से कहीं अधिक घातक सिद्ध हो रहा है' तब आज का अर्थ 'चौबीस घण्टे' या 'सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय' के भौतिक समय का अन्तराल नहीं होता। यहाँ आज सम्प्रति व्यवस्था का ही बोध कराता है।

जिस प्रकार क्षेत्रस्थान के लिए प्रयुक्त सर्वनाम शब्द यहाँ-वहाँ के द्वारा

संकेतित स्थान की परिधि को छोटा-बड़ा किया जा सकता है (यथा : यहाँ का अर्थ प्रयोग में एक बिन्दु भी हो सकता है, और मेज, कमरा, शहर, देश अथवा ब्रह्माण्ड भी), उसी प्रकार समय के लिए प्रयुक्त शब्द 'अब' और 'आज' के बोध को विस्तृत या संकुचित किया जा सकता है, उसकी परिधि को भी घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इसी प्रकार जब हम बोलते हैं—'बनारस जाने वाली गाड़ी शाम सात बजे छूटती है,' तब गाड़ी के छूटने के समय को आज की (सम्प्रति) व्यवस्था से मात्र जुड़े होने के कारण वर्तमान काल का वाक्य कहते हैं अन्यथा कल भी गाड़ी सात बजे जाये और कौन जाने निकट भविष्य में भी गाड़ी इसी समय पर छूटे। पर जब हम 'है' की जगह इसी वाक्य में 'थी' का प्रयोग करते हैं तो मात्र इस भूत-कालसूचक शब्द के कारण गाड़ी के छूटने के इस निर्धारित समय को हम वर्तमान व्यवस्था से असम्पृक्त कर देते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि कालबोध प्रतीकीकरण की प्रक्रिया से उद्भूत उस मानवीय चेतना से सम्बद्ध होता है जो सृजनात्मक कल्पना के लिए भाषाई आधार लिया करता है। सृजनात्मक कल्पना का यही भाषाई आधार हम काव्यकृति या कलात्मक संवेगों की शाब्दिक अभिव्यक्ति में पाते हैं। वस्तुतः भौतिक समय की तरह काव्यकृति की 'विषयवस्तु' और कालबोध की तरह उसकी 'काव्यवस्तु' में जो अन्तर है उसका भी यही आधार है।

किसी कविता की विषयवस्तु और काव्यवस्तु दो भिन्न वस्तुएँ होती हैं'—इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। विषयवस्तु, काव्यवस्तु के कथ्यपक्ष का सामान्य भाषा में सामान्य कथन है और काव्यवस्तु, काव्यप्रतीक (कृति) के कथ्य पक्ष का वह अंश है जो काव्यभाषा के गर्भ से जन्म लेता है और जो काव्य-भाषा से अलग होकर अपना अस्तित्व पा ही नहीं सकता। कविता या अन्य किसी कृति का विषय, कृति के बाहर जाकर भी लोक-जीवन में स्थित रह सकता है पर काव्यवस्तु, कृति की अपनी संरचना के बाहर सिद्ध हो ही नहीं सकती। लोक-जीवन में स्थित किसी एक विषय पर अनेक कविताएँ रची जा सकती हैं पर कृति में आबद्ध काव्यवस्तु, रचनासापेक्ष होने के कारण विशिष्ट होती है जिसकी न तो पूर्ण व्याख्या संभव है और न ही उसके पूर्ण प्रतिरूप अर्थ का पुनःसृजन ही।

उदाहरण के लिए, 'अज्ञेय' की 'जैसे तुझे स्वीकार हो' और 'जयतु हे कण्टक चिरन्तन' शीर्षक दो कविताओं को लें जो प्रथम 'तारसप्तक' में संकलित हैं। दोनों ही कविताओं के विषय एक हैं, दोनों छायावादी चेतना की अस्वीकृति एवं उसकी शैली के निषेध के लिए छायावाद की वस्तुव्यंजना एवं अभिव्यक्ति पद्धति को प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं। वस्तुतः 'जयतु हे कण्टक चिरन्तन' नामक कविता पहली कविता के निमित्त लिखी रचना है। 'जैसे तुझे स्वीकार हो' एक साहित्यिक कृति है और कवि के शब्दों में "साधारण गद्य में उसकी व्याख्या ही हो सकती है, अर्थ नहीं, अतः मैं उसका अर्थ पद्य में करके भेज रहा हूँ।" और यह पद्य दूसरी कविता है। पर क्या इस दूसरी कविता में पहली कविता की अर्थपरक सम्पूर्ण

सम्भावना और व्यंजकता समाहित है? ऊपर से (अर्थात विषयवस्तु की दृष्टि से) एक होते हुए भी क्या काव्यवस्तु के सन्दर्भ में दोनों कविताएँ एक ही हैं?

काव्यवस्तु अभिव्यक्ति पद्धति में बँधे अमूर्त स्वर से स्पन्दित रहती है जो हृत्कम्पन की तरह कविता के जीवन्त पक्ष का उद्घाटन करती रहती है। 'जैसे तुझे स्वीकार हो' कविता, काव्य के 'चिन्मय देवता' को सम्बोधित करती है यह दिखाने के लिए कि छायावाद की कोमल अभिव्यंजना वस्तुतः अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों का अनबूझ, व्यर्थ और असंगत चित्रण है। 'जयतु हे कण्टक चिरन्तन' शीर्षक कविता, छायावादी कोमल अभिव्यंजना की उस परिणति को अभिव्यंजित करती है जो समय के दौर में अपना सत्त्व खो बैठी है, जिसके सत्त्वपरक फूल 'झंझा के थपेड़ों से पिट चुके हैं', काव्यक्षेत्र में जो 'निष्प्राण रूखे शूल' के समान हैं। यह कविता 'असुर-दुर्दम, दैत्य-कवि' को सम्बोधित है। इन दोनों कविताओं की काव्य-वस्तु के अन्तर को काव्यबिम्ब के हृत्कम्पित करने वाले आभ्यन्तर स्वर एवं टोन के सन्दर्भ में पहचाना जा सकता है जो अभिव्यक्ति के माध्यम से भाषाबद्ध है। पहली सम्बोधित है 'चिन्मय देवता' को और कविता की पहली पंक्ति में ध्वनित है (छायावादी) चेतना की एक सहज निषेधात्मक स्वीकृति—'जैसे तुझे स्वीकार हो।' दूसरी कविता सम्बोधित है 'दैत्य कवि' को और जिसकी पहली पंक्ति में ध्वनित है (छायावादी) चेतना पर व्यंग्यात्मक उक्ति—'जय, सदा जय हो।'

यह विवेचन राबर्ट फ्रास्ट की इस उक्ति की संपुष्टि करता है कि "अनुवाद की प्रक्रिया में जो 'तत्त्व' खो जाता है वही कविता (काव्यवस्तु) है" (पोयट्री इज़ ह्वाट इज़ लास्ट इन ट्रांसलेशन)। कहने का तात्पर्य यह है कि कविता की आन्तरिक प्रकृति का आधार उसकी 'काव्यवस्तु' होती है न कि विषयवस्तु। यह ठीक है कि विषय-वस्तु से निरपेक्ष होकर कविता की चर्चा नहीं उठायी जा सकती, उसमें सन्निहित विचारों के सन्दर्भ के अभाव में उसको गहराई से समझा नहीं जा सकता और उसमें समाविष्ट तथ्य को छोड़कर उसको मूर्त रूप में ग्रहण करना असम्भव होगा—क्योंकि ये सभी तत्त्व कविता के दायरे में न केवल बँधे होते हैं वरन उसमें जटिल रूप से संयुक्त होते हैं। लेकिन इसके बावजूद यह तथ्य भी असंदिग्ध है कि कविता जीती है अपनी भाषा के भीतर ही, और कविता की काव्यवस्तु को उसके मूल और मौलिक रूप में प्रयुक्त शब्दों से न तो अलग किया जा सकता है और न उससे विच्छिन्न कर देखा ही जा सकता है। एक सच्ची कविता के भीतर से किसी एक भी शब्द को निकालने या बदलने से कविता अपने प्रभाव और प्रयोजन में उसी प्रकार खंडित होकर और च्युत हो जाती है जैसे कोई 'सिंफ़नी' किसी एक ग़लत वाद्ययंत्र के एक ग़लत प्रयोग से संगीतच्युत हो उठती है। इलियट के शब्दों में कविता है—'दि कम्प्लीट कान्सॉट डान्सिंग टुगेदर।'

एक ही कवि की एक ही विषय पर लिखी दो कविताओं के इस अन्तर का विश्लेषण इस तथ्य को पष्ट कर देता है कि काव्यवस्तु और विषयवस्तु में आधारभूत अन्तर होता है और एक ही विषय पर भिन्न संवेदनात्मक उद्देश्यों के

आधार पर काव्य सृजन होने के कारण काव्यवस्तु भिन्न हो जाती है। (मुक्तिबोध के अनुसार) संवेदनात्मक उद्देश्य, विद्युत की वह धारा है जो अन्तर-व्यक्तित्व से प्रसूत होकर जीवनविधान करती है, कलाविधान करती है, अभिव्यक्तिविधान करती है। आत्मचरितात्मक और सृजनशील ये संवेदनात्मक उद्देश्य हृदय में स्थित जीवन्त अनुभवों को संकलित कर उन्हें कल्पना के सहयोग से उद्दीप्त और मूर्तिमान करते हुए एक ओर प्रवाहित कर देते हैं। यह कला का प्रथम क्षण है, या कहिए कि सौन्दर्यप्रतीति का क्षण है। यह क्षण सामान्य जन को भी प्राप्त होता रहता है। (काव्य की रचना प्रक्रिया, पृ० ९४)

सच तो यह है कि कला का यह प्रथम क्षण और सौन्दर्य प्रतीति की पहली अवस्था चेतना के भाषाबद्ध होने के पूर्व की अवस्था होती है, जहाँ चेतना तरलावस्था में रहती है और सांस्कृतिक संवेदनाएँ वातावरण में अनगूँज पुकार की तरह व्याप्त रहती हैं। यह संवेदनात्मक उद्देश्य कवि के चेतन मन में अपने होने का मात्र आभास और संकेत देता रहता है। वह उसके मानसदर्पण में बिजली की चपलता के साथ अपने स्वरूप का प्रतिबिम्ब छोड़ता हुआ उसकी आँखों के सामने से ओझल हो जाता है। तड़ित वेग से कौंध कर अदृश्य हो जाने के कारण कवि उसके स्वरूप और उसकी प्रकृति से परिचित नहीं हो पाता और उसको अनुभूति के धरातल पर यह लगता है मानो वह उसके अवचेतन मन की अतल गहराइयों में डूबकर वहीं से अपनी अभिव्यक्ति के लिए 'चीख़-चीख़कर' उसके कवि-व्यक्तित्व को पुकार रहा है :

"फूल जैसे अँधेरे में दूर से ही चीख़ता हो। इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है।" (केदारनाथसिंह)

यह संवेगात्मक उद्देश्य मुक्तिबोध के 'अँधेरे में' के उस अज्ञात व्यक्ति के समान है जो उसकी—**"ज़िन्दगी के···कमरे में अँधेरे/लगाता है चक्कर/आवाज़ पैरों को देती है सुनाई बार-बार···बार-बार ॥ पर वह अज्ञात व्यक्ति है कि/भीत—पार आती हुई पास से/गहन रहस्यमय अंधकार ध्वनि-सा/अस्तित्व जनाता/है पर बावजूद सभी कोशिशों के वह चैतन्य की दृष्टि से बँध नहीं पाता/सुनाई जो देता, पर नहीं देता दिखाई।"**

यहाँ इस तथ्य पर बल देना आवश्यक है कि मात्र 'संवेदनात्मक उद्देश्य' कलाकृति को जन्म देने में असमर्थ हैं, साथ ही सौन्दर्य प्रतीति के इस प्रथम क्षण पर "केवल कलाकार का अधिकार नहीं होता, वे सामान्य जनों को भी निरन्तर प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि साहित्य रचा और समझा जाता है।" सच तो यह है कि संवेदनात्मक उद्देश्य को अनुभूति के धरातल पर पकड़ने में सक्षम व्यक्ति को ही हमारे यहाँ 'सहृदय' की संज्ञा दी गयी है। पाठक और आलोचक के लिए 'सहृदय' होना पहली शर्त है क्योंकि "ऐसे सौन्दर्य क्षणों, ऐसे मनोवैज्ञानिक क्षणों से वंचित अथवा अल्प समृद्ध···दरिद्र जो आलोचक हैं, वे अपने को चाहे कितना भी बड़ा समझें—साहित्य क्षेत्र का अनुशासक समझें—वे वस्तुतः साहित्य

विश्लेषण के अयोग्य हैं, कला प्रक्रिया के कार्य में अक्षम हैं, भले ही वे साहित्य का 'शिखर' बनने का स्वांग रचें, मसीहा बनें।" मुक्तिबोध के ही शब्दों में "ज्ञान के अहंकार में अज्ञान के अँधकार का कुछ ऐसा शुभ्र रूप हमें उनमें मिलता है कि लगता है कला और साहित्य की छाती पर बैठे हुए ये टीले हैं।"

लेकिन संवेदनात्मक उद्देश्य स्वयं में काव्यवस्तु नहीं, वह काव्यवस्तु का मात्र एक सर्जनात्मक उपकरण है। सवाल तो यह है कि जो संवेदनात्मक उद्देश्य स्वयं कवि की चेतन आँखों की पकड़ के बाहर है, जो स्वयं उसके लिए एक अनबूझ पुकार के सदृश है, उसको कवि साधता कैसे है ? काव्यवस्तु के निर्माण का "द्वितीय क्षण तब उपस्थित होता है जब लेखक में शब्दसंवेदनाएँ जाग्रत होकर (वह) विषयतत्त्व को व्यक्त करने लगता है" (मुक्तिबोध)। यही अवस्था है जब कवि संवेदनात्मक उद्देश्यों की अनगूँज पुकार को भाषा में बाँधने की ओर प्रवृत्त होता है और जब बँधने की सृजनात्मक प्रक्रिया में संवेदनाएँ अपनी आन्तरिक प्रकृति का उद्घाटन करने लगती हैं।

यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि अमूर्त संवेदनात्मक अनुभूतियों की अनुभूति उसे वस्तुओं से जोड़ती नहीं अपितु वस्तुओं के पार पहुँचाती है। संवेदनाओं को वस्तुओं से जोड़ने का कार्य तो 'शब्द' करते हैं और सौन्दर्य-प्रतीति का पहला क्षण, भाषा-पूर्व स्थिति में होता है जिसे 'किसी भी भाषा के अज्ञात शब्दकोष में' पाया जा सकता है :

मैं
जब हवा की तरह
दृश्यों के बीच से गुज़रता हुआ
अकेला होता हूँ,
तो क्षण-भर के लिए
मुझे कहीं भी देखा जा सकता है,
किसी भी दिशा से
किसी मोड़ पर
किसी भी भाषा के अज्ञात शब्दकोष में।

प्रक्रिया—केदारनाथसिंह

'किसी भी भाषा के अज्ञात शब्दकोष में' का अर्थ है जातीय संस्कार और अनुभव कोष न कि भाषा सन्दर्भित 'शब्दकोष'। पर साहित्य तो 'शाब्दिक कला' है अतः संवेगात्मक उद्देश्य भाषाबद्ध होकर ही काव्यवस्तु में रूपायित होते हैं।

"शब्दसंवेदनाओं को प्राप्त करते हुए लेखक जाने-अनजाने अपनी मूल भाव-सम्पत्ति और मनोधारा में भी परिवर्तन करता रहता है। शब्दसंवेदनाएँ नवीन एसोसिएशन्स को जाग्रत कर देती हैं। फलतः वह मूल मनोधारा यदि इस प्रकार

से इन ऐसोसिएशन्स को प्राप्त कर समृद्ध हो जाती है तो दूसरी ओर उसका—उस मनोधारा का, स्वयं का मूल स्वरूप बहुत कुछ बढ़ता जाता है। यह महत्त्व की बात है। प्रारम्भिक स्फूर्ति ने जो तत्त्वविधान और रूपविन्यास किया था, वह परिवर्तित होता रहता है।"

कि गूँजहीन शब्दों के इस घने अन्धकार में
मैं—
अर्थ परिवर्तन की अबूझ प्रक्रिया हूँ।—**मुक्तिबोध**

सच्चा कवि भाषा का उपयोग नहीं करता। उसके लिए भाषा वस्तुओं को पहचानने का मात्र माध्यम नहीं होती। भाषा को उपयोग में लाने वाली वस्तुओं का नामकरण (प्रतीकीरण) करते हैं जिससे वस्तुएँ पहचानी जा सकें। लेकिन 'नामकरण' करते समय महत्ता वस्तुओं की रहती है और शब्द मात्र उपादान बनकर रह जाते हैं।

जहाँ वस्तुओं के सन्दर्भ में उनके नाम का महत्त्व न हो और जहाँ नाम की अपनी सार्थकता, बाह्य जीवन के उपयोगी पक्ष का बन्दी बनकर दम तोड़ दे—वहाँ किसी वस्तु को चाहे एक 'नाम' से पहचानें या किसी दूसरे से, कोई फ़र्क नहीं पड़ता :

पर सच तो यह है
कि यहाँ या कहीं भी फ़र्क नहीं पड़ता।
तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'
वहाँ लिख दो 'सड़क'
फ़र्क नहीं पड़ता···

कवि किसी अन्य वस्तु का प्रतीक बनाकर शब्द को व्यावहारिकता के स्तर पर नहीं उतारता, साधन रूप में ग्रहण कर उसे शक्ति च्युत नहीं करता। कवि के लिए 'शब्द' वस्तुरूप होते हैं, वस्तुओं को पहचानने के माध्यम नहीं बनते; वे साध्य रूप हैं, किसी अन्य के साधन नहीं। और वह इसलिए कि जिस यथार्थ और चेतना को कवि अभिव्यक्ति देने चलता है वे भाषा के अपने गर्भ से उत्पन्न होते हैं। काव्यवस्तु, केवल भाषा के माध्यम से ही नहीं वरन भाषा के भीतर रखकर ही अपनी जीवनसत्ता को धारण करती है।

व्यावहारिक मनुष्य वस्तुओं के साथ खेलता है। उसका जीवन वस्तुसापेक्ष होता है। जब वह भाषा की सत्ता को स्वीकार करता है तब भी उसका लक्ष्य वस्तुओं को पकड़ना रहता है। भाषा का वह प्रयोजनात्मक रूप सामान्य मानव की उपलब्धि भी है और उसके जीवन की सीमा भी। उपलब्धि इसलिए कि वस्तुओं

की अनुपस्थिति में भी शब्द, वस्तु का बोध कराने में सक्षम है, चीजों की अदृश्य स्थिति में भी उसके प्रत्यय निर्माण में वह सफल सिद्ध है। पर भाषा और शब्द, मनुष्य जीवन की सीमा भी बनते हैं। मनुष्य और वस्तुओं के सीधे सम्बन्ध के बीच वे एक ठोस छाया की तरह स्थित भी रहते हैं।

भाषा, वस्तुओं को उनके सही रूप में न देखने देती है, और न वस्तुओं के साथ सीधे सम्बन्ध की स्वीकृति देती है। अनुभूति और बाह्य जगत के बीच वह एक ऐसे पारदर्शी आवरणके समान रहती है जो मनुष्य की चेतना के सामने हमेशा झूलती रहती है, पर अपनी व्यावहारिक प्रवृत्ति से बाधित होकर मनुष्य जिसकी सत्ता के प्रति सचेत नहीं हो पाता। सामान्य व्यक्ति को यह पता नहीं रहता कि उसके जीवन के चारों ओर पड़ा भाषा का यह पारदर्शी पर ठोस आवरण कितना निर्मम है और साथ ही किस सीमा तक वह उसके चारों ओर लिपटा हुआ है।

इस पारदर्शी पर ठोस आवरण की निरंकुश सत्ता से परिचित होने के कारण कवि एक ओर इससे बचना भी चाहता है और इसको साधता भी जाता है। बचने की प्रक्रिया में वह वस्तुओं से सीधा सम्पर्क स्थापित करता है। वह वस्तुओं को उनके 'नाम' से नहीं वरन 'हवा की तरह—दृश्यों के बीच से गुज़रता हुआ' अपनी संवेदनाओं के माध्यम से पहचानने का प्रयत्न करता है। साधने की प्रक्रिया में वह भाषा की 'प्रतीकवत' अर्थवत्ता को 'यथार्थवत' सार्थकता में रूपान्तरित करता है। शब्दों को उसकी नामपरक अर्थव्यंजकता से मुक्ति दिलाकर काव्य जाति का वस्तुतत्त्व बनाता है। "The poet is outside of language. He sees words inside out as if he did not share the human condition, and as if he were first meeting the word as a barrier as he comes towards men. Instead of first knowing things by their name, it seems that first he has a silent contact with them, since, turning toward that other species of thing which for him is the word, touching them, palping them, he discovers in them a slight luminosity of their own and particular affinities with the earth, the sky, the water, and all created things" (Jean Paul Sartre : What is Literature ?)

काव्य-सृजन का यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि कवि सामान्य भाषा के प्रतीकवत शब्दों का प्रयोग किस प्रकार करे कि वे शब्द काव्यजगत के सार्थक उपादान बन जायें। सामान्य भाषा में वह गुणात्मक परिवर्तन इस प्रकार लाता है कि रूपान्तरित भाषा, 'सामान्य भाषा' का मात्र आभास देती हुई छन्दों के आन्तरिक लय की तरह उमड़-उमड़कर निःशब्द (प्रतीकरहित) भाव से उसकी काव्यचेतना को ध्वनित करने में सक्षम बन जाती है :

शब्द, अब भी चाहता हूँ
पर वह कि जो जाए वहाँ वहाँ होता हुआ

तुम तक पहुँचे
चीजों को आर-पार दो अर्थ मिलाकर सिर्फ़ एक
स्वच्छन्द अर्थ दे
मुझे दे देता रहे जैसे छन्द केवल छन्द
घुमड़-घुमड़ कर भाषा का भास देता हुआ
मुझको उठाकर निःशब्द दे देता हुआ

—नया शब्द—रघुवीर सहाय

स्पष्ट है कि कवि जब अपने संवेदनात्मक उद्देश्यों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा के पास आता है तब अनगूंज पुकार के सदृश अनुभूति एवं व्यवस्थित भाषा संरचना और तरल संवेदना एवं मूर्त भाषिक प्रत्यय की 'टकराहट' का वह पहली बार अनुभव करता है। इस 'टकराहट' के परिप्रेक्ष्य में ही अतर्क्य अनुभूतियाँ एवं तरल संवेदनाएँ अपनी आन्तरिक प्रकृति का उद्घाटन करती हैं जिसको पहली बार वह सचेतन मन के धरातल पर अनुभव करता है।

चेतना की अतल गहराइयों से उठने वाली आन्दोलित ध्वनियों और सामान्य शब्दों की मान्य अर्थपरक प्रतिभा के बीच चलने वाले द्वन्द्व के बीच से किस प्रकार नये रूप का सृजन होता है, और किस प्रकार शब्द का आन्तरिक रूप एक नया संदर्भ और आयाम लेता है, इसको कवि के ही शब्दों में देखें :

ये गरजती, गूँजती, आन्दोलिता
गहराइयों से उठ रही ध्वनियाँ, अतः
उद्भ्रान्त शब्दों के नये आवर्त में
हर शब्द निज प्रति-शब्द को भी काटता
वह रूप अपने बिम्ब से भी जूझ
विकृताकार-कृति
है बन रहा
ध्वनि लड़ रही अपनी प्रतिध्वनि से यहाँ।—ब्रह्मराक्षस--मुक्तिबोध

कथ्य की विशिष्टता और सामान्य भाषा की सामान्यीकृत प्रकृति के बीच की इस टकराहट के गर्भ से ही साहित्यिक शैली अपना जन्म पाती है। साहित्यिक शैली न केवल भावजगत की जीवनदृष्टि एवं अबौद्धिक कथ्य को व्यक्त करने की सामान्य भाषा को असामर्थ्यशक्ति के परिहार के रूप में सिद्ध रहती है वरन वह कला अनुभूति एवं संवेदनाओं की आन्तरिक प्रकृति का उद्घाटन भी करती है। और सम्भवतः यही कारण है कि कलात्मक संघटन, टकराहट से उत्पन्न विषमता को मिटाता नहीं (क्योंकि उसीके सन्दर्भ में अनुभूतियाँ एवं संवेदनाएँ अपनी सही प्रकृति का उद्घाटन करती हैं), अपितु उसको बिना मिटाए एक समग्र लया-

त्मक प्रत्यय में बाँधता है जिसके सन्दर्भ में विषमता स्वयं अपनी अन्तर्विरोधी प्रकृति का समाधान ढूंढ़ लेती है।

इसमें सन्देह नहीं कि भाषा और साहित्य को जोड़ने वाली संकल्पना ही शैली है। इस शैली को 'सहेतुक भाषापद्धति' भी कहा गया है। यह शैली अथवा सहेतुक भाषापद्धति ही विषयवस्तु को काव्यवस्तु में रूपान्तरित करती है, अतः इस शैली के अध्ययन के माध्यम से काव्यवस्तु की संरचना का सही पता लगाया जा सकता है। 'सहेतुक भाषा पद्धति' का सम्बन्ध केवल शब्दविन्यास या पदलालित्य से ही नहीं रहता, कृति की उस पूरी संरचना से सम्बद्ध होता है जो कृति को कृतिविशेष बनाती है अर्थात् इसका सम्बन्ध काव्यकृति के 'संरचनात्मक' (स्ट्रक्चरल) और विनियोगात्मक (ऑर्गेनिजेशनल) सिद्धान्त से रहता है। अगर हम यह मानते हैं कि कलात्मक संवेग ही वह वृत्ति है जो काव्यकृति की संरचना या विनियोजना का मूल हेतु है, तब यह भी कहा जा सकता है कि इस वृत्ति का ही भाषिक रूपान्तर 'सहेतुक भाषापद्धति' या 'शैली' है। जिस प्रकार मूल वृत्ति होने के कारण कलात्मक संवेग (सौन्दर्य) किसी भी कलाकृति को आदि से अन्त तक नियंत्रित करता है और उसके सम्पूर्ण रूप में व्याप्त होने के कारण जिस प्रकार वह अखण्ड रूप होता है, उसी प्रकार 'शैली' भी काव्यकृति का संरचनात्मक आधार होने के कारण अविभाज्य है। यही कारण है कि 'सौन्दर्य' के भाषिक पर्याय के रूप में 'अलंकार' को मानने वाले कुन्तक ने काव्य को पहले 'अलंकारयुक्त शब्दार्थ' (मात्र अलंकरणयुक्त नहीं) माना और इस 'अलंकार' को 'अलंकार्य' के गुण के रूप में देखने का बाद में आग्रह किया।

अलंकृतिरलंकार्यम् पौढत्य विवेच्यते
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता।

—कुन्तक : वक्रोक्ति जीवितम् १/६

सौन्दर्य / अलंकार यद्यपि कलारूप / अलंकार्य में गुणवत सिद्ध होने के कारण उससे अलग कर नहीं देखे जा सकते और सम्पूर्णता में ग्रहण किये जाने के कारण वे अखण्ड या अविभाज्य हैं, पर सौन्दर्यशास्त्र / काव्यशास्त्र की विवेचनात्मक आवश्यकता के लिए ही सौन्दर्य / अलंकार को उसके कलारूप /अलंकार्य से अलग कर उस पर निर्णय किया जाता है।

यहाँ यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि काव्यसौन्दर्य के रूप में उस कलात्मक संवेग की प्रकृति क्या है जो काव्यकृति में उसकी आत्मा की तरह आदि से अन्त तक व्याप्त रहती है, जो उसकी विषयवस्तु को काव्यवस्तु में रूपान्तरित करती है और जो काव्यकृति की उस 'विशिष्टता' का सहेतुक कारण बनाती है। विद्वानों के अनुसार सौन्दर्यशास्त्र उस 'ऐन्द्रिय संवेग' का शास्त्र है जो 'सौन्दर्य के लक्ष्य' से नियंत्रित है।

इसमें सन्देह नहीं कि सौन्दर्य के मूल में 'ऐन्द्रिय संवेग' का तत्त्व रहता है। पर इस ऐन्द्रिय संवेग का जो पहला स्तर दिखाई देता है, वह है जैविक स्तर। रस, गन्ध, स्पर्श, चक्षु और श्रोत्र आदि से सम्बन्धित संवेदना को अनुभव करने की क्षमता से सभी मनुष्य जुड़े होते हैं। इस दृश्यमान जगत के सीधे सम्बन्ध के कारण मनुष्य इन इन्द्रियों के सहारे साक्षात अनुभव करता है, जिसे पावलोव के शब्दों में 'पहला सिग्नल' कहा जा सकता है। पहले 'सिग्नल' पर जो भी प्रतीक बनते हैं, उसमें भी मनस्तत्त्व या कल्पनातत्त्व हो सकता है। पर यह मनस्तत्त्व, बाह्य जीवन से सीधा सम्बन्ध बनाए रखने के कारण उसी प्रकार हमारे व्यवहार में सिद्ध रहते हैं जैसे भौतिक धरातल पर लिंग (सेक्स), या समय(टाइम)। जब तक हम इस 'ऐन्द्रिय संवेग' को अपनी भाषाई चेतना पर झेल नहीं लेते अर्थात् भौतिक संसार के साथ बने सीधे और यांत्रिक सम्बन्धों को सर्जनात्मक प्रतीक में रूपान्तरित कर उसे 'दूसरे सिग्नल' के स्तर की वस्तु नहीं बना लेते, वह काव्यक्षेत्र की कलासंवेदना के लिए उपयुक्त नहीं बन सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि भौतिक धरातल पर स्थित 'लिंग' या 'समय' को हम जिस तरह से भाषिक धरातल की इकाई में रूपान्तरित कर 'लिंगबोध' (जेण्डर) या 'समयबोध' (काल अथवा टेन्स) में सिद्ध नहीं कर लेते वह 'दूसरे सिग्नल' का स्तर भी नहीं पाता, उसी प्रकार जैविक धरातल पर सिद्ध 'ऐन्द्रिय संवेग' को हम जब तक भाषाई धरातल पर रूपान्तरित नहीं कर लेते, हम संवेदनात्मक बोध की चर्चा भी नहीं उठा सकते। **काव्यकृति के मूल में 'संवेदना' नहीं वरन 'संवेदनात्मक बोध' होता है क्योंकि काव्यसंवेदना मन की अतल गहराइयों से आती कोई अनुगूंज पुकार या अनहद नाद के स्तर की वस्तु न होकर मानव चेतना के धरातल पर बोधव्य भाषिक ध्वनि होती है।**

यही कारण है कि काव्यसौन्दर्य, स्थूल या लौकिक धरातल पर वस्तुरूपों के साथ होने वाले ऐन्द्रिय व्यापार की प्रक्रिया से भिन्न प्रकृति का होता है। अगर ऐसा नहीं होता तो साक्षात अनुभव की भाँति वस्तु के साथ वह भी यांत्रिक सहसम्बन्ध बनाए रखता या विध्वंसजन्य दृश्यों को काव्यकृति में पढ़कर उसका पाठक भी क्षुब्ध हो उठता। पर ऐसी स्थिति काव्यव्यापार में देखने को नहीं मिलती। 'दूसरे सिग्नल' की वस्तु होने के कारण न तो इसमें साक्षात अनुभव की यांत्रिक प्रक्रिया ही होती है और न काव्यानुभूति को हम अप्रीतिकर ही पाते हैं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि भाषाई चेतना पर झेले जाने वाले 'सौन्दर्य' की जब बात उठाई जाती है तब उससे तात्पर्य यही होता है कि भाषा 'वस्तु' और 'अनुभावक' के जैविक और यांत्रिक सम्बन्धों को तोड़ने का पहले साधन बनती है और फिर ऐन्द्रिय संवेग को संवेदनात्मक बोध में रूपान्तरित करने का माध्यम भी।

शैलीविज्ञान सौन्दर्यतत्त्व को न तो अस्वीकारता है और न उसकी उपेक्षा ही करता है। पर काव्यकृति के सन्दर्भ में वह 'पहले सिग्नल' के स्तर की वस्तु(ऐन्द्रिय संवेग) के स्थान पर उसे 'बोधात्मक संवेदना' के रूप में ग्रहण कर 'दूसरे सिग्नल' की वस्तु अर्थात् भाषावद्ध मानता है। भाषाबद्ध होकर यह 'बोधात्मक संवेदना' काव्यकृति के रूप में 'संवेदनात्मक बोध' बनती है। शैलीविज्ञान यह मानता है कि शाब्दिक सौन्दर्य का सम्बन्ध इसी संवेदनात्मक बोध' से है। शाब्दिक सौन्दर्य, पहले बोध है जिसे शैलिविज्ञान भाषा के साक्ष्य पर अभिव्यक्ति (शब्द) और कथ्य (अर्थ) के सम्बन्धों की प्रकृति के आधार पर स्वीकार करता है। बोधपरक होने के कारण ही वह मानता है कि पहले 'कविता' या 'काव्यकृति' के प्रति हमें समझदारी पैदा करनी होगी। कविता या काव्यकृति को मन के सचेतन धरातल पर बिना ग्रहण किए उसके प्रति अपनी दृष्टि स्थापित करना एक गलत प्रक्रिया है। यह बात दूसरी है कि व्यक्ति कभी अपने संस्कारगत अनुभव सन्दर्भों या साहित्य अनुशीलन से उद्भूत काव्यचेतना के परिप्रेक्ष्य में अनायास 'शब्दार्थ' को पकड़ लेता है और कभी वह किसी विश्लेषणात्मक प्रणाली का सहारा लेते हुए उस तक सायास पहुँचता है। कविता बोधव्य होती है—कहने का अर्थ यही है कि उसे 'शब्दार्थ' के माध्यम से सचेतन मन पर ग्रहण करना सम्भव है। पर शैलीविज्ञान यह भी मानता है कि सचेतन मन पर ग्रहण करने की यह प्रक्रिया 'सामान्य' न होकर 'विशिष्ट' होती है क्योंकि काव्यकृति केवल 'बोध' ही नहीं अपितु 'संवेदनात्मक बोध' है। सृजनशीलता या सौन्दर्य का यह 'संवेदनात्मक' आयाम अथवा बोध की 'संवेदनात्मकता' ही मूलरूप में 'काव्यात्मकता' का जनक है अर्थात 'संवेदनात्मकता' की भाषा में आबद्ध करने के कारण ही 'शब्द और अर्थ' के सम्बन्धों की सामान्य प्रकृति 'विशिष्ट' बनती है। इसीलिए शैलीविज्ञान यह मानकर चलता है कि काव्यकृति आपाततः भाषा ही है पर हर भाषिक अभिव्यक्ति काव्यकृति नहीं बन सकती।

निष्कर्षतः यह कहा जा सज्ञता है कि जिस 'कलात्मक संवेदना' को काव्यकृति अपना केन्द्रक मानती है वह न केवल भाषा के माध्यम से व्यक्त होती है अपितु शैलीविज्ञान के अनुसार भाषा के गर्भ में पलकर 'कलात्मक बोध' में रूपान्तरित होती है। साथ ही, 'कलात्मक वस्तु' के रूप में यह कलात्मक बोध भाषा की अपनी विशिष्ट संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) और बुनावट (टेक्सचरल) प्रक्रिया के सहारे ही अपना ठोस रूप और आकार ग्रहण करता है।

शैलीविज्ञान, अपनी संकल्पना—'शाब्दिक सौन्दर्य' से एक तरफ़ कलात्मक संवेदना की बोधपरक परिणति और दूसरी तरफ़ अमूर्त कलात्मक बोध के सम्मूर्तन व्यापार की ओर संकेत देते हुए यह स्थापित करना चाहता है कि इन दोनों प्रक्रियाओं के बीच भाषिक प्रतीकीकरण की प्रक्रिया काम करती है।

• • •

परिशिष्ट-१

संदर्भग्रंथ सूची

ABRAHM, W. A linguistic approach to mataphor. Lisse, *Netherland*: *The Peter De Ridder Press* (1975).

ABRAHMS, R. The complex relations of simple forms. *Genre* (1969), 2, 104-28.

AVALLE, D'ARCO S. Systems and structures in the folktale. *Twentieth Century Studies* (1970), 3, 67-75.

BABB, H.S. (ed.), Essays in stylistic analysis. *New York*: *Harcourt & Brace* (1972).

BARTHES, R. Elements of semiology, *London*: *Cape* (1967).

—Writing degree zero. *London*: *Cape* (1967).

—Mythologies. *London*: *Cape* (1972).

BATESON, F. W. English poetry—a critical introduction. *London* (1950).

—Argument II (continued): Language and Literature. *Essays in criticism* (1968), 19, 176-82.

BEARDSLEY, M.C. Aesthetics. *New York*: *Harcourt, Brace and World* (1958).

BENOIST, J.M. The end of structuralism. *Twentieth Century Studies* (1970), 3, 335-63.

BICKERTON, D. Prolegomena to linguistic theory of metaphor. *Foundations of Language* (1969), 4, 35-52.

BIERWISCH, M. Poetics and linguistics. *in Freeman (ed.)* (1970), 96-115.

BLACK, MAX. Models and metaphors. *New York*: *Cornell University Press* (1962).

BLACKMUR, R.P. Language as gesture. *New York*, (1952).

BOOTH, W. The rhetoric of fiction. *Chicago*: *University Press* (1961).

BRONZWAER, W.J.M. Tense in the novel. *Gromingen*: *Wolters-Noordhoff* (1970).

BROOK-ROSE, C. A grammar of metaphor. *London*: *Secker & Warburg* (1958).
BROOKS, C. The well-wrought Urn. *New York*: *Harcourt & Brace* (1947).
BROWN, H. Prose styles: five primary types. *Minneapolis*: *University Press* (1966).
BUDAGOV, R. A., Literaturnye jazyki i jazykovye stili (Literary languages and language stules. *Moskva*: *Vyssaja Skola* (1967).
BURKE, K. The philosophy of literary form. *Louisiana State University Press* (1941).
CASSIRER, E. Structuralism in modern linguistics. *Word* (1945), 1, 99-120.
CHAPMAN, R. Linguistics and literature: an introduction to literary stylistics. *Totowa, N. J. Littlefield Adams* (1973).
CHATMAN, S. On the theory of literary style. *Linguistics* (1966), 27, 13-35.
—New ways of analysing narrative structure. *Language and style* (1969), 2, 3-36.
—The structure of fiction. *University Review. Kansas City* (1971), 199-214,
(ed.),—Literary style: a symposium. *New York*: *Oxford University Press* (1971).
—On the formalist structuralist theory of character. *Journal of Literary Semantics* (1972). 1, 57-79.
—Approaches to poetics. New York. *London*: *Columbia University Press* (1973).
CHATMAN, S. and S.R. LEVIN (eds.) Essays on the language of literature. *Boston*: *The Houghton Mifflin Company* (1967).
CHOMSKY, N. Some methodological remarks on generative grammar. *Word* (1961), 17, 219-39.
—Aspects of the theory of syntax. *Cambridge, Mass*: *MIT* (1965).
—Linguistics and politics. *New Left Review* (1969), 57, 21-34.
—Reflections on language. *Fontana/Collins* (1976).
CLUYSENAAR, A. Introduction to literary stylistics. *London*: *Batsford* (1976).
COOMARSWAMY, A.K. Symbolism, *in* Dictionary of World Literature (ed. by) Joseph T. Shipley. New York (1942).
COOPER, L. (ed.), Theories of style. *New York*: *Macmillan* (1907).
CRANE, R. S., The language of criticism and the structure of poetry. *University of Toronto Press* (1953)
CRYSTAL, D. and D. DEVY, Investigating English Style. *London*: *Longmans* (1969).

CUNNINGHAM, J.V. (ed). The problem of style. Greenwich. *Conn*: *Faweett World Library* (1966).
CULLER, J. Flaubert: the uses of uncertainty. *London*: *Elek* (1974).
—Jakobson and the linguistic analysis of literary texts. *Language and style* (1971), 5: 1, 53-66.
—Structure of ideology and ideology of structure. *New Literary History* (1973), 4, 471-82.
—Structural semantics and poetics. *Centrum* (1973), 1, 5-22.
—Strucuralist poetics: Structuralism, linguistics and the study of literature. *London*: *Routledge & Kegan Paul* (1975).
DAICHES, D. Critical approaches to literature. *London*: *Longmans* (1956).
DE, S. K. Some problems of Sanskrit poetics. *Calcutta*: *Firma* (1959).
—History of Sanskrit poetics. *Calcutta*: *Firma* (1960).
—Sanskrit poetics as a study of aesthetics. *Berkley & Los Angeles*: *University Press* (1963).
(ed.), —The Vakrokti-Jivita. *Calcutta*: *Luzac & Co.* (1928).
DIJK, TEUN A VAN. Some problems of generative poetics. *Poetics* (1971), 2, 5-35.
—Foundation for a typology of texts. *Semiotics* (1972), 4, 298-324.
—On the foundations of poetics. *Poetics* (1972), 5, 89-123.
—Some aspects of Text Grammar. *The Hague*: *Mouton* (1972).
DOLEZHEL, L. The Prague school and the statistical theory of poetic language. *Prague Studies in Mathematical Linguistics* (1967), 2, 97-104.
DOLEZHEL, LAND R.W. BAILEY (eds). Statistics and style. *New York*: *American Elsevier* (1969).
DOUBROVSKY, S. The New Criticism in France (trans. D. Coltman). *London*: *University of Chicago Press* (1973).
DOUGHTY, P.S. Linguistics and the teaching of literature. *London*: *Longmans* (1968).
DWIVEDI, R. C. (ed.), Kavya Prakash or the poetic light. *Delhi*: *Motilal Banarasidas* (1966).
(ed.),—Principles of literary criticism in Sanskrit. *Delhi*: *Motilal Banarasidas* (1969).
EMPSON, W., Seven types of ambiguity. *Penguin* (1961).
ENKVIST, N.E. Linguistic stylistics. *The Hague*: *Mouton* (1973).
ENKVIST, N. E., J. SPENCER and M. GREGORY, Linguistics and

style. *London: Oxford University Press* (1964).
ERLICH, V. Russian Formalism: History-doctrine. *The Hague: Mouton* (1969).
FIRBAS, JAN. On defining the theme in functional sentence analysis. *Travaux linguistiques de Prague* (1964), 2, 239-56.
FODOR, J. and J. KATZ (ed.), The structure of language: readings in the philosophy of language. *Prentice-Hall: Englewood Cliffs, N. J.* (1964).
FOWLER, R. (ed.), Essays on style and language. *Landon: Routledge & Kegan Paul* (1966).
—The languages of literature. *London: Routledge & Kegan Paul* (1971).
—Style and structure in literature. *Oxford Blackwell* (1975).
—Linguistics and the novel (1977), *London: Methusen & Co.*
FREEMAN, D. (ed.), Linguistics and literary style. *New York: Holt Rinehart* (1970).
GAL'PERIN, I.R. An essay in stylistic analysis. *Moscow* (1968).
—Some principal issues of style and stylistics as viewed by Russian linguists. *Style* (1971), 5: 1-20.
—Stylistics. *Moscow* (1971).
GARVIN, P. (ed.), A Prague school reader on esthetics, literary structure and style. *Washington: Georgetown University Press* (1964).
—On linguistic method. *The Hague. Mouton* (1964).
GENUNG, J.F. The working principles of rhetoric. *Boston: Ginn & Company* (1900).
GINZBURG, R. On some trends in stylistic research. *Style* (1969), 3: 73-90.
GOODMAN, N. The languages of art. *London: Oxford University Press* (1969).
GOODMAN, P. The structure of literature. *Chicago: University Press* (1954).
GRAY, B., Style—the problem and its solution. *The Hague, Mouton* (1969).
GREIMAS, A. J., Se'mantique structurale. *Paris: Larousse* (1966).
—(ed.), Sign, language, culture. *The Hague Mouton:* (1970).
GUIRAND, P. Semiology. *London: Routledge and Kegan Paul.* (1975).
HALLIDAY, M.A.K., Explorations in the functions of language. *London: Edwin Arnold Ltd.* (1973).
—Language as social semiotic. *London: Edwin Arnold* (1978).
HALLIDAY, M. A. K. and R. HASAN, Cohesion in English.

London: Longman, (1976).
HARRIS, ZELLIG, S., Discourse analysis. *Language* (1952). 28, 1-30.
—String analysis of sentence structure. *The Hague: Mouton* (1962).
HARTMAN, G. Beyond formalism. *New Haven: Yale University Press* (1970).
HASAN, R. Linguistics and the study of literary texts, *Etudes de Linguistique Appliquee* (1967), 5, 106-21.
—Grammatical cohesion in spoken and written English. *London: Longman* (1968).
HAWKES, T. Structuralism and semiotics. *London: Methuen & Co.* (1977).
HENDRICKS, W.O. On the notion 'Beyond the Sentence,' *Linguistics* (1967), 37, 12-51.
—Folklore and the structural analysis of literary texts. *Language and Style* (1970), 3, 83-121.
—The structural analysis of narration, *Poetics* (1972), 3, 100-23.
—Eassy on semiolinguistics and Verbal art, *The Hague: Mouton* (1973).
HERNADI. P. Beyond genre: new directions in literary classifications, *Cornwell: University Press* (1972).
HILL, A. A., Pippa's song: two attempts at structural criticism, *Studies in English, University of Texas* (1956), 35, 51-56.
—Poetry and stylistics, *in Chatman and Levin (eds)* (1972), 385-397.
—The locus of the literary work, *English studies Today* (1964), 3, 41-50.
HJELMSLEV, L. and H. J. ULDALL, Outline of glossematics. *TCLP* (1957), *XI. Copenhague.*
HOCKETT, C.F., A course in modern linguistics. *New York: Macmillan* (1958).
HOUGH, G., Style and stylistics. *London: Routledge & Kegan Paul* (1969).
INGARDEN, R., Artistic and aesthetic value. *The British Journal of Aesthetics* 4, 198-213 (1964).
JACOBS, RODERICK A., Focus and presupposition: transformations and meaning. *College Compositions and Communications* (1969), 20, 187-90.
JAKOBOVITS, LEON A., Rhetoric and stylistics: Some basic analysis in the discourse. *College Compositions and Communications* (1969), 20, 314-28.

JAKOBSON, R. Linguistics and poetics. *in* Sebeok (ed.) (1960), 350-77.
—Poetry of grammar and grammar of poetry. *Lingua* (1968), 21, 597-60.
—On the verbal art of William Blake and other poet-painters. *Linguistic Enquiry* (1970), 1, 3-23.
JAKOBSON, R. and L. JONES, Shakespeare's verbal art in 'Th' Expence of spirit. *The Hague*: *Mouton* (1970).
JUNG, C. J. Contributions to analytic philosophy. (trans. by H.G. and Cary F. Bayres), *London* (1945).
KACHRU, BRAJ B. and H.F.W. STAHLKE (eds.), Current trends in Stylistics. Edmonton, *Alberta*: *Linguistic Research. Inc.* (1972),
KATZ, J., Semi-sentences, *in* Fodor and Katz (ed.) (1964), 400-416.
KUNJUNNI RAJA, K. Indian theories of meaning *Madras*: *Adyor Library Series* (1963).
KELKAR, A.R. The being of a poem. *Foundations of Language* (1969), 5, 17-23.
—On aesthesis. *Humanist Review* (1969), 2, 211-228.
—Some notes on language and literature. *Indian Linguistics* (1970), 31, 69-79.
KOCH, W.A. Recurrence and a three model approach to poetry. *The Hague*: *Mouton* (1966).
—Problems in the hierarchization of text structures. *Orbis*, (1978), 17, 309-42.
KRIEGER, M. A window to criticism. *Princeton* (1964).
LANGER, SUSANNE, K., Feeling and form. *London*: *Routledge & Kegan Paul* (1953).
—Problems of art. *London*: *Routledge & Kegan Paul* (1956).
LANE, M. (ed.), Structuralism: a reader, (1970), *London*: *Cape*.
LEECH, E., Genesis as myth and other essays. *London*: *Cape* (1969).
—Levi-strauss, *London*: *Fontana* (1970).
LEECH, GEOFFREY, N. English in advertising. *London*: *Longmans* (1966).
—A linguistic guide to English poetry. *London*: *Long-mans* (1969).
—The linguistic and the literary. *Times Literary Supplement* (1970), 3569.
LEMON, L. T. and M. J. REIS (eds.) Russian, formalist criticism. *Nebraska*: *University Press* (1965).
LEVIN, SAMUEL, R. Linguistic structures in poetry. *The Hague*: *Mouton* (1962).
—Deviation—statistical and determinate-ipoetic language. *Lingua* (1963), 12, 276-90.
—Internal and external deviation in poetry. *Word* (1965), 21, 225-237.
LODGE, D. Language of fiction-essays in criticism and verbal analysis of the English novel. *London*: *Routledge & Kegan Paul* (1966).
LOVE, G. A. and M. PAYNE (eds.), Contemporary essays on style. *Illinois*: *Scott, 9 Foresman & Co.* (1969).
LYONS, J. (ed.), New horizons in linguistics. *Penguin* (1970).
MARTIN, HAROLD C. (ed.), Style in prose fiction—English institute essays. *New York-London*: *Columbia University Press* (1958).
MATEJKA, L. and K. POMORSKA (eds.), Readings in Russian poetics—formalist and structuralist views. *Camb, Mass*: *MIT Press* (1971).
MESSING, G. The impact of transformational grammar upon stylistic and literary analysis. *Linguistics* (1971) 66, 56-73.
MERZHKOVSKY, D.S. Dostoevsky and Tolstoy, *in* Russian Literature and Modern English Fiction, ed. by Donald Davie, *Chicago-London* (1965).
MILES, J. Eras and modes in English poetry. *Berkeley*; *University Press* (1964).
—The Continuity of poetic language. *New York*: *Octagon Books Inc.* (1965).
—Style and proportion—the language of prose and poetry. *Boston*: *Little Brown* (1967).
MORGAN, JAMES O. English structure above the sentence level. *Monograph series on languages and linguistics* (1967), 20, 123-32.
MOOIJ, J.J.A., Tenor, vehicle and reference. *Poetics* (1975) 4, 257-272.
MUKAROVSKY, JAN. Standard language and poetic language, *in* Prague School Reader on Esthetics, Literary Structure and style, ed. by Paul L. Garsin, *Georgetown University* (1932).
NAGENDRA (ed.) Tulasidasa: his mind and art. *Delhi*: *National* (1977).
—Comparative Literature. *Delhi*: *University Press* (1977).
—Surdasa: his mind and art. *Delhi*: *Bahri Publications* (1978).
NOWAKOWASKA, N. Language of poetry and generative grammar. *Poznan* (1977).
NOWOTTNY, W. The language poets use. *London*: *The Athlone Press* (1962).

OHMAN, R., Generative grammar and the concept of style. *world* (1964), 20, 423-39.
—Literature as sentences. *College English* (1966), 27, 261-67.
OLSEN S. H. The structure of literary understanding. *Cambridge*: *University Press* (1978).
OSBORNE, H. (ed.), Aesthetics. *London*: *Oxford University Press* (1972).
PIKE, K. Discourse analysis and tagmemic matrices. *Oceanic Linguistics* (1964), 3, 5-25.
PEPPER, STEPHEN C. Aesthetic quality: a contextual theory of beauty. *New York: Charles Scribner's Sons* (1938).
POMORSKA, K. Russian formalist theory and its poetic ambience. *The Hague*: *Mouton* (1968).
PRATT, M. L. Towards a speech act theory of literary discourse. *Indiana University Press* (1977).
PROPP, V. Morphology of the folktale (2nd. ed.). *Austin*: *University of Texas Press* (1968).
QUIRK, R and A.H. SMITH. The teaching of English (1959) (eds.), *London*: *Oxford University Press.*
RANSOM, J.C. The World's body. *New York*: *Charles Scribner's Sons* (1938).
—The new criticism. *Norfolk Connecticent* (1941).
RICHARDS, I. A. Principles of literary criticism. *London*: *Routledge & Kegan Paul* (1925).
—Practical criticism. *London*: *Routledge & Kegan Paul.* (1929).
—Jakobsons Shakespeare—the subliminal structures of a Sonnet. *Times Literary Supplement*, (1970), 3561, 589-90.
REINHART, T. On understanding poetic metaphor. *Poetics* (1976), 5, 5, 383-402.
RIFFATERRE, M., Criteria for style analysis. *Word* (1959), 15, 154-74.
—Stylistic function. *Proceed for the IXth International Congress of Linguists. The Hague*: *Mouton* (1960).
SAPORTA, S. The application of linguistics to the study of poetic language. *in* Sebeok (1960), 82-93.
SAJKEVICH, A. J. Oypt statisticeskogo vydelemija functional 'nyx stilej (An attempt at the statistical determination of functional styles). *Voprosy jazykoznanija* (1968), 7, 64-76.
SAYCE, R. A. Style in French prose. *Oxford*: *Basil Blackwell* (1953).
SCHLAUCH, M., Linguistic aspects of Emily Dickinson style. *Prace Filologiezne* (1963) XVIII 201-15.

SCHOLES, R. Structuralism in literature—an introduction. *London*: *Yale University Press* (1974).
SEARLE, J. Speech acts. *Cambridge University Press* (1969).
SEBEOK, T. (ed.), Style in language. *Cambridge MIT Press* (1960).
—Approaches to Semiotics. *The Hague*: *Mouton* (1964).
SEGRE, C. Structuralism in Italy. *Semiotica* (1971), 4, 215-39.
—Semiotics and literary criticism. *The Hague Mouton*: (1973).
SINCLAIR. J. M. A technique of stylistic description, *Language and Style* (1968) 1, 215-42.
SHAPIRO, K. A primer for poets. *Lincoln*: *University of Nebraska* (1953).
SHKLOVSKY, V. Art as a technique. *in* Lemon & Reis (eds.) (1965) 3-24.
—The mystery novel; Dickens' *Little Dorrit* in Matejka & Pomorska (eds.) (1971) 220-6.
—The connection between devices of Syuzet construction and general stylistic devices. *Twentieth Century Studies* (1972), 7-8, 48-72.
SLONIM. M. An outline of Russian literature. *New York*: *Oxford University Press* (1959).
SPITZER, L. Linguistics and literary history-essays in Stylistics. *Princeton*: *University Press* (1948).
SRIVASTAVA, R.N. Discursive and poetic language. *NIE Journal* (1971) 29-34.
—Lingua-aesthetic approach to art symbol. *Indian Philosophical Congress* (1975).
—Challenges to poetic theories. *Indian Journal of Applied Lingnistics* (1975), I, 1-11.
—Rhetoric devices in Ramacharita Manasa, *in* Nagendra (ed.) (1977), 251-72.
—Some methodological pre-requisites of comparative literature, *in* Nagendra (ed.) (1977), 84-97.
—Lyrical genius of Surdasa, *in* Nagendra (ed.) (1978), 40-49.
—Linguistic perspective to the study of social meaning. *Papers in Linguistic Analysis* (1978), 2, 1-18.
STANKIEWICZ, E. Linguistics and the study of poetic language. *in* Sebeok (1960), 69-81.
TATE, ALLEN, Collected Essays (1959).
THORNE, J. P. Stylistics and generative grammar. *Journal of Linguistics* (1965), 49-59.

—Poetry, Stylistics and imaginary grammar. *Journal of Linguistics* (1969), 5, 147-50.
—Generative grammars and stylistic analysis. *in* Lyons (ed.) (1970).
TODOROV, T. Structural analysis of narrative. *Novel* (1969) 3, 70-76.
—Velery's poetics. *Yale French Studies* (1970), 44, 65-71.
—Meaning in literature. *Poetics* (1971), 1, 8-15.
TOMASHEVSKY, B. Thematics. *in* Lemon & Reis (eds.), (1965), 61-95.
TOYNBEE, A. A study of history. Vol. 1, *Oxford* (1945).
TURNER, G. W. Stylistics. *Penguin* (1973).
UITTI, K. Linguistics and literary theory. *Englewood: Prentice, Hall* (1969).
ULLMAN, S. Language and style. *Oxford: Basil Blackwell* 1964.
—Style in the French novel. *London: Cambridge University Press* (1964).
—Meaning and style, *Oxford: Basil Blackwell* (1973).
USPENSKY, B. A. A poetics of composition. *Berkley and Los Angeles: University of California Press* (1973).
VACHEK, J. The linguistic school of Prague. *Bloomington: Indiana University Press* (1966).
VERMA, S. K. Topicalization as a stylistic mechanism. *Poetics* (1976), 5.
—Remarks on thematization. *Archirum Linguisticum* (1976) 7.
VIVAS, E. Creation and discovery. *Chicago: Henry Regnery* (1955)
VOEGELIN, C.F. Causal and non-causal utterances within unified structures, *in* Sebeok (1960) 57-68.
VOLOVINOV, V. N. Marxism and the philosophy of language. *New York: Seminar Press* (1973).
WELLEK, R. From the viewpoint of literary criticism, *in* Scbeok (1960), 408-20.
WELLEK, R. and A. WARREN, Theory of literature. *New York: Harcourt & Brace* (1949).
WERTH, P. Roman Jakobson's verbal analysis of poetry. *Journal of Lingnistics* (1976), 12-21-73.
WETHERILL, P. M. The literary text: an examination of critical methods. *Oxford: Basil Blackwell* (1974).
WHEELRIGHT, P. Metaphor and reality. *Bloomington; Indiana University Press* (1962).
WHITEHALL, H. From linguistics to poetry, *English Institute Essays* 134-45, *New York: Columbia Press* (1957).

WIDDOWSON, H.S. Stylistics and the teaching of literature. *London* (1974).
—Stylistic analysis and literary interpretation. *The Use of English* (1972), 24, 28-33.
WILDEN, A. The language of the self. *Baltimore: Johns. Hopkins Press* (1968).
WIMSATT, W.K. The prose style of Samuel Johnson. *New Haven: Yale University Press* (1941).
—The verbal icon. *Kent: University of Kentucky Press* (1954).
—The concept of meter: an exercise in abstraction *PMLA* (1959), 589-98.
YULE, G. V. The Statistical study of literary vocabulary. *Cambridge: University Press* (1944).
ZOOLKOVSKY, A. K. and YU. K. SCHEGLOV, Generating the literary text. *Essex University Press* (1975).

अज्ञेय : आत्मनेपद, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ (१९६०)।

अज्ञेय (सम्पा०) : तारसप्तक (पहला), दिल्ली : प्रतीक (१९४३)।
—दूसरा सप्तक, दिल्ली : प्रगति प्रकाशन (१९५१)।
—तीसरा सप्तक, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ (१९५९)।

एमेन्यू, ए० बी० : 'भारत और भाषाविज्ञान' संक० 'भारतीय अर्थविज्ञान की भूमिका' (सम्पा०), तिवारी, चतुर्वेदी एवं सिंह (१९७२) ४५५-७८, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

किरणबाला : तुलसी की भाषा का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, दिल्ली : अलंकार प्रकाशन (१९७८)।

कुमार, सुरेश : शैलीविज्ञान, दिल्ली : मैकमिलन (१९७७)।
—शैलीविज्ञान और प्रेमचन्द की भाषा, दिल्ली : मैकमिलन (१९७८)।

कुमार, सुरेश और रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (सम्पा०) : शैली और शैलीविज्ञान, आगरा : केन्द्रीय हिन्दी संस्थान (१९७६)।

कोझिनोव, व० : क्या संघटनात्मक काव्यशास्त्र संभव है ? **साहित्यिक समस्याएँ** (रूसी में) (१९६५) ६, ८२-१०७।

गुप्त, गणपतिचन्द्र : साहित्य की शैली, चण्डीगढ़ : भारतेन्दु भवन (१९६४)।

चतुर्वेदी, रामस्वरूप : भाषा और संवेदना, वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ (१९६४)।
—मध्यकालीन हिन्दी काव्य भाषा, इलाहाबाद : लोकभारती (१९७४)।

चिर्कोव, न०म० : दास्तायेव्स्की का शिल्प कौशल, मास्को (रूसी में) (१९६४)।

क्षिरमुन्स्की, वि० : काव्यशास्त्र की समस्याएँ, सं० साहित्य सिद्धान्त की समस्याएँ, लेनिनग्राद (रूसी में) (१९२८)।
—गेटे और बायरन की काव्य रचना, मास्को में आयोजित साहित्यिक

रचना के शैली-सम्बन्धी सम्मेलन में पढ़ा गया शोधलेख (१९६१) (रूसी में)।

तिवारी, भोलानाथ: शैलीविज्ञान, दिल्ली : शब्दकार (१९७७)।

तोपोरोव, व०न० : भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र (याकोब्सन) की समीक्षा, रूपवादी (**टाइपोलॉजिकिल**) **विश्लेषण**, २६४-६६, मास्को (१९६२)।

त्रिपाठी, करुणापति: शैली, बनारस: साहित्य ग्रंथ माला (१९९८ सं०)।

त्रिपाठी, राममूर्ति : व्यंजना और नवीन कविता, काशी : नागरी प्रचारिणी सभा (१९५७)।

त्रिपाठी, रामसुरेश : संस्कृत व्याकरण दर्शन, दिल्ली : राजकमल (१९७२)।

नगेंद्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, दिल्ली : नेशनल (द्वितीय संस्करण) (१९६३)।

—रस सिद्धान्त, दिल्ली : नेशनल (१९६४)।

—नयी समीक्षा : नये सन्दर्भ, दिल्ली : नेशनल (१९७०)।

—शैलीविज्ञान, दिल्ली : नेशनल (१९७६)।

प्रसाद, रामचन्द्र : शैली, पटना : हिन्दी ग्रंथ अकादमी (१९७३)।

फ्रिडलैण्डर, ग० म० : दास्तायेव्स्की का यथार्थवाद, मास्को-लेनिनग्राद (रूसी में) (१९६४)।

मिश्र, विद्यानिवास : क, रीतिविज्ञान, दिल्ली: राधाकृष्ण (१९७३)।

—ख, पाणिनीय भाषादर्शन और भारतीय चिन्तन (अप्रकाशित) (१९७३)।

येर्मिलोव, वी० : दास्तायेव्स्की, मास्को (रूसी में)।

रघुवंश : संस्कृत काव्यशास्त्र और संरचनात्मक पद्धति, **आलोचना** (१९६७), ३९। ५४-५९।

रेव्जिन, ई० : कलात्मक रचनाओं के संघटनात्मक अध्ययन के लक्ष्य, **साहित्यिक समस्याएँ** ६। ७३-८७ (रूसी में) (१९६५)।

वाजपेयी, नन्ददुलारे : नया साहित्य : नये प्रश्न, वाराणसी : विद्यामन्दिर (द्वितीय संस्करण) (१९५९)।

विनोकुर, ग० ओ० : रूसी भाषा-सम्बन्धी लेखों का संकलन, माको (रूसी में) (१९५९)।

विनोग्रादोव, वि० : शब्द और बिम्ब सम्बन्धी विवाद, **साहित्यिक समस्याएँ** (रूसी में) (१९६०)।

—शैली विज्ञान—काव्यशास्त्र के सिद्धान्त—काव्यशास्त्र, मास्को (रूसी में) (१९६३)।

शर्मा, कृष्णकुमार : शैलीविज्ञान की रूपरेखा, जयपुर-उदयपुर : संधी प्रकाशन (१९७४)।

—गद्य संरचना : शैलीवैज्ञानिक विवेचन, जयपुर-यपुर : संधी प्रकाशन (१९७५)।

—शैलीवैज्ञानिक आलोचना के प्रतिदर्श, जयपुर-उदयपुर : संधी प्रकाशन (१९७८)।

—भारतीय काव्यशास्त्र : शैलीवैज्ञानिक संदृष्टि, इलाहाबाद : अभिनव भारती (१९७८)।

शीतांशु, शशिभूषण : निराला का अलक्षित अर्थगौरव, इलाहाबाद : सरस्वती प्रेस (१९७६)।

शुक्ल, रामचन्द्र : रस-मीमांसा, काशी : नागरी प्रचारिणी सभा (२०११ सं०) (द्वितीय संस्करण)।

श्लोव्स्की, व० : कला : प्रविधि की दृष्टि से : मास्को (रूसी में) (१९१९)।

—साहित्य और सिनेमा : बर्लिन (जर्मन में) (१९२३)।

श्रीवास्तव, परमानन्द : उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा, दिल्ली : नेशनल (१९७६)।

श्रीवास्तव, रवीन्द्र नाथ : प्रगतिशील आलोचना, इलाहाबाद : साहित्य भवन (१९६२)।

—क. साहित्य विश्लेषण का संघटनात्मक दृष्टिकोण, **आलोचना** ३८, ६९-८० (१९६७)।

—ख. भाषा वैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नई भूमिका, **आलोचना**, ३९, ६०-६८ (१९६७)।

—काव्यभाषा और शैलीविज्ञान, आलोचना ४२, ११-२० (१९६८)।

—नयी समीक्षा की भाषावादी चेतना, आलोचना ३०, ६४-७८ (१९७४)।

—क. शैलीविज्ञान और काव्यविश्लेषण, सं० शैली और शैलीविज्ञान (सं० कुमार और श्रीवास्तव), ११३-२४, आगरा : केन्द्रीय हिन्दी संस्थान (१९७६)।

—ख. वक्रोक्ति की संकल्पना, सं० भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन (सं० मिश्र एवं अन्य), जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी (१९७६)।

—ग. भारतीय काव्यशास्त्र और शैलीविज्ञान, सं० डा० नगेन्द्र अभिनन्दन ग्रंथावली। दिल्ली : नेशनल (१९७६)।

—क. काव्य विश्लेषण और जीवन मर्म : **परिशीलन** ४२, ४९-५४ (१९७७)।

—ख. काव्यसंसार और शैलीविज्ञान, **आलोचना** ४२, ४९-५४ (१९७७)।

—ग. संसर्गगत काव्यसंसार, **आलोचना** ४३, २१-३२ (१९७७)।

—घ. शाब्दिक सौन्दर्य, काव्यवस्तु और शैलीविज्ञान, **आलोचना** ४४, ४३-४५ (१९७७)।

—भाषा का आधुनिकीकरण : अनुवाद का संस्कार और दबाव, **आलोचना** ४५, ८-१६ (१९७८)।

सिंह, नामवर : कविता के नये प्रतिमान, दिल्ली : राजकमल, (१९६८)।

सिंह, बच्चन : शैलीविज्ञान और आलोचना, **आलोचना** ३०, ५-१०।

परिशिष्ट–२

पारिभाषिक शब्दावली

अन्तः एकक inter-unit
अन्तर्ज्ञान intuition
अन्तर्निष्ठ intrinsic
अन्तर्वैयक्तिक inter-subjective
अन्तरा-एकक intra-unit
अक्ष axis
अग्रगामिता fore-grounding
अतिक्रमdeviation
अतियथार्थवाद surrealism
अधस्तल sub-statum
अधिभाषात्मक meta-lingual
अधिवाक्य supra-sentence
अनुमेय predictable
अनुशासन discipline
अनेकार्थी polysemous
अन्वयान्तर paraphrase
अभिकरण agency
अभिज्ञेयार्थ denotation
अभिप्रेत intentional
अभिलक्षण feature
अभिलक्षण-गुच्छ feature complex
अभिविन्यास orientation
अभिव्यक्ति signifier; expression
अभिव्यक्तिपरक expressive
अमूर्तabstract
अमूर्तीकरण abstraction
अर्थ meaning; sense;import
अर्थवत्ता signification
अर्थविज्ञान semantics
अर्थिम sememe

अर्धवाक्य semi-sentence
अवग्रहणावस्था stage of existence
अवधारणावस्था stage of insistence
अविकल्पवत invariant
अव्यवहित immediate
असीम infinite

आंगिकता organicity
आत्यन्तिक terminal
आधानावस्था stage of subsistence
आभ्यन्तर संरचना deep structure
आवृत्ति frequency
आश्रित subordinate
आस्वाद्यवस्तु aesthetic object
आस्वाद्यवस्तु-मीमांसा aesthetics

उच्चार utterance
उदृक्तता redundancy
ऊर्ध्वस्तरीय vertical

ऐन्द्रिक tactile; sensuous

कथा कथन story telling
कथ्य signified; content
कलात्मक aesthetic; artistic
कलावस्तु art object
कलाशास्त्र aesthetics
काल tense
काव्यपरक poetic
काव्यशास्त्र poetics

केन्द्रक locus; nucleus

क्षमता competence

गठन texture
गतिकी dynamics
गत्यात्मक dynamic
गुणवाचकता attribute

चयन selection

तर्कपरक logical
तुल्यार्थक equivalence

दृष्टिशैली style of mind
द्वैतवाद dualism

नियम निर्देशात्मक prescriptive
निर्देशपरक conative
निर्देशी deictic
निर्देशी तत्त्व deixis

पक्ष aspect
पक्षपद (1) seme (2) rheme
परिसंपुटन encasement
पर्याय synonym
पर्यायवाची synonymous
पाठ text
पाठविश्लेषण texual analysis
पाठव्याकरण text grammer
पूरक complimentation
पेशवन्दी fore-grounding
प्रकर्ता actant
प्रकरण topic
प्रकार्य function
प्रजनक generative
प्रतिज्ञप्ति proposition
प्रतिपाद्य theme
प्रतिमा archetype
प्रतिमान norm
प्रणाली method
प्रतिरूपात्मक representational
प्रतीक sign; symbol
प्रतीकन signification
प्रतीकवाद symbolism
प्रतीकविज्ञान semiotic; semiology
प्रयोजन function
प्रारूप model
प्रावृत्त encapsulation
प्रेक्षणीय observable
प्रोक्ति discourse
प्रत्यय concept
प्रस्तुतीकरण presentation

फलन function

बद्ध bound
बन्धक frame
बहिर्निष्ठ extrinsic
बाह्य संरचना surface structure
बुनावट texture
बोधात्मक cognitive

भावगत subjective
भावात्मक emotive
भूमिका role

मानवीकरण personification
मुक्त free

यति cesura
यादृच्छिक orbitrary

रूप (1) form (2) morph
रूपाकार structural form
रूपावली paradigm
रूपिम morpheme
रूपिमविज्ञान morphology

वक्ता addressor
वक्तृत्व elocution
वस्तुगत objective
वाक्यविज्ञान syntax
वाग्मिता rhetoric
वाचक signifier
वाच्य (1) signified (2) voice
वाच्यार्थ denotation
विकल्पन variation; alternation
विकल्पवत् variant
विचलन deviation
विधा genera
विधि mood
विधेय predicate
विन्यासक्रमी syntagmatic
विभेद differential
विरोध paradox
विरोधाभास oxymoron
विशेषण विपर्यय transferred epithet
विषमरूपी heterogeneous
विषयवस्तु subject-matter
वृत्तिवाचकता modality
व्यंग्य irony
व्यंग्यार्थ conotation
व्यवहित mediate; non-contiguous
व्यष्टिपरक संरचना micro-structure
व्याकरणिकता grammaticality
व्याकृति comment

शाब्दिक verbal; lexical
शाब्दिक कला verbal art
शाब्दिक प्रतीक linguistic symbol
शैली style
शैलीचिह्नक style marker
शैलीविज्ञान stylistics
श्रुतिपरम्परा oral tradition
श्रोता addressor

संक्रियात्मक operational
संकेतक signifier
संकेतन signification
संकेतपरक referential
संकेतार्थ reference
संकेतित signified
संगतिनिष्ठ organic
संघटक constituent
संघटन composition; contagion
संघटना structure
संदिग्धार्थता ambiguity
संदर्भपरक contextual
संदेश message
संधृत sustained
संपर्कपरक phatic
संपृक्तार्थ conotative
संप्रेषण communication
संबोधन गीत ode
संभावना potential
संरचना structure
संरचनात्मक structural
संसर्ग associative
संसक्ति cohesion
सजातीय homologous
सन्निधि contiguity
समरूपी homogeneous
समसम्बन्ध co-relation
समस्तरीय horizontal

समष्टिपरक macro-structure	सीमित finite
समानाधिकरण co-ordination	सुगठित well formed
समनाधिकरणिक co-ordinative equational	सुभाषित epigram
	सूचना information
समानान्तरता parrellelism	सोपानिक hierarchical
सरणि channel	सौन्दर्यशास्त्र aesthetics
सहकर्तृक acteur	स्थिति सन्दर्भ content of situation
सहचारक्रमी paradigmatic	स्थिर static
सहरूप allomorph	स्वन phone
सहकर्मी co-member	स्वनिम phoneme
सहसर्जनात्मक co-creative	स्वनिम विज्ञान phonology
सहस्वन allophone	स्वनिष्ठ autonomous
सांख्यकीय statistical	स्वायत्त autonomous
साकल्य whole	स्वायत्तता autonomy
सावयव organic	स्वीकार्यता acceptability
साहचर्य समष्टि associative total	हेत्वाभास fallacy

•••

Indian Institute of Advanced Study Shimla
प्राप्ति संख्या Accession No. 66527
Date 9.12.85

रूपक प्रिंटर्स, दिल्ली-३२; में मुद्रित।